मंखक के श्रीकण्ठचरितम् का साहित्यिक अध्ययन

[इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डि० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत]

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री
रमा देवी

निर्देशिका
डा० श्रीमती मृदुला त्रिपाठी
रीडर, संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
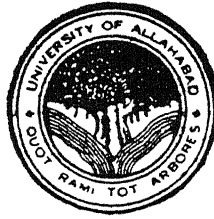
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
१९९५

प्राक्कथन

पैतृक सम्पत्ति के रूप में जन्म से ही संस्कृत भाषा के प्रति सस्कार तथा स्नेह का बीजांकुरण हुआ । इस प्रकार आनुवंशिक परम्परा से प्राप्त संस्कृत भाषा के प्रति ही मेरे संस्कृताध्ययन का मूलस्रोत बनी । मेरे माता--पिता जी परम् शिव भक्त है अतएव मुझे शिव भक्ति से प्रेरित होकर "शिवकथापरक" ग्रन्थ पर शोध करना रूचिकर लगा ।

मेरे शोध कार्य का विषय "मंखक के "श्रीकण्ठचरितम्" का साहित्यिक अध्ययन" रहा है । इस विषय में आध्यात्मिकता का प्राधान्य है । जगत् के मूल सत्य को जानना ही आध्यात्मिकता का उद्देश्य है । प्रस्तुत शोध विषय मेरी अभिरूचि के सर्वथा अनुकूल रहा ।

महाकवि मङ्खक के जीवन – चरित्र से मैं विशेष रूप से प्रभावित हुई हूँ मङ्खक ने 25 वर्षों तक विद्याध्ययन करने के पश्चात अपनी प्रथम कृति "श्रीकण्ठ--चरितम्" की रचना की । स्वाग्रज अलंकार "लंकक" की पण्डित सभा में "श्रीकण्ठचरितम्" का परीक्षण हुआ । मङ्खक ने अपने स्वकवित्व से सभी विद्वदजनों को सन्तुष्ट किया उसके बाद 1127–1149 ई0 तक कश्मीर के महाराजा जयसिंह के शासन काल में 22 वर्ष राजमन्त्री के पद पर रहे । इस बीच उन्होंने "मङ्खकोश" लिखा अपने इन ग्रन्थों स्वोदान्त चरित्र, राजमन्त्रित्व तथा जीवन के अन्तिम काल में अपनी जन्म भूमि प्रवरपुर में बनवाये गये मन्दिर – धर्मशालादि के कारण काश्मीर की जनता ने अपने इस सहृदय राजमन्त्री का सच्चे हृदय से सम्मान किया । इस सम्मान के द्योतक है उनके "कर्णिकार मङ्ख" और "राजराजानक" पद । निःसन्देह महाकवि मङ्खक ने स्पृहणीय सफल जीवन पाया था ।

कवि ने अपने विशुद्ध पौराणिक अध्ययन की आधारशिला पर ही इस महाकाव्य को रचा था । उन्होंने "त्रिपुरवध" के पौराणिक कथानक को महाकाव्य का स्वरूप प्रदान

करते सयम, महाकाव्य की शास्त्रीय रूपरेखा के निष्पादनार्थ, महाकाव्य के अड्.गभूत चन्द्र, चन्द्रोदय, जलकेलि, बसन्त एवं प्रभातादि वर्णन बढ़ा दिये हैं, और दो–तीन साधारण परिर्वतन कर कथानक मौलिक एवं रसपूर्ण बना दिया ।

"श्रीकण्ठचरितम्" के वर्तमान उपलब्ध काव्यमाला संस्करण में इसके टीकाकार श्री जोनराज भी काश्मीरी हैं । "श्रीकण्ठचरितम्" की अपनी टीका में जोनराज ने दो–तीन स्थलों पर "आयानमश्वास्तुम्ब इति केचितदासमदेति "पंदमसंगतम्"[1] तथा अन्यत्र भी "इतिकेचित्[2] लिखा है । इससे ज्ञात होता है कि जोनराज की टीका के पूर्व भी "श्रीकण्ठचरितम्" की एक–दो टीकाएं लिखी गई थी । दुर्भाग्यवश आज उनमें से किसी का भी पता तक नहीं चलता । जोनराज की टीका अत्यन्त सूक्ष्म और सारग्राहिणी है । कहीं–कहीं तो मात्र एक पंक्ति में ही श्लोक का सार–भर दे दिया है । फिर भी इस श्लेष एवं उत्प्रेक्षा प्रधान महाकाव्य का इस टीका के बिना यत्किंचित भी रसास्वादन कर पाना अत्यन्त कठिन था इस टीका ने काव्यगत ग्रन्थियों को खोलकर शिवभक्ति रस को सरस और सर्वपेय बनाकर सहृदय जगत् का बड़ा परोपकार किया है । टीकाकार जोनराज ने स्थल–स्थल पर कुछ प्रमाणिक तथ्य भी स्पष्ट किये हैं । कुछ ज्ञातव्य विषय भी उद्घाटित किये हैं । काश्मीर के स्थानों तथा "हसन्तिका" जैसे स्थानीय शब्दों का भी स्पष्ट सड्.केत किया है । अनेको स्थलों पर टीकाकार ने मूल में बहुमूल्य शुद्धियॉ दर्शायी हैं । इन सबके लिए साहित्यिक जगत् "श्रीकण्ठचरितम्" के टीकाकार श्री जोनराज का सदैव ऋणी रहेगा ।

इस कार्य में मेरी शोध–निर्देशिका परमादरणीया डॉ0 श्रीमती मृदुला त्रिपाठी जी ने मुझे जो सहयोग और सहायता प्रदान की वह वर्णनातीत है । उन्होंने समय–समय पर मुझे प्रोत्साहित करते हुए साहित्यशास्त्र की विविध जटिलताओं को सुलझाने में मेरी अपूर्व सहायता की है । उनके सहयोग के परिणामस्वरूप ही यह शोधकार्य पूर्ण हो सका है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 16/7
2. श्रीकण्ठ0 1/47, 9/33, 16/10, 17/5 /

संस्कृत के विभागाध्यक्ष गुरूवर्य डॉ0 सुरेश चन्द्र पाण्डेय जी ने मेरे शोधकार्य को गतिशील रखने में अपेक्षित सहायता दी है जिसके लिए मैं उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। शोधकार्य में आने वाली अनेक प्रकार की समस्याओं को दूर करने में डॉ0 हरि राम मिश्र ने मेरी अतीव सहायता की है । मैं उनकी प्रेरणा, प्रोत्साहन के लिए हार्दिक रूप से आभारी हूँ । मेरे समस्त गुरूजनों ने विशेषतः श्रद्धेय डॉ0 हरिशङ्कर त्रिपाठी ने समय-समय पर मुझे आशान्वित बनाकर , अशीष - सम्बल देकर कर्मशील बनाया और उसी मंगलमय अशीष का परिणाम है कि आज यह शोधकार्य सम्पन्न कर पा रही हूँ ।

मैं अपने माता-पिता श्रीमती रत्ना मिश्रा एवं श्री श्रीकृष्ण मिश्रकी अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने मुझे अनेक समस्याओ के होते हुए भी निरन्तर अध्ययनशील बनाये रखा ।

मै उन विचारकों तथा लेखकों के प्रति भी कृतज्ञ हूँ, जिनके ग्रन्थों और लेखों से मेरे विचारों को शक्ति प्राप्त हुई और प्रबन्ध-लेखन में सहायता मिली ।

अन्त में मैं श्री इम्तियाज़ अहमद, टाइपिस्ट, लकी ब्रदर्स, कटरा, इलाहाबाद के प्रति भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होने शोध-प्रबन्ध के टङ्कण मे शुद्धता और स्पष्टता का अधिकाधिक ध्यान रखते हुए अल्प समय में टङ्कणकार्य पूर्ण किया है ।

9.11.95

दिनाङ्कः

रमा देवी

(रमा देवी)

शोध प्रबन्ध की अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

महाकवि मंखक – एक सामान्य परिचय

द्वितीय अध्याय

संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों की परम्परा में "श्रीकण्ठचरितम्" का स्थान :–

तृतीय अध्याय

कथा वस्तु

पञ्चमः अध्याय

"श्रीकण्ठचरितम्" में प्रकृति चित्रण

षष्ठ अध्याय

अलङ्कार निरूपण

सप्तम अध्याय

रस निरूपण

xxxxxxxx xxxxxxxxx xxxxxxxx

भूमिका

कश्मीरी महाकवि मङ्खक की प्रसिद्ध रचना "श्रीकण्ठचरितम्" शिवपुराण पर आधारित ऐतिहासिक एवं पौराणिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । प्रस्तुत महाकाव्य के पच्चीस सर्गों में शिव के द्वारा दैत्य त्रिपुर के विनाश की पौराणिक कथा है । महाकवि मङ्खक के पिता विश्ववर्तन ने एक दिन मङ्खक को स्वप्न में उक्त काव्य की रचना का आदेश दिया फलतः अपने कैलासवासी पिता के आदेश से कवि ने "श्रीकण्ठचरितम्" का प्रणयन् किया । मङ्खक ने प्रस्तुत ग्रन्थ में राजा महाराजाओं की स्तुति न करके भक्ति--भावना से भगवान् श्रीकण्ठ का स्तवन् प्रस्तुत किया है । उद्देश्य के अनुरूप मूल कथानक त्रिपुरवध के एक प्रतीक पौराणिक कथानक को प्रबन्ध काव्य का स्परूप प्रदान करने में अपनी विद्वता एवं मौलिकता का परिचय दिया है । पौराणिक कथानक जैन बौद्ध धर्म के खण्डन से युक्त है । त्रिपुरों के विनाशार्थ उनकी सच्ची शिव भक्ति का भी पुराण में मायावी मुनि के द्वारा विष्णु ने नाश कराया । ये दोनों ही विकृतियाँ कवि ने समाप्त कर दी हैं । कवि ने त्रिपुरों को स्वर्ग आकाश भूमि में न बसाकर आकाश भूमि पाताल में बसाया । इससे स्वर्ण, राजत, आयस पुरों की सार्थकता, त्रिपुरों की समरेखता के अभाव में दुर्जेयता तथा शिव का उन्हें एक ही बाण से मार गिराने में महत्त्व अत्यधिक बढ़ जाता है ।

मङ्खक ने लगभग सभी पात्रों को परोक्ष वर्णनात्मक संसूच्य शैली में वर्णित किया है । प्रधान नायक शिव प्रस्तुत ग्रन्थ में यदाकदा अपनी झलक मात्र देकर अदृश्य हो जाते हैं । वसन्त शोभा दर्शन तथा देवसभा में वे कुछ देर तक प्रत्यक्ष उपस्थित रहे हैं । युद्ध भूमि में वे उपस्थित तो हैं पर सर्वथा अज्ञात स्थान तथा अवस्था में हैं त्रिपुर के एकत्र होने पर देवों का चक्षु संकेत पाकर शिव प्रकट होते है और एक ही बाण से त्रिपुर का विनाश करके पुनः परोक्ष हो जाते हैं । प्रतिनायक त्रिपुर तो सर्वत्र ही संसूच्य शैली में विद्यमान है । स्वरूपतः वे एक शब्द भी किसी से नही कहते । देवसभा में ब्रह्मा ने उनके दो–एक वाक्यों को अनूदित भर किया है । इस शैली के कारण चरित्रों

के गुणों का स्वाभाविक विकास सर्वत्र दब सा गया है ।

कश्मीर प्रान्त, कैलास , सिन्धु वितस्ता का संगम तथा प्रवरपुर का भौगोलिक वर्णन भी कवि ने मौलिकता के साथ किया है । शिशिर ऋतु में लाल–लाल नारंगियों का पकना और उन नारंगियों के छिलकार्धचषक में कश्मीरी विलासियो का मद्यपान करना तथा हसन्तिका (अँगीठी का कश्मीरी नाम) , कैलास की हिम और त्रिपुरों की भस्म की श्वेतिमा वर्ण में समान हैं , इत्यादि प्राकृतिक दृश्य बड़े ही मौलिक हैं । महाकवि मड़्खक ने कविकुलगुरू कालिदास के कर्णिकार वर्णन की छाया पर एक सहृदयाहलादक श्लोक का निर्माण करके "कर्णिकार मड़्ख" की साहित्यिक पदवी प्राप्त की ।

"श्रीकण्ठचरितम्" में वीर तथा श्रृड़्गार रसों की प्रधानता है । नायक प्रतिनायक में मड़्खक ने मुख्यतः विशुद्ध युद्ध वीर रस ही दिखाया है । और श्रृड़्गार रस का परिपाक जन साधारण के माध्यम से किया है वे जन साधारण भी देवता और अप्सराओं के रूप में हैं ।

मड़्खक ने विषयानुकूल ही छन्दोबद्धता प्रस्तुत की है । शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग लगभग प्रत्येक विषय के वर्णन में किया है । सर्गारम्भ किसी भी छन्द में है परन्तु सर्गान्त अधिकतर शार्दूलविक्रीडित या स्रग्धरा जैसे लम्बे छन्द में हैं । अलड़्कारो के प्रयोग में कवि ने साधारणतया शब्द और अर्थ दोनों प्रकार के अलड़्कारों का प्रयोग किया है । परन्तु शब्दालड़्कारों में शब्द श्लेष एवं अर्थालड़्कारों में उत्प्रेक्षा, समासोक्ति विशेष रूप से कवि के प्रिय अलड़्कार हैं । प्रर्दशन रूप में दो चार श्लोक प्रत्येक अलड़्कार के लिखे हैं ।

कोई भी रचना सर्वथा निर्दोष नहीं हो सकती है । प्रस्तुत शोध ग्रन्थ मे लगभग

सभी काव्य दोष अत्यल्प मात्रा में प्राप्त होते हैं । जिन्हें "दोष निरूपण" नामक अध्याय में बताया गया है । परन्तु काव्य दोष रसास्वादन में व्यवधान उपस्थित नहीं करते हैं । यदि मड्.खक चाहते तो अपने गुरू आलड्.कारिक आचार्य रूय्यक की सहायता से "श्रीकण्ठ--चरितम्" का संशोधन भी कर सकते थे परन्तु उन्होंने ऐसा न करके मानवोचित गुण--दोषों को बनाये रखा । महाकवि मड्.खक ने प्रस्तुत महाकाव्य के "सुजनदुर्जनवर्णनम्" नामक द्वितीय सर्ग में कवि और काव्य का साहित्यिक स्वरूप वर्णित किया है । अन्तिम पच्चीसवें सर्ग में कश्मीर की तत्कालीन राजनीतिक दशा तथा कश्मीरी विद्वानों का ऐतिहासिक वर्णन प्रस्तुत किया है, स्वाग्रज अलंकार की पण्डित सभा का रोचक वर्णन किया है । अलंकार की उस पण्डितसभा में 32 संस्कृत के उद्भट विद्वान विद्यमान हैं वे सब मड्.खक के महाकवित्व की कठिन परीक्षा लेते हैं । संस्कृत साहित्य के इतिहास में इन 32 विद्वानों मे से अनेक का तो नाम भी नहीं मिलता है, इस नामावली पर शोध होने पर 12वीं शती के कश्मीरी संस्कृत साहित्य पर विपुल प्रकाश पड़ेगा ।

श्रीकण्ठचरितम् में शब्द और अर्थ का अविकल सन्निवेश भक्ति रस से परिपूर्ण, वैदर्भी रीति से संपन्न और पद संघटना से युक्त आदि काव्य गुणों के कारण अत्यन्त हृदयग्राही है । श्रीकण्ठचरितम् की कोई हिन्दी टीका उपलब्ध न होने के कारण यह ग्रन्थ थोड़ा दुर्बोध अवश्य लगता है परन्तु कश्मीरी विद्वान राजानक जोनराज की एकमात्र टीका संस्कृत भाषा में ही प्राप्त होती है इन्होंने उक्त ग्रन्थ को सुबोध एवं सुगम्य बना दिया । इसके लिए संस्कृत साहित्य राजानक जोनराज का ऋणी है ।

प्रथम अध्याय

महाकवि मंखक – एक सामान्य परिचय

महाकवि मंखक – एक सामान्य परिचय

महाकवि मड़्खक द्वारा प्रणीत पञ्चविंशति सर्गात्मक "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य में रस, छन्द, गुणालड़्कारादि समस्त काव्यात्मक तत्वों का समुचित सन्निवेश कवि द्वारा किया गया है। इन काव्यात्मक तत्वों की व्याख्या हमें वेदों में ही प्राप्त होने लगती है वस्तुतः संस्कृत–भाषा में काव्य का प्राचीनतम स्वरूप ऋग्वेद की ऋचाओं मे सुस्पष्ट रूप में विद्यमान है। श्रुति में वेदों की काव्यात्मकता को स्वीकार करते हुए कहा भी गया है – पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति। अर्थात् परमेश्वर के निःश्वसित वेदरूप काव्य न कभी नष्ट हुए न कभी नष्ट होंगे। भारतीय मनीषियों द्वारा चराचर जगत् की सामान्य तथा विशेष प्रवृत्तियों के विश्लेषण के प्रयास में ऋग्वेद में स्वतः काव्यात्मक तत्वों का सन्निवेश होता चला गया। दर्शन आदि अन्य समस्त शास्त्रों के समान ही काव्यात्मक तत्वों का मूल उत्स वेद ही हैं यह सर्वसम्मत तथ्य है किन्तु लौकिक साहित्य का सर्वप्रथम आविर्भाव आदि महाकवि महर्षि वाल्मीकि द्वारा विनिर्मित रामायण से माना गया है। तपःपूत मनस्वी इस महर्षि ने जब किसी वधिक के द्वारा युग्मचारी क्रौञ्च पक्षियों में से एक को मारा जाता हुआ देखा तो इनका हृदय करूण रस से आर्द्र हो गया तथा इनका हृदयस्थ शोक करूणामयी दिव्यवाग्धारा के रूप में श्लोक बनकर निकल पड़ा। यही स्वाभाविक उद्‌गार वास्तविक कविता है। रामायण तथा महाभारत महाकाव्य वर्णन प्रधान है एवं कृत्रिमता से रहित हैं।

इन दोनों महाकाव्यों के अनन्तर कुछ काल के व्यवधान के बाद संस्कृत साहित्य में महाकवि कालिदास, भास, अश्वघोष आदि महाकवियों का आविर्भाव होता है जो कृत्रिमता से अछूती स्वाभाविक, मनोरम शैली से परिपूर्ण कविता के लेखन के लिए युग युगान्तर तक प्रसिद्ध रहेंगे। इनकी भाषा सुमधुर है तथा कोमल पदों के विन्यास से युक्त है। भावों का जैसा समन्वय इनकी कविताओं में दृष्टिगत होता है वह आजतक अन्यत्र अलभ्य है। इनकी विषयोपन्यास की पद्धति असाधारण है। वस्तुतः वह युग ही सरलताओं से युक्त था उस समय के समाज में जटिलता का प्रवेश नहीं हुआ था। अतएव तत्कालीन कवियों की कविताएं भी जटिलता के संस्पर्श लेश से शून्य थीं। किन्तु विदेशी आक्रमणों के चलते जैसे जैसे समाज में जटिलता आती गयी वैसे ही कवियों की कविताओं में भी कृत्रिमता का

प्रवेश होता गया ।भारवि, भट्टि, माघ, श्रीहर्ष आदि महाकवियों ने कालिदास की सरल शैली का परित्याग कर चित्रालड्.कारों की विविधता एवं भाषायी चमत्कार से परिपूर्ण महाकाव्यों का प्रणयन किया । यद्यपि आनन्दवर्धन जैसे सहृदय सम्राट को इन कविताओं में कोई रस न मिला, क्योकि ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार करने वाले इस आचार्य को ध्वनितत्व के अभाव में कैसे रूचि हो सकती है, किन्तु भारवि, भट्टि, माघ एवं श्रीहर्ष के समय में भारतीय चिन्तन की सभी विधाओं में सरल रीति का परित्याग कर दिया गया था तथा शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रतिपादनों में कठिन एवं दुरूह भाषा को ही महत्त्व दिया जाने लगा अतः ये कवि भी तत्कालीन समाज की कृत्रिमताओं से कैसे विमुख हो सकते थे । इतना ही नही काव्यों में व्याकरण, साहित्य एवं दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों के प्रतिपादन में इन कवियों ने काव्यों को बोझिल एवं दुरूह बना डाला इस तथ्य को स्वतः स्पष्ट करते हुए महाकवि भट्टि ने कहा भी है –

> व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम् ।
> हता दुर्मेधस्तत्र विद्वत्प्रियतया मया ।।

अर्थात यह काव्य व्याख्या के आधार पर ही समझा जा सकता है । इसमे विद्वानों की ही गति हो सकती है । इसी परम्परा में महाकवि मंड्.खक द्वारा रचित श्रीकण्ठचरितम् महाकाव्य को रखा जा सकता है । किन्तु इसका यह कथमपि अभिप्राय नहीं हो सकता कि इन काव्यों में दुरूहता एवं बोझिलता ही प्रधान है जिससे इन्हें नीरस मान लिया जाय । वस्तुतः ये कवि अर्थगाम्भीर्य से परिपूर्ण वचनों के विन्यास में पटु हैं । इनकी वाणी सुललित पदों के प्रयोग से अटी पड़ी है, रमणीय वर्णो से विभूषित है एवं किसी भी सहृदय के हृदयसरोवर को अमन्दानन्दोल्लास से उद्वेलित करने में समर्थ है । इनके वर्णन की शैली अतीव प्रौढ है । नूतनतम पदों के प्रयोग में ये सिद्धहस्त हैं । इनके वर्णनों में अलड्.कारों तथा भावों का अद्भुत समन्वय भी देखने को प्राप्त होता है । अपने इन्हीं गुणों के कारण भारवि आदि महाकवियों के महाकाव्य प्राचीन काव्यशास्त्रियों तथा आधुनिक समालोचकों के विवेचन के विषय बनते रहे हैं तथा अद्यावधि साहित्य–लेखन के स्रोत के रूप में स्वीकृत हैं ।

(क) जीवनवृत्त

कश्मीर के महाकवियों में रत्नाकर एवं क्षेमेन्द्र के पश्चात् महाकवि मंखक का नाम उल्लेखनीय है । मंखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" नामक महाकाव्य लिखकर अद्‌भुत विद्वता का परिचय दिया है । "श्रीकण्ठचरितम्" में भगवान शंकर और त्रिपुर के युद्ध का साहित्यिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है । अपने कैलाशवासी पिता के आदेश से मंखक ने इसका वर्णन प्रणयन किया था । प्रसिद्ध आलंकारिक आचार्य रूय्यक इनके गुरू थे । गुरू शिष्य कश्मीर के राजा जयसिंह के सभापण्डित थे । महाकवि मंखक ने अपने महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम" के अन्तर्गत समकालीन कवियों एवं विद्वानों का परिचय दिया है । जिससे तत्कालीन राजसी वातावरण में होने वाली विद्वानों की गोष्ठी का उल्लेख प्राप्त होता है ।[1] "श्रीकण्ठचरितम्" से ज्ञात होता है कि मंखक को रूय्यक जैसे गुरू एवं अन्य उद्‌भट विद्वानों का संयोग प्राप्त हुआ और साथ में हरिहर भगवान् की असीम अनुकम्पा प्राप्त हुई[2] ।

यह सौभाग्य की बात है कि महाकवि मंखक ने स्वयं अपना परिचय "श्रीकण्ठचरितम" के तृतीय सर्ग में दिया है । तृतीय सर्ग का पर्यालोचन करने पर महाकवि का देश, आश्रय, एवं सम्पूर्ण जीवन वृत्त सुस्पष्ट ज्ञात हो जाता है ।

(।) जन्म स्थानः–

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य के अन्तःसाक्ष्य से सुस्पष्ट होता है कि महाकवि मंखक कश्मीरी पण्डित थे । यह सुषमा मण्डित प्रदेश "कश्मीर" भारतवर्ष में मूर्धाभिषिक्त स्थान रखता है । राजतरंगिणी में कश्मीर का बहुत वर्णन प्राप्त होता है कि कल्प के आरम्भ से छह मन्वन्तर तक हिमालय के मध्य में अगाध जल से परिपूर्ण सतीसर नाम का एक महान सरोवर था । तदनन्तर वैवस्वत नाम के सप्तम मन्वन्तर में महर्षि कश्यप ने ब्रह्मा,

---

1. श्रीकण्ठ0 25/66–102
2. श्रीकण्ठ0 25/30, 140

विष्णु, महेश आदि देवताओं के द्वारा उस सरोवर में रहने वाले जलोद्भव नाम के असुर को मरवाकर सरोवर की भूमि पर "कश्मीर" मण्डल की स्थापना की [1] । तीनों लोकों में भूलोक श्रेष्ठ है, भूलोक में कौबेरी अर्थात उत्तर दिशा की शोभा उत्तम है, उसमें भी हिमालय पर्वत प्रशंसनीय है, और उस पर्वत पर भी कश्मीर मण्डल परम रमणीक है[2] ।

स्वयं महाकवि मंखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" के तृतीय सर्ग के प्रारम्भिक तीस श्लोकों में कश्मीर का भव्य वर्णन किया है । कश्मीर प्रदेश में "सतीसर"[3] मण्डल के अन्तर्गत "प्रवरपुर" नाम का जनपद है । इस जनपद की राजधानी "श्रीनगर" थी । "श्रीनगर" को तीसरी शती ई0 पू0 में सम्राट अशोक ने बसाया था इसकी जानकारी चीनी यात्री युवानच्वांग देता है[4] । सिन्धु और वितस्ता के पावन संगम पर श्रीप्रवर सेन के द्वारा बसाया गया एक "प्रवरपुर " स्थान है । यह श्रीनगर से उत्तर पूर्व के कोण पर लगभग 125 मील की दूरी पर है । प्राचीन नाम का प्रवरेशपुर ही प्रवरपुर था जो राजा प्रवरसेन द्वितीय की राजधानी थी [5] ।

महाकवि मंखक के पितामह "मन्मथ" इसी प्रवरपुर में सम्भवतः राजवैद्य थे । प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण इसी पुनीत संगमस्थ प्रवरपुर में महाकवि मंखक का जन्म हुआ था ।

"प्रवरपुर" प्राचीनकाल में एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान था । इस जनपद का प्राचीन नाम "पण्डरेथन" था, राजतरंगिणी में इसका उल्लेख प्राप्त होता है । यहाँ राजा प्रवरसेन

---

1. राजतरंगिणी – कल्हण (व्याख्याकार श्रीराम तेज शास्त्री पाण्डेय) 1/25,26,27
2. राजतरंगिणी – 1/43 " " "
3. श्रीकण्ठ0 3/1
4. प्राचीन भारत का इतिहास – ओम प्रकाश, अध्याय मौर्य युगीन भारत पृ0 163
5. श्रीकण्ठ0 3/21

प्रथम की भी राजधानी थी[1] । राजतरंगिणी के अनुवादक डॉ0 एम0ए0स्टैइन ने भी इसका उल्लेख किया है [2] । बाण भट्ट के "हर्षचरित" में भी "प्रवरपुर" जनपद का उल्लेख प्राप्त होता है [3] । क्षेमेन्द्र का "समय मातृक"[4] और विल्हण के "विक्रमांकदेवचरितम्"[5] में भी "प्रवरपुर" का उल्लेख होता है । इसी प्रसिद्ध "प्रवरपुर" जनपद में महाकवि मंखक का जन्म हुआ था ।

(ii) वंश परम्परा :–

महाकवि मंखक ने अपने महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" के "देशवंशादिवर्णनम्" नामक तृतीय सर्ग में स्ववंशपरम्परा का परिचय दिया है । महाकवि मंखक के पितामह "मन्मथ"[6] थे । इनके पितामह मन्मथ परम शिव भक्त थे । शिव कृपा से उन्हें एक पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई । पुत्र का नाम "विश्ववर्त"[7] था । यह कश्मीर नरेश सुस्सल के राजवैद्य तथा कवि थे ।

विश्ववर्त के चार पुत्र हुए । सबसे बड़े पुत्र का नाम "श्रंगार"[8] था । द्वितीय पुत्र का नाम भृंग[9] था । तृतीय का नाम "लंकक" उपनाम "अलंकार[10] था । "मंखक"[11] सबसे छोटे पुत्र थे ।

---

1. राजतरंगिणी – कल्हण (सं0 रघुनाथ सिंह श्लोक की पादटिप्पणी) देखिये 8/2409
2. राज0 – अनूदित डॉ0 एम0ए0 स्टेइन वाल०II, 8/2408/
3. हर्षचरितम् – बाणभट्ट 1/14
4. समय मातृक – क्षेमेन्द्र 1/4
5. विक्रमांकदेवचरितम् – विल्हण 18/1,70
6. श्रीकण्ठ0 3/31
7. श्रीकण्ठ0 3/35
8. श्रीकण्ठ 3/45
9. श्रीकण्ठ 3/53
10. श्रीकण्ठ 3/56
11. "अथोदभूतस्य कनिष्ठसोदरः स मंखको यस्य शिशोरतन्वत । शिरस्युपोढ़ा गुरूपादरेणवः सरस्वतीकार्मण चूर्ण नैपुणम् ॥"

श्रृंगार बहुत बड़े कवि तथा वक्ता थे । यह रण विद्या में निष्णात तथा प्रसिद्ध योद्धा थे । इन्होंने कश्मीर के राजा हर्ष को कई बार युद्ध में परास्त किया था [1] । महाराज सुस्सल ने इन्हें "वृहतन्त्रपति" धर्माधिकारी बना दिया था [2] । "भृंग" भी बहुत योग्य थे वह कश्मीर राजा के उच्चायुक्त अधिकारी रहे थे । "लंकक" भी एक प्रसिद्ध कवि, वैयाकरण तथा वीर योद्धा थे । महाराज सुस्सल ने लंकक को अपना "सन्धि विग्रहिक नियुक्त किया था [3] । मंखक बहुत प्रतिभाशाली एवं विद्वान व्यक्ति थे [4] । इन्हें भी सुस्सलदेव के पुत्र श्री जयसिंह ने राज्य का "प्रजापालनकार्यपुरूष" धर्माधिकारी नियुक्त किया था [5] ।

महाकवि मंखक की वंशपरम्परा का वर्णन अन्य विद्वानों ने भी इनके महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" के आधार पर ही दिया है । "श्रीकण्ठचरितम" के इस अन्तः साक्ष्य के अतिरिक्त राजतरंगिणी में इनके भाई का उल्लेख मिलता है । मंखक से अग्रयजन्मा, पुण्यात्मा तथा तन्त्रपति "श्रृगार" ने भी श्रीद्वार में मठ, उद्यान, वापी का निर्माण कराया [6] । राजतरंगिणी में "अलंकार" का भी उल्लेख प्राप्त होता है [7] । बाह्य राजस्थान के मन्त्री "अलंकार" बहुतेरे शत्रुओं को मार गिराया । क्योंकि मानवयुद्ध में कोई योद्धा उसे पछाड़ नहीं सकता था [8] । अलंकार का भाई "मंखक" राज्य का विदेशमंत्री था, उसने एक मठ और मन्दिर बनवाकर श्रीकण्ठ शिव की स्थापना की [9] ।

---

1. श्रीकण्ठ 3/47
2. श्रीकण्ठ 3/50
3. श्रीकण्ठ 3/62
4. "अधीतवेदग्ध्यविशेषम क्रमात्कलासु शास्त्रे व्यवहारकर्मसु ।
   विशेषवात्सल्यवतीव यं सुतं मुखैरचुम्बदबहुभिः सरस्वती ।। श्री कण्ठ0 3/65
5. अनन्तरं सुस्सलदेवनन्दनो यमादराच्छ्री जयसिंह भूपतिः ।
   यधात्प्रजापालन कार्य पुरूषं रूषं वितन्वन्नविनीत जन्तुषु ।। श्रीकण्ठ0 3/66
6. राज0 8/2422 पृष्ठ0 – 469
7. राज0 8/2323, 2426, 2557, 2618, 3354
8. अलंकाराभिद्यो बाह्य राजस्थापनाधिकार भाक् ।
   अधृष्योऽमानुषै युद्धे विरूद्धान्बहुधाऽधीत ।। राज0 8/2556
9. संधि विग्रहिको मंखकाख्योऽलंकार सोदरः ।
   स मठस्या भवत्पृष्ठः श्रीकण्ठस्य प्रतिष्ठया ।। राज0 8/3354

डॉ0 एम0ए0 स्टेइन द्वारा अनूदित राजतरंगिणी में भी "श्रृगार" , "अलंकार" मंखक का संक्षेप में वर्णन प्राप्त होता है [1] ।

"श्रीकण्ठचरितम" के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही विद्वानों [2] ने मंखक की वंशपरम्परा का निर्धारण किय है । परन्तु उन विद्वानों ने कोई अलग बात नहीं कही प्रत्युत सब कुछ "श्रीकण्ठचरितम्" जैसा ही वर्णित किया ।

(III) समय निर्धारण :–

महाकवि मंखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य के तृतीय सर्ग में अपना स्पष्ट परिचय दिया परन्तु किस काल में यह उत्पन्न हुए इस विषय पर कोई स्पष्ट संकेत नही किया । किन्तु इस विषय पर "श्रीकण्ठचरितम्" की जोनराजकृत टीका में प्रथम सर्ग के प्रारम्भ में यह उल्लेख विद्यमान है कि यह महाकवि मंखक कश्मीर देश में सुस्सल पुत्र राजा जयसिंह के समय में उत्पन्न हुए , जयसिंह का राज्य काल 1126 ई0 से 1149 ई0 तक था [3] ।

महाकवि मंखक ने इस महाकाव्य के पच्चीसवें सर्ग में काव्यकुब्ज राजा गोविन्दचन्द्र का उल्लेख किया है । डॉ0 व्यूहलर के मतानुसार राजा गोविन्द चन्द्र का समय 1110 – 1144 ई0 के अन्तर्गत निर्धारित किया है [4] । जेम्स प्रिंसेस नामक अंग्रेजी विद्वान ने

---

1. राज0 - अपूदित डॉ0 एम0ए0 स्टेइन –
   "A chronicle of the kings of Kashmir"
   श्लोक सं0 2422, 2423, 2557, 2618, 2671, 2925, 3354/
2. (1) कल्चरल हेरिटेज आफ कश्मीर – सुरेश चन्द्र बनर्जी
   संस्कृत महाकाव्य परम्परा – डॉ0 केशवराव मुसलगॉवकर
   (ii) Survey of Sanskrit literature - C.Kunhanraj
   (iii) Glimpses of Kashmir culture ceries- Dr.Sunil Chandra Rai
   (iv) History of classical sanskrit literature- M.Krishnamachariar
   (vi) Kashmir report - Dr. Buhler.
   (vii) History of Indian Literature - M.Winternits
3. "अयं मंखक कविः कश्मीर देशे सुस्सल सूनोर्जयसिंह महीपालस्य समये समुत्पन्नः जयसिंहस्य राज्यकालस्तु 1126 मितात्खिस्त संवत सरादारभ्य 1149 मितखिस्तसंवत्सर पर्यन्त मासीत" (श्रीकण्ठ0 काव्यमाला 3 निर्णय सागर बुम्बई संस्करण पृ01)
4. काश्मीर रिपोर्ट – डॉ0 बुहलर पृ0 51

भी इस विवरण को प्रमाणिक स्वीकार किया है [1] किन्तु व्यूहलर द्वारा निर्धारित गोविन्दचन्द्र के समय मे कुछ अन्तर है क्योंकि राजा गोविन्दचन्द्र का 1114–1154 ई0 का अंकित ताम्रपत्र प्राप्त होता है[2] महामहोपाध्याय डॉ0 पी0वी0काणे ने साहित्य दर्पण की भूमिका में गोविन्दचन्द्र का समय 1140 ई0 के समीपवर्ती स्वीकार किया है [3] ।

राजतरंगिणीकार कल्हण "मंखक" के समसामयिक थे जैसा कि प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" के प्रथम सर्ग के प्रथम पृष्ठ पर इसका विवरण प्राप्त होता है कि महाकवि मंखक के समय के अन्य बहुत से कश्मीरी विद्वानों का परिचय इस ग्रन्थ के अन्तर्गत पच्चीसवें सर्ग में प्राप्त होता है, महाकवि कल्हण ने भी इसी समय "राजतरंगिणी" नामक कश्मीरी राजाओं का ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखा [4] ।

डॉ0 सुनील चन्द्र राय मे "जल्हन" , "कल्हन" एवं "मंखक" आदि विद्वानों को समकालीन बताया है [5] ।

महाकवि मंखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" में लिखा है कि सुस्सल देव के पुत्र श्रीजयसिंह ने मंखक को "प्रजापालन – कार्य पुरूष" धर्माधिकारी नियुक्त किया था [6] । कल्हण की

---

1. Assess on Indian Inticuitis II - James Princep.
2. हिस्ट्री ऑफ कन्नौज – डॉ0 आर0एस0त्रिपाठी पृ0 369–374
3. साहित्य दर्पण – पंचम संस्करण 1965 ई0 में प्रकाशित पृ0 61 भूमिका भाग – देखिये ।
4. श्रीकण्ठ 0 – प्रथम सर्ग का पृ0 1
5- "came to an end with the death of Harse and the second year of the 12th century marked the decision of the second lohara dynasty on Kashmir throne among the littereteurs , who received patronage of this court, were the celebralted poets Jolhan, Mankha and Kalhand (Early History and culture of Kashmir) Dr. Sunil Chandra Rai, page 182-183.
6. श्रीकण्ठ0 3/66

राजतरंगिणी से सिद्ध है कि महाकवि मंखक के जीवन में यह घटना "श्रीकण्ठचरितम्" की प्रसिद्धि के पश्चात् घटी [1]। कल्हण कृत राजतरंगिणी के वर्णनानुसार जयसिंह का राजत्वकाल 1118 – 1150 ई० के अन्तर्गत सिद्ध होता है [2]। जोनराज द्वारा प्रणीत द्वितीय राजतरंगिणी में जयसिंह का राज्यकाल लगभग वही 1118 से 1155 ई० के अन्तर्गत सिद्ध होता है [3]।

महाकवि मंखक ने राजा जयसिंह के राज्यकाल में "श्रीकण्ठचरितम्" की रचना की। श्रीवंकिमचन्द्र मण्डल के मतानुसार मंखक विरचित "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य का रचनाकाल 1118 – 1155 ई० के अन्तर्गत ही निर्धारित होता है [4]।

"श्रीकण्ठचरितम्" की रचना के अनन्तर कश्मीर राजा जयसिंह के अमात्य "लङ्कक" (मंखक के अग्रज) की विद्वत्सभा में स्वकाव्य समीक्षा हेतु समुपस्थित विद्वानों के समीप महाकवि मंखक ने इस महाकाव्य को पढ़कर सुनाया था [5]। उस समय महाकवि मंखक बड़े संकोची स्वभाव के थे, इसलिए भ्राता श्री "लङ्कक" स्वयं महाकवि मंखक को अपने आसन पर जबर्दस्ती बिठाया था [6]।

---

1. राजतरंगिणी – कल्हण 8/3354
2. " " 8/3404
3. राजतरंगिणी ।। – जोनराज, श्लोक सं० 16 – 39.
   (कविता संस्करण 1836 ई० में प्रकाशित)
4. सागरिका त्रैमासिकी पत्रिका – सं० डॉ० रामजी उपाध्याय,
   चतुर्दशवर्षेप्रथमाङ्कः 1
5. श्रीकण्ठ० 25/1, 14–18
6. "विनयेन नमन्नग्रे शपथैरर्थितोऽसकृत् ।
   ज्यायसोऽर्धासने तस्य स कथं चिदुपाविशत् ।।"
   श्रीकण्ठ० 25/21

महाकवि मंखक ने 1125 ई0 तक "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य लिख लिया था और 1130 ई0 तक श्रीकण्ठचरितम्" की एक महाकाव्य के रूप में पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी । अतएव "श्रीकण्ठचरितम्" के रचनाकाल के आधार पर अनुमान लगाकर बताया जा सकता है कि मंखक का जन्म सन् 1100 ई0 सं0 1043 वि0 के लगभग हुआ होगा ।

महाकवि मंखक ने अपने महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" के पच्चीसवें सर्ग मे अपने समकालिक एवं पूर्ववर्ती आचार्यों जैसे - "रूय्यक", "लक्ष्मीधर", 'जल्हण", "अपरादित्य", मुरारि प्रभाकर, श्रीगर्भ , मण्डन, देवधर, दामोदर, कल्याण (कल्हण) भुडुश्रीवत्स, अभिनवगुप्त इत्यादि 32 विद्वानों का उल्लेख किया है । इन विद्वानों एवं समकालीन राजाओं के आधार पर भी महाकवि मंखक का समय निर्धारित किया जा सकता है ।

आलंकारिक आचार्य रूय्यक महाकवि मंखक के गुरू थे [1] । जब महाकवि मंखक ने अपने अग्रज "लड्.कक" उपनाम "अलंकार" की विद्वत् सभा में अपना महाकाव्य प्रस्तुत किया । उस समय सभा में राजपुरी सन्धि विग्रह नियोगी कवि जल्हण समुपस्थित थे [2] कल्हणकृत "राजतरंगिणी " से ज्ञात होता है कि कश्मीर राजा उच्चल – जयसिंह के राज्यकाल में (1101–1111, 1118 – 1155 ई0 के अर्न्तगत) राजपुरी राजा सोमपाल थे [3] । अतः महाकवि मंखक के अनुसार कवि जल्हण ने "सोमपालविलास्" की रचना की और जल्हण की प्रेरणा से ही सोमपाल ने राजा जयसिंह से 1133 ई0 के पूर्व मित्रता स्थापित की । जयसिंह के समकालिक कान्यकुब्ज राजा "गोविन्दचन्द्र" का भी उल्लेख किया है । कन्नौज राजा गोविन्दचन्द्र के समय "कृत्यकल्पतरू" के रचयिता विद्वान "लक्ष्मीधर" सन्धिविग्रहिक

---

1. "तं श्रीरूय्यकमालोक्य स प्रियं गुरू मग्रहीत् ।
   सौहार्द्र प्रश्रय रस स्रोतः संभेद मज्जनम् ।।

   श्रीकण्ठ0 25/ 30

2. श्रीकण्ठ0 25/73–75

3. राजपुर्य्यामाकुत्वं नीयतामाससाद तत् ।
   तदभर्त्तु सोमपालस्य दूरस्थस्यान्तिकम् चिरात् ।।

   राज0 कल्हण 8/1467

महाकवि मंखक ने प्रस्तुत महाकाव्य में अपरादित्य प्रथम का उल्लेख किया है[2]। इस विषय में यह ज्ञातव्य है कि संस्कृत जगत में दो अपरादित्य हुए हैं। द्वितीय अपरादित्य का समय 1186 – 1187 ई0 है क्योंकि इनके द्वारा अंकित शिलालेख प्राप्त होता है जबकि महाकवि मंखक द्वारा उल्लिखित अपरादित्य प्रथम है। अपरादित्य प्रथम का समय 1118 " 1139 ई0 है [3] अपरादित्य प्रथम "अपरार्क" नाम से प्रसिद्ध हुए। महामहोपाध्याय डॉ0 पी0वी0 काणे द्वारा ख्याति प्राप्त विद्वान लक्ष्मीधर द्वारा विरचित "कृत्यकल्पतरू" का रचनाकाल 1110 – 1130 ई0 के अन्तवर्ती तथा अपरार्ककृत याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र ग्रन्थ का रचनाकाल 1110 – 1130 ई0 के अन्तवर्ती रखा है [4]।

अतएव "लक्ष्मीधर" और "अपरार्क" महाकवि मंखक के समसामयिक थे। महाकवि मंखक के अग्रज " अलंकार" द्वारा अपने अनुज "मंखक" के कविकर्मपरीक्षणार्थ आयोजित विद्वतसभा में दोनों उपस्थित हुए थे। मंखक के गुरू आचार्य "रूय्यक" विल्हण के परवर्ती और माणिक्यचन्द्र के पूर्ववर्ती थे।

जैन विद्वान "हेमचन्द्र" महाकवि मंखक के समकालिक थे, तथा कश्मीर में ही नृपति जयसिंह के सभापण्डित थे। "हेमचन्द्र" ने "काव्यानुशासन" और संस्कृत का एक कोश अनेकार्थसंग्रह" लिखा था। मंखक ने भी एक अनेकार्थ "मंखकोष" की रचना की

---

1. History and culture of Indian People - Dr. Ramesh Chandra Majumdar.
2. श्रीकण्ठ0 25/108–111
3. इण्डियन कल्चर, दि जर्नल ऑफ दि इण्डियन रिसर्च इन्स्टीट्यूट कलिकाता, द्वितीय खण्ड, पृ0 411, 413–416
4. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र – म0 डॉ0 पी0वी0 काणे
   (खिस्ताब्दः 1953 चतुर्थखण्ड – भूमिकान्तर्गतं दशम पृष्ठ(अवलोकनीयम्

मंखकोष" की टीका भी स्वयं कोशकार के द्वारा ही लिखी मानी जाती है । मंखटीका का शतशः उपयोग हेमचन्द्र के शिष्य "महेन्द्रसूरी" ने 1180 ई0 के लगभग हेमचन्द्र के "अनेकार्य-संग्रह" की स्वटीका " अनेकार्थकौरवकारकौमुदी" में किया है । इसके पूर्व हेमचन्द्र 1174 ई0 में दिवंगत हो चुके थे । "मंखकोष" को महाकवि मंखक ने "श्रीकण्ठचरितम" महाकाव्य के पश्चात लिखा था । अतः "मंखकोष" सम्भवतः 1150 ई0 के लगभग लिखा होगा इससे भी मंखक की स्थिति 1100 से 1160 ई0 ही सिद्ध होती है ।

महाकवि मंखक के "श्रीकण्ठचरितम्" का रचनाकाल जयसिंह के समय (1129 – 1150 ई0) के अनुसार डॉ0 व्यूहलर ने 1135 ई0 से 1145 ई0 के बीच निश्चित किया है[1] ।

राजतरंगिणी के टीकाकार डॉ0 स्टेइन महोदय ने 1128 – 1144 ई0 के अन्तर्गत इसका समय स्वीकार किया है [2] । अन्य विद्वानों ने भी पूर्वोल्लिखित डॉ0 व्यूहलर का मत ही स्वीकार किया है ।

उपर्युक्त सभी प्रमाणों के आधार पर महाकवि मंखक का समय 1100 ई0 से 1160 ई0 निर्धारित होता है ।

(ख) **महाकवि मंखक की कृतियाँ :-**

महाकवि मंखक की अनेक कृतियाँ मानी गयी हैं उनमें कुछ विवादास्पद हैं । मंखक

---

1. कश्मीर रिर्पोट – डॉ0 व्यूहलर पृ0 50
2. "Professor Buhler has already whown that Monkha wrote his poem only a few years before the composition of Kalhans chronicle its date must fall between the years A.D. 1128 and 1144.
   (Raj. Anudit Dr.M.A.Stain Vol.I See II, P. 12)

की कृतियों में "श्रीकण्ठचरितम्", "मंखकोष", और "मंखसूत्रोदाहरण" ये तीन प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। अन्य छः कृतियाँ और हैं जो कि विवादित हैं – "साहित्य मीमांसा", "नाटकमीमांसा" "हर्षचरितवार्तिक", "श्रीकण्ठस्तव" , "व्यक्तिविवेक विचारोऽलंकार" एवं "सर्वस्ववृन्ति", इत्यादि हैं [1] इन रचनाओं के कर्ता के विषय में विद्वानों का मतैक्य नहीं है।

अलंकारसर्वस्त" की वृत्ति के रचयिता का प्रश्न विवादास्पद बना हुआ है क्योंकि समुद्रबन्ध ने अपनी टीका में इसे मड्.खुक की रचना बताया है। "मड्.खक" शब्द "मड.खु क" अशुद्ध रूप है। वैसे "अलंकारसर्वस्व" के कर्ता महाकवि मंखक के गुरू आचार्य रूय्यक ही सर्वसम्मति से माने गये हैं। अलंकार सर्वस्व की सर्वाधिक प्राचीन टीका "अलक" नाम की थी जो कि दैवदुर्विपाक से कालकवलित हो गई।

अलंकारसर्वस्व में वृत्ति एवं सूत्र दोनों का रचयिता रूय्यक को माना गया है[2], रूय्यक के लगभग 75 वर्ष बाद विमर्शिनीकार जयरथ हुए। इन्होंने भी अपने पाठ में "निजालंकार ही दिया है अर्थात् इनके मत में सूत्रकार एवं वृत्तिकार एक व्यक्ति थे। परवर्ती ग्रन्थकारों ने रूचक अथवा रूय्यक को ही वृत्ति का कर्ता स्वीकार है[3]। "चित्रमीमांसा" में भी इसका रचयिता "रूचक" को ही माना गया है[4]। परन्तु बर्नले के तंजौर में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति में वृत्ति के रचयिता के विषय में श्लोकार्ध मिलता है –

"गुर्वलंकार सूत्राणां वृत्या "

---

1. अलंकारसर्वस्व - टीका समुद्रबन्ध त्रिवेन्द्रम संस्करण पृ0 15–16
2. "निजालंकार सूत्राणां वृत्यातात्पर्य मुच्यते"
   (अलंकार सर्वस्व – अनुवादक डॉ0 रामचन्द्र द्विवेदी पृ0 2)
3. "तदुक्तं रूचकेन एषार्थाश्रयापि धर्म विषये श्लिष्ट शब्द हेतुका क्वचिद् दृश्यते"
   (पृ0 393 रत्नापण टीका -- प्रतापरूद्र यशोभूषण)
   यही सर्वस्ववृत्ति में पृ0 72, 425, 168, 181 पर भी है।
4. चित्तमीमांसा – (पृष्ठ 72) का उल्लेख अलंकारसर्वस्व में भी (पृ0219) पर है ये तु उद्भिन्न वस्तु निगूहनं व्याजोक्ति .... तेषामिहापि व्याजोक्ति रेवना पहनुतिरिति रूचकादयः।"

और त्रिवेन्द्रम प्रति में भी इसी प्रकार का पाठ है । केरलीय ग्रन्थ विधि में लिखी जिन तीन दक्षिणात्य पाण्डुलिपियों के आधार पर अनन्तशयनम् संस्करण का सम्पादन हुअ है । इनमें से केवल एक (गसंज्ञक) पाण्डुलिपि का पाठ "गुर्वलंकार ...." है किन्तु इसकी पुष्पिका में सर्वस्व का राजानक श्री रूचक की कृति के रूप में ही उल्लेख है । दक्षिणात्य पाठ परम्परा के अन्त में एक श्लोक अवश्य मिलता है, वह है --

"इति मंखुको वितेने कश्मीर क्षितिपसान्धि विग्रहिकः ।

सुकविमुखालंकारं तदिदमलंकार सर्वस्वम् ।।"

इस प्रकार दक्षिणात्य ~~पाठ~~ पाठपरम्परा के पास मंखुक का कृतित्व मानने के लिए दो प्रमाण हैं -- एक तो 'गुर्वलंकार' पाठ तथा दूसरा उपर्युक्त श्लोक । पाठ प्रमाण का स्वतः कुछ भी महत्त्व नहीं है । समुद्रबन्ध ने स्वयं इस पाठ की व्याख्या "गुर्वित्येन विवक्षितस्य तात्पर्यायावश्यक वक्तव्यतां दर्शयति" की है जिसका अभिप्राय ग्रन्थमहत्त्वपूर्ण होने के कारण व्याख्या योग्य है । श्लोक प्रमाण के आधार पर ही कतिपय विद्वानो ने इस कल्पना को जन्म दिया कि 'गुर्वलंकार सूत्राणां" से मंखक के गुरू रूय्यक को अलंकार सूत्र का लेखक और वृत्ति (सर्वस्व) का लेखक मंखक को स्वीकार किया है । परन्तु यह व्याख्या बीसवी शती की देन है । जहां तक समुद्रबन्ध का सम्बन्ध है, वह सूत्र एवं वृत्ति दोनों का लेखक मंखक को ही मानता है । "मंखुकोपज्ञ" "मंखुकग्रन्थ" तथा "मंखुककृति" के रूप में उल्लेख करता है । ग्रन्थ के रूप में सूत्र या वृत्ति दोनों में से किसी भी अंग का उद्धरण देता है और ग्रन्थकार के रूप में मंखक को सूत्र और वृत्ति दोनों से सम्बद्ध करता है । समुद्रबन्ध ने अपनी टीका के अन्त में लिखा है [1] । "मंड्.खुक" शब्द "मड्.खक" का अशुद्ध रूप है । मड्.खककृत "श्रीकण्ठचरितम" के अनुसार आलंकारिक आचार्य रूय्यक[2] महाकवि मड्.खक [3]

---

1. "मड्.खुक निबन्धा विवृत्तौसंहिता या मिह समुद्र बन्धेन"
   (अलंकारसर्वस्व – समुद्रबन्ध टीका)
   समुद्रबन्ध के अतिरिक्त तुंगभद्र नामक लेखक भी "मंखक" का सम्बन्ध "सर्वस्व" से लगाता है
2. श्रीकण्ठ0 25/26,30 /
3. श्रीकण्ठ0 3/63, 72 /

अथवा "मङ्.ख"[1] के गुरू थे ।

किन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या एक श्लोक और समुद्रबन्ध के आधार पर यह मान लिया जाय कि रूय्यक का अलंकारसर्वस्व से कोई सम्बन्ध नहीं है और मंखक ही उसका एकमात्र लेखक है ? तथा दक्षिण में मंखक के कृतित्व की परम्परा प्रचलित कैसे हुई । समुद्रबन्ध द्वारा मंखक को सर्वस्वकार मानना "इति मंखकोवितेने" आदि श्लोक पर आश्रित हैं । "सर्वस्व" के साथ मंखक का सम्बन्ध दो कारणों से हो सकता है । एक तो यह कि रूय्यक के शिष्य होने के कारण महाकवि मंखक ने अलंकारसर्वस्व का परिष्कार किया होगा । रूय्यक ने स्वयं भी अपने योग्य शिष्य मंखक के महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" से कुछ उदाहरण[2] सर्वस्व में रखे हैं ।

जिनके सम्बन्ध में यह सम्भावना भी हो सकती है कि "सर्वस्व" का परिष्कार करते समय महाकवि मंखक ने स्वयं ही अपने महाकाव्य श्रीकण्ठचरितम् से प्रस्तुत उदाहरणों का समावेश किया हो । अपने गुरू की कृति के परिष्कार तथा प्रचार में यह योगदान ही दक्षिण जैसे सुदूर प्रदेश में मंखक के कृतित्व का आधार बना था । इस प्रकार "इति मंखुको वितेने" के "वितेने" पद का अर्थ यही समझा जा सकता है कि मंखक ने अपने गुरू के "सुकविमुखालंकार–भूत" अलंकार सर्वस्व का केवल विस्तार किया था । मंखक कश्मीर के राजा जयसिंह के मन्त्री थे ।[3] सन्धि विग्रहिक होने के कारण मंखक का नाम सरलता से दक्षिण में पहुँच गया होगा । वहाँ के राज्याश्रित अलंकारशास्त्र के सुन्दर ग्रन्थ "सर्वस्व" में मंखक के कतिपय पद्य देखकर इसे उनकी ही कृति मान ली हो और तब से यह भ्रान्त परम्परा समुद्रबन्ध के समय तक प्रचलित हो गयी । अन्यथा ऐसा एक भी विश्वनीय प्रमाण नहीं है जिससे मंखक को "सर्वस्व" का कर्ता माना जा सके ।

---

1. श्रीकण्ठ0 1/56 /
2. श्रीकण्ठ0 के 2/49, 5/23, 6/16, 6/79 तथा 10/10 श्लोक अ0स0 के क्रमशः पृ0 21, 87, 90 पर मिलते हैं ।
3. राजतरंगिणी – कल्हण 8/3554

जब कि दक्षिण भारत के लेखक कुमारस्वामी[1] और जगन्नाथ[2] इत्यादि ग्रन्थकारों ने भी सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक आलंकारिक आचार्य रूय्यक को माना है । इसके अतिरिक्त जयरथ ने भी जो स्वयं कश्मीरी पण्डित थे अलंकारसर्वस्व के सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक रूय्यक को ही स्वीकार किया है [3] । जयरथ ने "व्यक्ति विवेक विचार" का रचयिता भी अलंकार सर्वस्वकार रूय्यक को ही माना है । परन्तु समुद्रबन्ध के कथनानुसार अलंकार सर्वस्व के वृत्तिकार मंखक "व्यक्ति विवेक विचार" के कर्ता हैं और भी डॉ0 व्यूहलर के अनुसार महाकवि मंखक ही अलंकार सर्वस्व के वृत्तिकार , वही "व्यक्ति विवेक-व्याख्यानकार" , "साहित्य – मीमांसाकार" "नाटकमीमांसाकार" और "हर्ष चरित वार्तिककार" हैं[4] ।

संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से प्रकाशित "साहित्यमीमांसा" में महाकवि मंखक को इसका रचयिता स्वीकार किया है [5] ।

समुद्रबन्ध का दृढ़ मत है कि "श्रीकण्ठस्तव" नामक रचना भी महाकवि मंखक की है [6] । त्रिवेन्द्रम संस्करण में "मदीये" के स्थान पर "मंखीये" पाठ है । संजीवनी

---

1. रत्नापण – कुमार स्वामी पृ0 393, 396, 425, 448
2. रस गंगाधर – जगन्नाथ पृ0 251, 348, 343, 352, 482
3. विमर्शिणी टीका – जयरथ पृ0 15 – 17
4. काश्मीर रिपोर्ट – डॉ0 व्यूहलर पृ0 66 --68
5. साहित्य मीमांसा – महाकवि मंखक प्रणीत, सं0 डॉ0 गौरीनाथ शास्त्री
   (सं0 सं0 वि0 वि0 प्रकाशन , प्रथम संस्करण सरस्वती (भवन ग्रन्थमाला 119, 1984 ई0
6. अलंकारसर्वस्वम् -- समुद्रबन्धटीकोपेतम् , त्रिवेन्द्रम संस्करण, पृ0 16

मे भी "मंखीये – मंखाख्यक विकर्तृके" [1] के रूप में त्रिवेन्द्रम संस्करण का ही पाठ है, यह पाठ भेद एक टेढ़ा प्रश्न पैदा कर देता है । क्या "श्रीकण्ठस्तव" अलंकारिक आचार्य रूय्यक का नहीं है ? त्रिवेन्द्रम संस्करण के इस पाठ का दो दृष्टियों से महत्त्व नहीं के बराबर है । प्रथमतः उस संस्करण के अनुसार "सर्वस्व" का लेखक मंखक है फिर उसे "मंखीये" क्यों "मदीये" ही लिखना चाहिये था । वृत्तयनुप्रास के लिए वृत्तिकार ने "मदीये श्रीकण्ठस्तवे" के उपोद्धात से "आटोपेन पटीसा" उदाहरण दिया है । अब इन दोनों पाठों को यदि यथास्थित मान लिया जाये तो यह कहना होगा कि "श्रीकण्ठस्तव" मंखक की रचना है और "अहीनभुजगाधीश ––" आदि चार श्लोक एवं अन्य श्लोक वहीं से लिए गये हैं । दोनों ही निष्कर्ष तथ्यहीन हैं, क्योंकि "आटोपेन पटीयसा"[2] श्लोक श्रीकण्ठचरितम् का है, "श्रीकण्ठस्तव" का नहीं है । यह भी नही माना जा सकता कि ये दोनों भिन्न कृतियाँ नहीं है । अपितु एक कृति के नाम भेद हैं । क्योंकि "अहीनभुजगाधीश – " आदि चार में से एक भी पद्य श्रीकण्ठचरितम् में नहीं मिलता, जो सम्पूर्णतया उपलब्ध हैं तथा काव्यमाला में प्रकाशित हैं । अतएव न तो "श्रीकण्ठचरितम्" और "श्रीकण्ठस्तव" को एक कृति माना जा सकता है और न ही "श्रीकण्ठस्तव" को मंखकप्रणीत ही मान सकते हैं । वस्तुतः "श्रीकण्ठस्तव" सर्वस्वकार रूय्यक की रचना है । आंफ्रेट के अनुसार हर्षचरित में वर्णित श्रीकण्ठ जनपद की महिमा का इसमें वर्णन है [3] । सर्वस्व में उद्घृत श्लोक शिव की स्तुति में है । इससे केवल यही संभावना की जा सकती है कि या तो उपर्युक्त श्लोक मंगलाचरण के हैं । अथवा इस काव्य में प्रसंगतः शिव का वर्णन है । अतः "श्रीकण्ठ" शब्द स्थान के लिए ही नहीं अपितु शिव के लिए भी प्रयुक्त होता है । "स्तव" शब्द के आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि "श्रीकण्ठस्तव" शिव स्तुति में विरचित काव्य है । किन्तु जब तक कोई निर्णायक प्रमाण न मिले तब तक केवल सर्वस्व में उद्घृत श्लोकों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है । कि "श्रीकण्ठस्तव" शिवस्तुति में

---

1. अलंकारसर्वस्वम्– संजीवनी टीका पृ0 12
2. श्रीकण्ठ0 2/49
3. आंफ्रेट कैटलॉग, पृ0 210

विचरित काव्य है [1] । हॉ यह सम्भावना अवश्य की जा सकती है कि श्रीकण्ठ जनपद के वर्णन द्वारा शिव की महिमा का स्तवन "श्रीकण्ठस्तव" काव्य का स्वरूप रहा होगा ।

महाकवि मंखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" की रचना के पश्चात् "मड्.खकोष" लिखा तदनन्तर "मड्.खसूत्रोदाहरण" प्रणीत किया । उस समय कश्मीर में प्रचलित 2256 नानार्थक कश्मीरी पदों को मंखक ने "मड्.खकोष" में 1007 पद्यों में निबद्ध किया । कश्मीरी महाकाव्यों के अध्ययनार्थ "मड्.खकोष" का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है । अस्तु निष्कर्ष यह निकलता है कि महाकवि मंखक की तीन ही कृतियॉ हैं –

1. श्रीकण्ठचरितम्
2. मड्.खकोष
3. मड्.खसूत्रोदाहरण

अन्य छह कृतियॉ जो कि विवादित हैं उनको सर्वसम्मति से रूय्यक द्वारा प्रणीत माना जाता है । "साहित्यमीमांसा" "नाटक मीमांसा", "हर्षचरितवार्तिक", "श्रीकण्ठस्तव", "व्यक्तिविवेकविचारोऽलंकार", एवं "सर्वस्ववृत्ति" आदि ग्रन्थ रूय्यक के हैं ।

(ग) श्रीकण्ठचरितम् का संक्षिप्त परिचय :–

कश्मीरी महाकवि मंखक की प्रसिद्ध रचना "श्रीकण्ठचरितम्" है । यह महाकाव्य साहित्यिक सौन्दर्य "श्रीकण्ठचरितम्" है । यह महाकाव्य साहित्यिक सौन्दर्य से मण्डित है । ऐतिहासिक एवं पौराणिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण काव्य है । "श्रीकण्ठचरितम्" एक विशाल रचना है जिसको पच्चीस सर्गों में निबद्ध किया है । इसमें शिवजी के द्वारा दैत्य त्रिपुर के विनाश की पौराणिक कथा है । महाकवि मंखक के पिता विश्ववर्तन ने

---

1. सहृदय लीला – पिशेल सम्पादित – भूमिका भाग देखिए ।

एक दिन मंखक के स्वप्न में उक्त काव्य रचना का आदेश दिया [1]।

फलस्वरूप अपने कैलासवासी पिता के आदेश से महाकवि मंखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" का प्रणयन किया [2]।

प्रस्तुत महाकाव्य में पच्चीस सर्ग हैं । "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य का प्रथम सर्ग "नमस्कारात्मक" है । इस सर्ग में महाकवि मंखक ने विविध देवताओं की स्तुति की है । इसके पश्चात् "सुजनदुर्जनवर्णन" नाम के द्वितीय सर्ग में सुकवियों का गुण कीर्तन है । तदनन्तर "देशवंशादिवर्णन" नाम के तृतीय सर्ग में अपनी जन्म भूमि कश्मीर प्रदेश का मनोहारी वर्णन किया है । और अपना पूरा परिचय प्रस्तुत किया है । इस सर्ग के अन्त में "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य के प्रणयन का कारण भी स्पष्ट किया है । आचार्य रूद्रट का अनुसरण करते हुए इन्होंने "कैलासवर्णन" नामक चतुर्थ सर्ग में दिव्य नायक भगवान् शिव के निवास स्थान का वर्णन किया है, महाकवि मंखक ने इस नगरी के वर्णन में सभी महाकाव्य के लक्षणों को समावेशित किया है । "भगवद्वर्णन" नामक पञ्चम सर्ग में इस महाकाव्य के दिव्य नायक शिव का वर्णन किया है । महाकवि मंखक ने विविध आलड्.कारिक आचार्यों की रीति के अनुसार षष्ठ सर्ग से आरम्भ करके षोड्.शसर्ग पर्यन्त वसन्त–दोलाक्रीडा – पुष्पावचय – जलक्रीडा – सन्ध्या – चन्द्र – चन्द्रोदय – प्रसाधन – पानकेलि – कामक्रीडा – प्रभात आदि विविध वस्तुवर्णन का प्रबन्ध महाकाव्य के अनुरूप विभूषित किया है ।

षोड्शसर्ग में महाकवि मंखक के द्वारा प्रभातवर्णन में भगवान शिव के शय्यात्यागार्थ वैतालिकों द्वारा सुप्रभातगान कराया गया है । तत्पश्चात् "परमेश्वरदेवसमागम्" नामक सप्तदश

---

1. द्वैराज्यकारि सुमनोनिवहस्य कर्ण –
पूरश्रियः किमपि वाड्.मयमध्यगीष्ठाः ।
तत्किं पुनासि न सुत क्षणदाकुटुन्ब –
लेखावचूलचटुयुक्तिभिरूक्तिदेवीम् ॥ श्रीकण्ठ0 3/75

2. "पितृभारती विवृत पौष्टिक क्रियाक्रममाण भक्ति सहवासी मानसः ।
इति स प्रबन्धघटति मड्.खको गिरं विरचय्य शंकरचरित्र किंकरीम्" ॥ श्रीकण्ठ0 3/78

सर्ग में त्रिपुरासुर से त्रस्त देवों ने ब्रह्मा जी के साथ देवाधिदेव लोकशंकर के प्रति अपने त्रास हेतु निवेदित करने के लिए द्वारपाल नन्दी के समक्ष भगवान शंकर के दर्शनार्थ अभिलाषा प्रकट की । द्वारपाल नन्दी ने ब्रह्मा आदि देवताओं के आगमन को शिव के प्रति निवेदित किया । यथाशीघ्र देवाधिदेव भगवान शिव जी ने सबको बुलाकर कुशलता आदि जानकर उनके आगमन का कारण पूछा । उनके आगमन का कारण जानकर उनके कार्य की सिद्धि के लिए भगवान शिव तत्पर हुए ।

महाकवि मंखक ने इस महाकाव्य के सप्तदश सर्ग से आरम्भ करके चौबीसवें सर्ग पर्यन्त युद्ध मन्त्रणा, रिपु प्रत्याक्रमण, अस्त्र–शस्त्र आदि उपकरणों का सञ्चालन एवं वीर रस के अनुभाव का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है । वीर रस प्रधान इस महाकाव्य में नायक – प्रतिनायक के संघर्ष में अधर्म पर धर्म की, अन्याय पर न्याय की विजय का वर्णन किया है । इस प्रकार महाकाव्य के गुणों को ध्यान में रखकर महाकवि ने यहाँ तेइसवें सर्ग में देव और दानव दोनों के मध्य प्रलयङ्कारी युद्ध का वर्णन कियाहै । और "त्रिपुरदाहवर्णन नाम के चौबीसवें सर्ग में यह देव–द्रोही त्रिपुरासुर शिवजी के द्वारा छोड़े गये ज्वाजल्यमान बाण से भस्मीभूत होकर पश्चिमी समुद्र में जा गिरे ।

प्रस्तुत महाकाव्य का अन्तिम पच्चीसवाँ सर्ग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । प्रथम राजदरबार में रहकर राजस्तुति न करना तथा राजस्तुति करने वाले कवियों की निन्दा करना – यह तत्कालीन कवि कर्म परम्परा में क्रान्ति का सूचक है । द्वितीय उस समय कश्मीरी विद्वानों का एवं उनकी विद्वत्ता का तथा उनके जीवन का महत्त्वपूर्ण चित्र उपस्थित करता है ।

उपर्युक्त सर्गों में वर्णित विषयों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य में भी "किरातार्जुनीयम्", "शिशुपालवधम्", "हरविजय", "कप्फिणाभ्युदय", आदि महाकाव्यों की तरह प्रबन्धात्मकता के निर्वाह का ध्यान नही दिया गया है । चतुर्थ और पंचम सर्ग में इतिवृत्त प्रारम्भ होने पर, वही दीर्घकाल के लिए अवरूद्ध हो जाता है

(षष्ठ सर्ग से षोड्श सर्ग तक) फिर सप्तदश सर्ग से जैसा तैसा अग्रसर होता है । उपर्युक्त 11 सर्गों मे महाकवि मंखक ने अपने काव्यशास्त्र का पाण्डित्य निदर्शित किया है ।

"श्रीकण्ठचरितम्" में पद विन्यास के साथ भावों का मिश्रण काव्य की विशेषता है । इनकी भाषा में पूर्ण प्रवाह है कहीं गतिरोध नहीं है । यह कवि सरल शब्दों द्वारा घटना का प्रतिपादन करता है । शब्द शय्या घटना के अनुरूप होती है । प्रस्तुत ग्रन्थ में वैदर्भी रीति अपनाई गई है । यह ग्रन्थ प्रसाद गुणपूर्ण है । पढ़ने मात्र से विषय स्पष्ट हो जाता है । ऐसा नहीं है कि "कोषं पश्यन्पदे--पदे" को चरितार्थ करे । केवल बत्तीस अक्षर वाले अनुष्टुप छन्द मे कवि ने ग्रन्थ का प्रणयन किया, जो इतिवृत्त के विस्तार के अनुरूप है । इनकी छन्दीय निपुणता निःसन्देह रूप से उच्चकोटि की है । उनकी भाषा उनकी विद्वता का प्रमाण देती है ।

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य की एक मात्र टीका कश्मीरी विद्वान राजानक जोनराज की प्राप्त होती है । राजानक जोनराज ने "श्रीकण्ठचरितम्" की टीका के अवसर पर वाच्यार्थ विवृत्ति उपस्थित करना मुख्य ध्येय बनाया । विषय को सुबोध बनाने के लिए उन सब अर्थो का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत कर ग्रन्थ को बोधगम्य बना दिया है । स्थान--स्थान पर व्याकरण एवं दर्शन सम्बन्धी बातों पर विचार किया है । अलंकारादि के विषय में उनकी निर्भ्रान्त बुद्धि का विलास द्रष्टब्य है ।

मंखक की यह उक्ति जोनराज पर सटीक घट रही है कि कवि वही है –

"यस्येच्छयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते ।

द्राग्वाच्यवाचकमयः पृतनानिवेशः ।।"[1]

---

1. श्रीकण्ठ0 2/39

इस प्रकार गुण, अलंकार, रीति और वृत्ति इत्यादि से रचित यह लक्षण ग्रन्थ माना जा सकता है । आज भी विद्वानों का मत है कि कुछ समीक्षक "श्रीकण्ठचरितम्" लक्षणग्रन्थ का अन्धानुसरण करते हैं [1] । परन्तु यह कथन न्यायसंगत नहीं है । फिर भी यह रचना प्रशंसनीय है । इस ग्रन्थ में ललित पद विन्यास, गाम्भीर्य , सौन्दर्य , चमत्कार, व्यड्.गत्व आदि विविध गुणों से युक्त होने के कारण, शब्द और अर्थ का अविकल सन्निवेश, मनोहर कल्पनाओं से युक्त , भक्तिरस से परिपूर्ण , वैदर्भी रीति सम्पन्न और पदसंघटना से युक्त आदि सभी काव्य गुणों के कारण अत्यन्त हृदयग्राही है ।

---

1. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया – डॉ0 लाहरि वाल0 ।।। पृ0 645

द्वितीय अध्याय

संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों की परम्परा में "श्रीकण्ठचरितम्" का स्थान

संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों की परम्परा में "श्रीकण्ठचरितम्" का स्थान :-

भारतीय संस्कृत साहित्य की आत्मा संस्कृति है, संस्कृत साहित्य का सृजन महाकवियों द्वारा भावाभिव्यक्ति के रूप में सहस्त्रों वर्षो पूर्व हुआ, जिसने त्याग से अनुप्राणित, तपस्या से पोषित होकर सहृदयों के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट किया । काव्य मानवीय भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है, अतएव यह मानवीय सृष्टि के साथ ही उत्पन्न हुआ माना जा सकता है । मानव मानस् को जब सहसा सुख-दुःख, क्रोध, करूणा, भय आदि की मार्मिक अनुभूति होती है, जब हृदय में संवेग का गम्भीर आघात होता है तब वह सहसा उस अनुभूति से अनुस्यूत होकर उन भावों को प्रकट करना चाहता है । यही कारण है कि एक समय जब महर्षि बाल्मीकि माध्यन्दिन सवन के लिए तमसा नदी के तट पर पहुचते हैं और वहाँ व्याध के द्वारा मारे गये क्रौञ्चयुगल में से एक को विलाप करता हुआ देखकर सहसा ही उनके मुख से यह भाव निकल पड़ते हैं [1] ।

वस्तुतः महर्षि बाल्मीकि का वह शोक ही कविता है जो कि उनके हृदय का स्पर्श कर उन्हें कुछ कहने के लिए विवश कर देता है । उनका शोक ही श्लोक काव्य का रूप धारण कर लेता है -

"सोऽनुव्याहरणाद भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः ।"[2]

इससे यह स्पष्ट होता है कि काव्य की सृष्टि में भावना का महत्त्वपूर्ण स्थान है, मानव की सुख दुःखात्मक अनुभूति ही कविता का रूप धारण कर लेती है, अतएव काव्य का मानव जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । मानव-जीवन से उनके भावों को पृथक नही किया जा सकता है । अतः मानव जाति के उद्भव के साथ ही साथ काव्य का उद्भव भी हुआ ।

---

1. "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।।" संस्कृत साहित्य का इतिहास - पं0 बलदेव उपाध्याय

2. काव्यमीमांसा - राजशेखर (तृतीय अध्याय कविरहस्याख्यप्रकरण पृ0 7)

(क) कवि और काव्य का स्वरूप :–

कवि के हृदय से निकले हुए उदात्त, प्रेममूलक भाव ही काव्य का रूप धारण कर मानव जीवन को सरस एवं सहृदय बनाते हैं। प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में कवि को अतीन्द्रि-यार्थ द्रष्टा, क्रान्तद्रष्टा, अलौकिक दृष्टि सम्पन्न कहा गया है[1]

कवि शब्द का प्रयोग शुक्लयजुर्वेद में इस प्रकार वर्णित है – "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूरिति" [2]

अथर्ववेद में कविकर्म का व्यापक उल्लेख प्राप्त होता है [3]। महाभारत में "कवि" शब्द का प्रयोग इस प्रकार हुआ है –

"वेदो वेदविदव्यङ्गो वेदाङ्गो वेदवित्कविः।"[4]

भगवान श्रीकृष्ण ने महाभारत में स्वयं को कवियों में शुक्राचार्य बतलाया है[5]। और "अग्निपुराण" में कवि को स्वयं प्रजापति और काव्य संसार को उसकी सृष्टि कहा गया है[6]। ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने भी यही स्वीकार किया है[7]।

राजशेखर की "काव्यमीमांसा" में "कवि" शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है –

"कव् वर्णने धातोरिच् प्रत्यये कृते सति कवि शब्दः निष्पद्यते।"[8]

---

1. ऋग्वेद 10/55/5
2. शुक्लयजुर्वेद 40/8
3. अथर्ववेद 10/8/32
4. महाभारत 13/149/27
5. महा0 भीष्मपर्व 32/37 एवं भगवद्गीता 10/37
6. अग्निपुराण 339/10
7. ध्वन्यालोक पृ0 336 दीपशिखाटीका, टीकाकार चण्डिका प्रसाद शुक्ल
8. काव्यमीमांसा – राजशेखर तृतीय अध्याय पृ0 7

वही "शब्दकल्पद्रुम" में कवि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है –

"कवते सर्वं जानाति सर्वं वर्णयतीति कविः ।"[1]

इतिवृत्त विशेष का और उनके विषय के वाचकों का रसादिविषयक औचित्य के साथ जोड़ना ही कवि का मुख्य कर्म है ।[2]

महाकवि राजशेखर के अनुसार स्वभावतः कवि लौकिक एवं अलौकिक भेद से पॉच प्रकार के होते हैं – भ्रामक, चुम्बक, कर्षक, द्रावक एवं लौकिक आदि का उल्लेख किया है ।[3] महाकवि मंखक ने भी इसका अनुमोदन किया है ।[4] महाकवि बाणभट्ट ने "हर्षचरितम्" में कवि और काव्य का स्वरूप इस प्रकार वर्णित किया –

"सन्ति श्वान् इवा संख्या जातिभाजो ग्रहे–ग्रहे ।
उत्पादका न बहवः कवयः शरभा इव ॥"[5]

साधारण कवि तो बहुत से मिल जाते हैं परन्तु काव्य प्रणयन में कुशल कवीश्वर नये–नये रूपों का आश्रय लेकर सूक्तियों का सन्निवेश कर रस–पूर्ण काव्य रचना बहुत कम करते हैं । हृदय को आकर्षित करने वाला काव्य वहीं है जो कि रस से परिपोषित और माधुर्य आदि गुणों से युक्त हो ।[6] त्रिविक्रम भट्ट ने भी स्वग्रन्थ में ऐसा ही वर्णित किया है[7] ।

---

1. शब्दकल्पद्रुम पृ0 68
2. ध्वन्यालोक 3/32
3. काव्यमीमांसा पृ0 64–65
4. श्रीकण्ठ0 2/50
5. हर्षचरितम् – 1/5 पृ0 52
6. हर्षचरितम् 1/9 पृ0 6
7. नलचम्पू 1/5 पृ0 4

काव्य में प्रयुक्त गुण, सूक्ति एवं अलंकार अंगी रस के परिपोषक होव होते हैं। नये कवि ललित पद विन्यास में ही काव्य की रमणीयता मानते हैं

(ख) महाकवि मंखक की दृष्टि में कवि और काव्य का स्वरूप :–

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम् " की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि जो पूर्ववर्ती विविध आलंकारिक आचार्यो द्वारा लक्षण ग्रन्थों में काव्य निर्माण का मानदण्ड निश्चित किया गया है, उन सबका निचोड़ सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में महाकवि मंखक ने स्वमहाकाव्य में "सुजनदुर्जन--वर्णनं" नामक द्वितीय सर्ग के अन्तर्गत प्रस्तुत किया है। इन्होंने द्वितीय सर्ग में कवि और काव्य की मार्मिक समीक्षा की है।

कवि का स्वरूप वर्णित करते हुए महाकवि मंखक ने स्वग्रन्थ में कहा है कि दुस्तर क्रम की दुर्बोधता के सम्बन्ध से श्रोताओं की बुद्धि को जो विरक्त करते हैं उन्हें कवि नहीं मानते, बल्कि उन्हें कवि समझना चाहिए जिनकी वाणियॉ मधुकण छोड़ने वाली किसी विस्तृत रस को अधिक विशाल परिपाक के उत्कर्ष वाले पिकों की तरह धारण करती हैं।[2]

ऐसे साधारण कवि जो निष्पीडित, सत्य एवं स्वल्प सुभाषितों वाली कविता प्रस्तुत करने वाले बहुत मिल जायेंगे परन्तु वह महान् कवि जिनकी प्रबन्ध रचना में बिना आयास के ही अगाध रस एवं शुद्धता तथा क्षीर समुद्र सदृश निर्मलता आती है। वही कवि "कवीश्वरत्व" की पदवी धारण करते हैं। ऐसे कवि सदैव दुर्लभ होते हैं [3]। ऐसे कुछ कवि परिश्रम

---

1. कवि कण्ठाभरण – पृ0 70 (क्षेमेन्द्र लघु काव्य संग्रह)
2. श्रीकण्ठ0 2/50
3. श्रीकण्ठ0 2/40

पूर्वक गाढ़ाभियोग से एवं विविध शास्त्रों के अभ्यास द्वारा तथा सरस्वती देवी की विशेष अनुकम्पा से "कविराज" की पदवी प्राप्त करते हैं ।[1] इस प्रकार कुछ रसवादी कवि ही "कविमण्डलचक्रवर्ती " की उपाधि से विभूषित होते है –

"अभ्रंकषोन्मिषित कीर्ति सितातपत्रः

स्तुत्यः स एव कविमण्डल–चक्रवर्ती ।"[2]

महाकवि मंखक के अनुसार यदि प्रत्यक्ष वृहस्पति जैसे सुकवि हमारे बीच पैदा भी हो जायें तो उनकी दिब्यवाणी को समझने वाले विद्वान व्यक्ति नहीं मिल पाते हैं ।[3]

महाकवि मंखक ने तो स्वयं को भी असाधारण महाकवियों की कोटि में परिगणित करते हुए कहा है कि मेंठ कवि के देवगण पर आरूढ़ होने, भारवि के शान्त हो जाने और बाण के विषादयुक्त होने के बाद, शोकयुक्त सरस्वती देवी की दृष्टियां जरा रूकें, क्योंकि शिष्ट सरस्वती की सूक्ति उसे प्रसन्न करने की चेष्टा कर रही है ।[4]

महाकवि मंखक के अनुसार उक्त लब्ध प्रतिष्ठ महाकवियों के दिवंगत हो जाने पर दुःखी माँ सरस्वती देवी से उसका दूसरा शिष्ट पुत्र सान्त्वना देते हुए कह रहा है कि माँ जी शोक मत करिये । आपके शिष्ट पुत्र "मंखक" की वाणी आपकों प्रसन्न करने की चेष्टा कर रही है । जैसा कि भाष्यकृत जोनराज ने स्पष्ट किया है –

"कश्चनेति संवृत्तिवक्रतया स्वात्मानं निर्दिशन्कवि र्मेष्ठादि काव्यात्स्वकाव्यमधिकं द्योतित वान् ॥"[5]

मंखक की गर्वोक्ति अनुचित नहीं है क्योंकि इनके गुरू प्रसिद्ध आलंकारिक आचार्य

---

1. श्रीकण्ठ0 2/45
2. श्रीकण्ठ0 2/39,55
3. श्रीकण्ठ0 2/52
4. श्रीकण्ठ0 2/53
5. श्रीकण्ठ0 2/53 की टीका देखें

रूय्यक ने भी इन्हें वाग्देवी सरस्वती जी का वरद्पुत्र बताया, एतदर्थ महाकवि मंखक बिना प्रयत्न के ही कवि कर्म में सफल हुए ।[1] सरस्वती माता की विशेष अनुकम्पा जिस के ऊपर होती है उसे कवित्व–पाण्डित्य प्राप्त होता है । और जिसके ऊपर माता की कृपा नहीं है उसे कभी भी प्रगल्भता नहीं प्राप्त हो सकती है

"सरस्वती मातुरभूच्चिरं न यः कवित्व पाण्डित्यधनस्तनंधयः ।
कथं स सर्वाङ्गमनाप्तसौष्ठवो दिनादिद्नं प्रौढ़िविशेषमश्नुते ।।"[2]

सरस्वती देवी ही कवियों की माता है । उस माता के कवित्व और पाण्डित्य रूपी दो स्तन हैं जो इन दोनों स्तनों का चिरकाल तक पान करता है , वह शास्त्र और काव्य में प्रागलभ्य एवं सौष्ठव प्राप्त कर लेता है । माँ सरस्वती के प्रसाद से ही रस ध्वनि के समर्थक महाकवि सरस काव्य के निर्माण में प्रवृत्त होते हैं । उन्हें महाकवि मंखक ने "सतृणाभ्या–मवहारी" या "विवेकी" कवि की संज्ञा दी है । और सरस्वती प्रसाद के अभाव में रचा गया काव्य रसास्वादन रहित होता है । एवं साहित्य में प्रतिष्ठित स्थान नहीं बना पाता है, इस प्रकार के कवियों को "अरोचकी" या "अविवेकी" कहा है जिसका उल्लेख महाकवि मंखक ने इस प्रकार किया है –

1. <u>सतृणाभ्यवहारी या विवेकी कवि –</u>

"बद्धोद्यमापि सतृणाभ्यवहारि वृत्तौ
धन्यस्य कस्यचन हन्त वशंवदा गौः ।
सूते तमद्भुतरसं बहुधा सुधाया
योऽन्यः प्रकार इव विश्वमिदं पुनीते ।।"[3]

---

1. श्रीकण्ठ0 25/136
2. श्रीकण्ठ0 2/27
3. श्रीकण्ठ0 2/28

2 **अरोचकी या अविवेकी कवि :-**

"ये नो पद स्थितिजुषः कवयः कथंचि -
न्नार्थप्रथाप्रणयिनः प्रतिभादरिद्राः
काव्य ग्रहेण किमरोचकिनोऽपि तेऽन्य -
दल्पीयसो मितरसाच्च बताप्नुवन्ति ।"[1]

महाकवि मंखक के अनुसार जो कवि थोड़े से दूसरों के श्लोकों को प्रतिदिन रटकर चौपाई बनाते हैं ऐसे बहुत से अविवेकी कवि हैं । किन्तु अविछिन्न उठती समुद्रलहरियों की रीति युक्त सुहृद किन्हीं - किन्ही विवेकी कवियों की ही सुमनोहर रस-युक्त वाणी विशद होती है ।[2]

आचार्य वामन ने भी अपने ग्रन्थ "काव्यालंकारसूत्र" में कवि के दो प्रकार बताये हैं जिनको महाकवि मंखक से ठीक विपरीत बताया है --

"अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः ।"[3]

इन्होंने अरोचकी को विवेकी एवं सतृणाभ्यवहारी को अविवेकी कवि कहा है । फिर इनमें से प्रथम कोटि के अर्थात् विवेकी को ही काव्य का अधिकारी प्रतिपादित किया है । आचार्य वामन ने बताया है कि सतृणाभ्यवहारी व्यक्ति शास्त्रों के पारायण से भी स्वयं को योग्य नहीं बना सकते, क्योंकि इस कोटि के व्यक्तियों में शास्त्र सफल नहीं हो सकता ।

आचार्य वामन के अनुसार :

(i) अरोचकी या विवेकी कवि

(ii) सतृणाभ्यवहारी या अविवेकी कवि ।

---

1. श्रीकण्ठ0 2/29
2. श्रीकण्ठ0 2/50
3. काव्यालंकारसूत्र - आचार्य वामन 2/1

महाकवि मंखक के अनुसार :

(i) सतृणाभ्यवहारी – विवेकी कवि

(ii) अरोचकी – अविवेकी कवि ।

महाकवि मंखक ने स्वमहाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" में काव्य का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

"तत्सौष्ठवव्यसनि काव्यकलाशरीरम् ।"[1]

इसे मंखक के गुरू आलंकारिक आचार्य रूय्यक ने भी स्वीकार किया है । "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य के टीकाकार राजानक जोनराज ने इस श्लोक की व्याख्या दी है –

"काव्यकला शरीर शब्दार्थ सन्दर्भाविति ।"[2]

"श्रीकण्ठचरितम्" के द्वितीय सर्ग में शब्दार्थ शरीर को ही काव्य स्वीकार करके दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं ।[3] जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि शब्दार्थ रूपी ही काव्य है, परन्तु महाकवि मंखक ने काव्य का परिपोषक तत्व "रस" को आवश्यक माना है । और रसास्वाद युक्त काव्य की रचना करना सर्वथा दुष्कर कार्य बताया है –

"अर्थोऽस्ति चेन्नपदशुद्धिरथास्ति सापि
नो रीतिरस्ति यदि सा घटना कुतस्तया ।
साप्यस्ति चेन्न नववक्रगतिस्तदेत –
द्वयर्थ बिना रसमहो गहनं कवित्वम् ॥"[4]

महाकवि मंखक ने बड़े ही सुन्दर–सरस भावों में काव्य का स्वरूप समझाया है । मंखक के अनुसार वही सरस काव्य – महाकाव्य कहलाता है जिसमें उपमादि अलंकारों से शतशः

---

1. श्रीकण्ठ0 25/138
2. श्रीकण्ठ0 25/138 श्लोक की टीका देखिये
3. श्रीकण्ठ0 2/39,55
4. श्रीकण्ठ0 2/30

विभूषित होने पर और आडम्बर सहित शब्द रचना रूढ़ होने पर तथा व्युत्पत्ति या सौष्ठव धारण करने के पश्चात् भी घने रस प्रसार का अभिसिञ्चन होता है । जिस प्रकार व्यक्ति हार आदि अलंकारों से विभूषित होकर सिंहासन पर अधिरूढ़ होकर भी बिना राज्याभिषेक के राजपद को नही प्राप्त करता है, उसी प्रकार उपमा आदि अलंकारों से विभूषित होने पर भी जब तक काव्य में विस्तृत रस का परिपाक नहीं होगा तब तक वह काव्य, "प्रबन्ध–काव्य" या "काव्याधिराज" का पद नहीं प्राप्त कर सकता है ।"[1]

महाकवि मंखक के दृष्टिकोण में अत्यन्त गम्भीर पद–संरचना भी सहृदय सामाजिकों को अनुरञ्जित नहीं कर सकती । काव्यमें ओज, माधुर्य, प्रसाद आदि गुण एवं उपमादि अलंकार से युक्त और वैदर्भी आदि रीति इत्यादि नितान्त अपेक्षित है, प्रत्युत् प्रबन्ध रचना में आत्मा रूपी परिपोषक तत्व "रस" ही सहृदयों को अलौकिक आनन्दानुभूति कराता है --

"आटोपेन पटीपसा यदपि सा वाणी कवेरामुखे
खेलन्ती प्रथते तथापि कुरूते नो सन्मनोरञ्जनम् ।
न स्याद्यावदमन्दसुन्दर गुणालंकार झांकारित
स प्रस्यन्दिल सद्र सायन रसासारानुसारी रसः ।।"[2]

उत्कृष्ट कोटि की कविता का ज्ञान किस प्रकार करना चाहिए यह स्पष्ट करते हुए महाकवि मंखक ने कहा है कि बिना कठिन परीक्षा के कविता का गुण नहीं खुलता जिस प्रकार बिना आँधी के मणिदीपक और तैलदीपक का अन्तर नहीं मालुम पड़ता ।[3] रमणीय काव्यों का निरीक्षण करने से दोषों का पता उसी प्रकार से चल जाता है जिस प्रकार धुले हुए वस्त्र में जरा सा धब्बा पता चलता है ।[4]

---

1. श्रीकण्ठ0 2/32
2. श्रीकण्ठ0 2/49
3. श्रीकण्ठ0 2/37
4. श्रीकण्ठ0 2/9

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महाकवि मंखक के स्वग्रन्थ के अनुसार किसी भी प्रबन्ध रचना में गुणाधान, अलंकार सन्निवेश, रीति--निवेश, दोषों का अभाव और अंगी रस नितान्त आवश्यक है ।

(ग) महाकाव्य का लक्षण :–

संस्कृत साहित्य में महाकाव्य की कल्पना का मूल आधार महर्षि बाल्मीकि की रामायण है, उसी का अनुकरण करके आलोचकों ने महाकाव्य की रूपरेखा को निर्धारित किया है । इन कवियों एवं आलोचकों में जैसे– आचार्य दण्डी, विश्वनाथ, रूद्रट, आनन्दवर्धन हेमचन्द्र, राजशेखर आदि महाकवियों ने महाकाव्य का लक्षण अपने – अपने मतानुसार प्रस्तुत किया है ।

आचार्य दण्डी ने सर्वप्रथम काव्यादर्श में महाकाव्य का लक्षण निर्धारित किया है । जिसमें सर्गों का निबन्धन, ग्रन्थ के आदि में देव स्तुति एवं वस्तु निर्देश , ऐतिहासिक कथावस्तु , पुरूषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति, नगर–वन–शैल--चन्द्र आदि का वर्णन , विवाह आदि का वर्णन एवं रस भाव समन्वित महाकाव्य हो ।[1]

आचार्य विश्वनाथ जी ने जो "साहित्यदर्पण" में महाकाव्य का लक्षण निर्धारित किया है वह सर्वाड्.गीण एवं व्यापक है । विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य में सर्गों का निबन्धन, धीरोदात्तादि नायक, अड्.गी रस एवं अड्.ग रस, कथानक ऐतिहासिक या सज्जन व्यक्ति से सम्बद्ध , चर्तुवर्ग में से एक फल की प्राप्ति , ग्रन्थ के आरम्भ में आशीर्वाद , कहीं खलों की निन्दा कहीं सज्जनों का गुण वर्णन, प्रकृति--चित्रण, आठ से अधिक सर्ग, प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द किन्तु सर्ग का अन्तिम पद्य भिन्न छन्द का होता है । ग्रन्थ का नाम कवि, कथानक, नायक–प्रतिनायक के नाम पर रखना चाहिए ।[2]

---

1. काव्यादर्श – आचार्य दण्डी 1/14–19
2. सा0द0 6/315–325

श्री रूद्रट के अनुसार महाकाव्य की परिभाषा इस प्रकार है – महाकाव्य वे कहलाते हैं जिनके विस्तार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों का उपन्यास होता है तथा सभी रसों और सभी काव्य स्थानों की चर्चा होती है ।[1]

आचार्य आनन्दवर्धन ने महाकाव्य की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए अपने शब्दों में महाकाव्य की उपमा नारी से दी है । जिस प्रकार नारी के शरीर में विभिन्न अड्.ग दोषरहित होते हैं तथा विभिन्न अलंकारों से अलंकृत होते हैं वह इस कारण आकर्षक प्रतीत होती है । प्रत्युत् इन सबसे भिन्न उसका लावण्य अलग ही शोभा का आधायक होकर सहृदय जनों के मन को आह्लादित करता है, उसी प्रकार काव्य दोष रहित होकर और गुण, अलंकारों से अलंकृत होकर आकर्षक तो होता है, परन्तु इनसे भिन्न प्रतीयमानार्थ यदि उसमें है तो वह सहृदयजनों के मन को आह्लादित करता है ।[2]

परन्तु आचार्य कुन्तक ध्वनिकार द्वारा दी गई लावण्य–प्रतीयमान अर्थ की समानता का विरोध किया है । उसने काव्य के तीन मार्ग बताये हैं –– सुकुमार , विचित्र, और मध्यम । कुन्तक के अनुसार लावण्य तो सुकुमार का एक गुण है ।[3]

जिस महाकवि की कविता जितना ही रस का अनुभव कराती है , उतना ही उससे कवि की प्रतिभा विशेष का ज्ञान होता है । उसी प्रतिभा विशेष के आधार पर ही कवि को महाकवि की कोटि में परिगणित किया जाता है । ऐसे महाकाव्य की रचना करने वाले महाकवियों की परम्परा में कालिदास आदि दो–चार ही महाकवि हुए हैं । ऐसा आचार्य आनन्दवर्द्धन ने व्यक्त किया है ।[4]

---

1. काव्यालंकार – रूद्रट 16/5
2. ध्वन्यालोक 1/4
3. वक्रोक्ति जीवित 6/1, 32
4. ध्वन्यालोक पृ0 21 दीपशिखा टीका

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि विविध आचार्यों ने भिन्न–भिन्न काव्यात्म तत्व की प्रधानता के आधार पर महाकाव्य का लक्षण निर्धारित किया है ।

(घ) विविध आचार्यों द्वारा प्रतिपादित महाकाव्य लक्षणों की समालोचना :–

काव्य शास्त्रियों ने महाकाव्य के जो लक्षण दिये हैं उनमें अनेक बातें प्रायः समान हैं और स्वाभाविक भी हैं क्योंकि किसी भी आचार्य ने महाकाव्य का स्वकल्पित लक्षण नहीं दिया है अपितु उपलब्ध महाकाव्यों को दृष्टि में रखकर तदनुसार ही स्वरूप निर्धारण किया है । चूँकि सभी महाकाव्यों की शैली सदैव समान नहीं होती है, उसमें भिन्नता होती ही है, अतएव लक्षणकारों ने जिन–जिन महाकाव्यों के आधार पर लक्षण निर्धारित किया उन महाकाव्यों की विशिष्टताओं को तो लक्षण में समाविष्ट कर लिया परन्तु जो परवर्ती महाकाव्य उनकी दृष्टि में नहीं पड़े उनकी विशेषताओं को वे नही दे सके । इसके अतिरिक्त किन्हीं लक्षणकारों ने महाकाव्य की कुछ विशेषताओं को प्रमुखता दी है । तो किन्हीं की दृष्टि में महाकाव्य की अन्य विशेषताएं महत्त्वपूर्ण हैं । अतएव यहाँ पर प्रस्तुत विभिन्न लक्षणकारों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य--लक्षणों में अनेक विषय समान होते हुए भी कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है । अतः इन लक्षणों के समान और भिन्न तत्त्वों का विवेचन इस प्रकार है ––

महाकाव्य में सबसे प्रमुख वस्तु होती है उसका इतिवृत्त तथा उसकी सर्गवद्धता महाकाव्य का इतिवृत्त ऐतिहासिक, पौराणिक, अर्थात लोक में प्रसिद्ध किसी सज्जन व्यक्ति पर आश्रित होता है , यह बात सभी आचार्यों ने स्वीकार की है किन्तु महाकवि रूद्रट के अनुसार इसकी कथावस्तु कवि कल्पना प्रसूत भी हो सकती है ।[1] कविराज भोज ने कथानक के विषय में केवल इतना ही कहा है कि यह न अधिक विस्तृत होना चाहिए और न अधिक संक्षिप्त ।[2] महाकाव्यों की सर्गबद्धता के विषय में हेमचन्द्र और भोज के अतिरिक्त पूर्वोक्त अन्य सभी आचार्य एकमत हैं । हेमचन्द्र की दृष्टि में महाकाव्य

---

1. काव्यालंकार – रूद्रट 16/3
2. सरस्वतीकण्ठाभरण–भोज 5/129

न केवल सर्गबद्ध अपितु आश्वासबद्ध, सन्धिबद्ध और अवस्कन्धबद्ध भी होते हैं ।[1]

भोज ने सर्गबद्धता के विषय में कुछ नही कहा है किन्तु उनके अनुसार महाकाव्य चार प्रकार के वृत्यङ्‌गों से युक्त होना चाहिए ।[2] अग्निपुराणकार ने सर्गों की अतिसंक्षिप्तता का निषेध किया है ।[3] परन्तु अतिविस्तीर्णता के सम्बन्ध मे कुछ नही कहा है । आचार्य दण्डी के मत में सर्ग अधिक विस्तृत नहीं होने चाहिए ।[4] कविवर विश्वनाथ जी ने अपने पूर्ववर्ती इन लक्षणकारों के महाकाव्य लक्षणों को ध्यान में रखते हुए ही अपना यह मत दिया कि सर्ग न तो अधिक विस्तृत होने चाहिए और न ही अधिक संक्षिप्त होने चाहिए सर्गों की संख्या के विषय में आचार्य विश्वनाथ का मत है कि इसमें आठ से अधिक सर्ग होने चाहिए तथा सर्ग का शीर्षक भी होना चाहिए । उनके मत में सर्ग के अन्त में भावी सर्ग की कथा की सूचना होनी चाहिए तथा महाकाव्य का नामकरण कवि अथवा चरित्र के नाम पर होना चाहिए ।[5]

महाकाव्यों में साधारणतः एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग तथा सगन्ति में छन्द परिवर्तन की बात भामह तथा रूद्रट के अतिरिक्त सभी आचार्यो ने स्वीकार की है परन्तु विश्वनाथ के मत में कहीं -- कहीं एक सर्ग में अनेक छन्द भी हो सकते हैं ।[6] अग्निपुराणकार के अनुसार महाकाव्य शक्वरी, अतिजगती, अतिशाक्वरी, त्रिष्टुप, पुष्पिताग्रा, तथा वक्त्रादि छन्दों से समन्वित होना चाहिए ।[7]

महाकाव्य का आरम्भ देव नमस्कार, पाठकों को आशीर्वाद अथवा वस्तु निर्देश

---

1. काव्यानुशासन --हेमचन्द्र अष्टम अध्याय
2. सरस्वतीकण्ठाभरण -- भोज 5/127
3. अग्निपुराण 337/27
4. काव्यादर्श 1/18
5. सा0द0 6/320-325
6. सा0द0 6/32/
7. अग्निपुराण 337/26,27

के साथ होना चाहिए, ऐसा दण्डी,[1], हेमचन्द्र[2] और विश्वनाथ[3] का मत है। महाकाव्य के नायक के विषय में सभी आचार्यों का मत है कि उसे धीरोदात्तादि गुणों से युक्त, कुलीन तथा अभ्युदयशील होना चाहिए। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार देवता भी महाकाव्य का नायक हो सकता है अथवा एक वंशोत्पन्न अनेक राजा भी नायक हो सकते हैं [4]। उनकी इस बात की पुष्टि महाभारत और रघुवंश से होती है। महाभारत जैसे आर्ष महाकाव्य में अनेक नायक माने जा सकते हैं। रूद्रट ने कहा है कि नायक को प्रजाप्रिय तथा कोश शक्ति से युक्त होना चाहिए।[5]

प्रतिनायक के विषय में रूद्रट और भोज का मत है कि उसकी कुलीनता तथा उसके गुणों का वर्णन तो करना चाहिए परन्तु अन्त में नायक की ही विजय दिखलानी चाहिए।[6] पुरूषार्थचतुष्टय के विषय में सभी आचार्यों का मत है कि महाकाव्य में धर्मार्थकाममोक्ष रूप चतुर्वर्ग की फल प्राप्ति का वर्णन होना चाहिए परन्तु विश्वनाथ के अनुसार इस चर्तुवर्ग का वर्णन करते हुए इनमें से कोई एक फलरूप में होना चाहिए।[7]

महाकाव्यों में युद्ध–सम्बन्धी वर्णन यथा–मंत्रणा, दूत–प्रेषण, प्रयाण, युद्ध इत्यादि को सभी आचार्यों ने आवश्यक बतलाया है। इसी प्रकार प्रकृति वर्णन यथा–समुद्र, पर्वत,

---

1. काव्यादर्श 1/14
2. काव्यानुशासन अष्टम अध्याय
3. सा0द0 6/319
4. सा0द0 6/315–316
5. काव्यालंकार – रूद्रट 16/8
6. अ. काव्यालंकार –रूद्रट 16/16,18
   ब. सरस्वतीकण्ठाभरण –भोज 5/137
7. सा0द0 6/318

नगर, ऋतु, वन, सूर्योदय, चन्द्रोदय, नदी, उद्यान, प्रातः, मध्याह्न, रात्रि, जलक्रीडा, मद्यपान इत्यादि के वर्णन को भी भामह के अतिरिक्त सभी आचार्यों ने आवश्यक माना भामह इस विषय में मौन हैं । दण्डी और भोज के अनुसार महाकाव्य में विवाहादि का वर्णन भी होना चाहिए ।[1] आचार्य विश्वनाथ ने सज्जनों की प्रशंसा तथा दुर्जनों की निन्दा का वर्णन भी महाकाव्य में आवश्यक माना है ।[2] महाकाव्यों में पाँच नाटक – सन्धियों के यथा स्थान निवेश का उपदेश प्रायः सभी आचार्यों ने दिया है । अग्निपुराण में उल्लिखित है कि महाकाव्य में सभी रीतियों का समुचित प्रयोग होना चाहिए ।[3]

एक मात्र भामह ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने महाकाव्यों की भाषा के प्रयोग के सम्बन्ध में कहा कि इसमें ग्राम्य शब्दों का प्रयोग नही होना चाहिए ।[4] महाकवि बाणभट्ट के मतानुसार नवीन–नवीन अर्थ, शिष्ट स्वाभावोक्ति सरलश्लेष और स्फुट रस व्यञ्जना आदि गुणों का पर्याप्त सन्निवेश होना चाहिए ।[5] आचार्य दण्डी का मत है कि महाकाव्य में विप्रलम्भ श्रृंगार का वर्णन होना चाहिए ।[6] और आचार्य विश्वनाथ का मत है कि श्रृंगार वीर अथवा शान्त में से कोई एक रस अङ्गी तथा अन्य सभी रस अङ्ग रूप में होने चाहिए ।[7] अन्य सभी आचार्यों के अनुसार महाकाव्य में समस्त रसों का परिपाक होना चाहिए ।

उपर्युक्त समालोचना के पश्चात् स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य विश्वनाथ जी का महाकाव्य – लक्षण सर्वाङ्गीण होने के कारण अधिक ग्राह्य है ।

---

1. अ. काव्यादर्श 1/17
   ब. सरस्वतीकण्ठाभरण 5/133
2. सा0द0 6/319
3. अ0पु0 337/32
4. काव्यालङ्कार – आचार्य भामह 1/19
5. हर्षचरित -- बाणभट्ट भूमिका भाग द्रष्टव्य
6. काव्यादर्श – 1/17
7. सा0द0 6/317

(ड.) **संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा :–**

प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में हमें सर्वप्रथम काव्य की आभा मिलती है, जिसमें मन्त्र रचयिताओं में कहीं–कहीं कवि का रूप दिखाई पड़ता है । वैदिक साहित्य, आरण्यक, तथा उपनिषदों में कुछ ऐसे स्थल है जहाँ काव्य का सा आनन्द मिलता है । इतिहास और पुराणों के आख्यानो में भी कहीं–कहीं कवित्व झलकता है । यही स्वरूप आगे चलकर महाकाव्य के रूप में परिवर्तित हो गया । रामायण और महाभारत आगे चलकर परवर्ती महाकाव्यों के लिए उपजीव्य ग्रन्थ हो गये ।

लौकिक संस्कृत में कविता का प्रारम्भ वाल्मीकि से हुआ । वाल्मीकि की "रसमय पद्धति" को सुकुमार शैली कहते हैं । रस ही उसका प्रधान तत्व है, नैसर्गिकता एवं स्वाभाविक्ता उसका आभूषण है । आगे चलकर महाकवि कालिदास को अपनी काव्य कला को पुष्ट करने में वाल्मीकि से स्फूर्ति और प्रेरणा मिली । कालिदास रसवादी कवि हैं इनकी कविता में अलंकारों का विन्यास है परन्तु वह विन्यास् इतना भड़कीला नहीं है कि पाठकों का हृदय वर्ण्यवस्तु को छोड़कर अलंकारों की छटा की ओर आकृष्ट हो जाये क्योंकि कालिदास ने काव्य के कोमल पक्ष को अपनाया इसलिए उनकी शैली में रमणीयता, चारूता और मनोहरता है ।

महाकवि कालिदास की काव्य परम्परा को कुछ महाकवियों ने बड़ी सफलता के साथ अपनाया । महाकवि अश्वघोष इसी परम्परा के सहज एवं सरस कवि हैं । गुप्तकाल के प्रशस्ति लेखक हरिषेण और वत्सभट्टि ने कालिदास के काव्यों का गहरा अनुशीलन कर उसी के आदर्श पर अपनी कविता लिखी । संस्कृत साहित्य में रामायण से लेकर श्रीहर्ष के नैषध–चरित तक कितनी ही महाकाव्य – कृतियों का निर्माण हुआ । ये सभी महाकाव्य कृतियाँ एक जैसी शैली और एक जैसे ढंग की नहीं हैं । मैक्डोनल साहब ने "महाभारत" को तो लोक महाकाव्य (पापुलर एपिक) "रामायण" को अनुकृत महाकाव्य (आर्टीफिशल एपिक) और बाद के महाकाव्यों को अलंकृत महाकाव्य कहा है ।

साहित्य शैली के विकास के ऊपर युगों की सामाजिक– चेतना का विशेष प्रभाव पड़ता है । तत्कालीन वातावरण एवं साहित्यिक मान्यता तथा सामाजिक रूढ़िया उस युग के साहित्य को एक विशिष्ट शैली का आश्रय लेने को बाध्य करती हैं । सातवीं – आठवीं शताब्दी में संस्कृत साहित्य की परम्परा में परिवर्तन का युग माना जा सकता है । अब तक संस्कृत महाकाव्य का लक्ष्य जन साधारण का मनोरंजन था इसीलिए इस युग के संस्कृत महाकवि जनसाधारण के हृदय को स्पर्श करने वाली कविता के सृजन में दक्ष दिखलाई पड़ते हैं । इसीलिए कालिदास और अश्वघोष का समय संस्कृत महाकाव्य की परम्परा में अपनी सरसता एवं सरलता से सम्पन्न काव्य की रचना में प्रख्यात माना जाता है, परन्तु गुप्ता पीरियड में संस्कृत साहित्यिक वातावरण ही बदल गया । प्राकृत भाषा का भी उदय हो गया, प्राकृत लोक भाषा होने के कारण जनता के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट किया अतएव संस्कृत काव्य का लक्ष्य पाण्डित्यापेक्षी हो गया ।

इसी युग में बौद्ध न्याय का उदय और अन्य दार्शनिक–सिद्धान्तों का उदय हुआ जिनका अनुकरण कर संस्कृत महाकवयिों ने कवित्व तथा दार्शनिकता का, प्रतिभा तथा पाण्डित्य का मञ्जुल समन्वय किया । समय की विशेषता और साहित्यिक चेतना के कारण महाकवियों के लिए प्राचीन रससिक्त पद्धति को छोड़कर एक नवीन अलंकृत और पाण्डित्यपूर्ण परम्परा का ग्रहण आवश्यक हो गया । जिसमें विषय की अपेक्षा वर्णन प्रकार पर तथा सरलता के स्थान पर विशिष्टता एवं कृत्रिमता पर विशेष आग्रह था और काव्य को सुसज्जित बनाने के लिए कामशास्त्र जैसे प्रौढ शास्त्रों का उपयोग आवश्यक हो गया । इस नवीन विचित्र परम्परा के प्रवर्तक महाकवि भारवि तथा माघ थे । ये पाण्डित्यमय युग की माँग थी जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी । आचार्य कुन्तक ने इस अलंकार बाहुल्य पद्धति को "विचित्र मार्ग" की संज्ञा दी ।

भारवि से पहले महाकाव्य का विषय विस्तृत होता था , प्राकृतिक वर्णन कम,

कम, लेकिन भारवि के समय से महाकाव्य में कथावस्तु अत्यन्त कम होने लगी और प्रकृति वर्णन अधिक । यही बात किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम्, नैषधीयचरितम्, एवं प्रस्तुत प्रबन्ध रचना श्रीकण्ठचरितम् जैसे महाकाव्यों में पायी जाती है । "श्रीकण्ठचरितम्" में त्रिपुरबध नामक लघु पौराणिक कथानक को विस्तृत रूप से 25 सर्गों में प्रस्तुत किया है महाकवि मंखक ने प्रस्तुत महाकाव्य में सोलह सर्गों के अन्तर्गत प्राकृतिक चित्रण का निरूपण किया है ।

अतएव परवर्ती महाकाव्य अलंकार बहुल एवं संश्लिष्ट होने के कारण अत्यन्त दुरूह तथा चित्र काव्य के प्रदर्शन से क्लिष्ट हो गये हैं । इस अलंकृत एवं विचित्र परम्परा में कश्मीरी संस्कृत महाकाव्यों का संस्कृत साहित्य में विशिष्ट योगदान है ।

(च) कश्मीरी संस्कृत महाकाव्यों का स्थान :–

संस्कृत महाकाव्यों में कश्मीरी महाकवियों की कविता का एक राग ही अलग है, जिनकी माधुर्य पूर्ण कविता सहृदयों को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करती है । पदों का सुन्दर विन्यास, अर्थो की मनोहर कल्पना, कहीं भाषा में प्रसाद और माधुर्य, कहीं क्लिष्ट, बन्ध, कहीं उपमा – उत्प्रेक्षा आदि तो कहीं चित्रालंकारों के नवीनतम प्रयोग तो कही दर्शनशास्त्र, और प्रधानतः भक्ति का उद्रेक आदि कुछ विशेषताएं कश्मीरी महाकवियों की हैं ।

कश्मीर में तत्कालीन समाज में शैवधर्म व्याप्त था, अतएव अधिकांश कश्मीरी महाकवियों ने शिवपरक महाकाव्य लिखे जैसे – महाकवि रत्नाकर ने "हरविजय" , जयद्रथ ने "हरचरितचिन्तामणि" तथा महाकवि मंखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" आदि महाकाव्य शिवकथा पर लिखे । शास्त्रों में शिव के दो रूप वर्णित किये गये हैं पहला अव्यक्त या निर्गुण रूप दूसरा व्यक्त या सगुण रूप ! दोनों को जोड़ने वाली हमारी पौराणिक विरासत आध्यात्मिक

व्याख्या के आधार पर पहला शुद्ध अधिष्ठान शिव तत्त्व है, दूसरा सगुण पौराणिक रूप कैलासवासी शंकर असुरों को भस्म करने वाले हैं । शिव अपने अर्थ के अनुरूप सदा ही सबके लिए कल्याणकारी हैं । इसलिए कश्मीरी महाकवियों ने संस्कृत साहित्य में भगवान् शिव का कल्याणकारी सगुण रूप प्रस्तुत किया है । महाकवि रत्नाकर ने भी शिवपरक ग्रन्थ हरविजय की रचना 50 सर्गों में की है, हरविजय का कथानक अत्यन्त सरल एवं स्वल्प है । क्रीडासक्त पार्वती ने भगवान शंकर के तीनों नेत्रों को अपने हाथों से बन्द कर दिया इससे सम्पूर्ण विश्व अन्धकारमय हो गया , यह अन्धकार ही अन्धक असुर के रूप में परिणित हो गया । वह असुर इतना उन्मत्त हुआ कि वह संसार की सुरक्षा को चुनौती देने लगा । परिणामतः कैलाशवासी शंकर ने उस असुर का संहार कर विश्व की रक्षा की ।

इसी प्रकार "श्रीकण्ठचरितम्" में भगवान् शिव जी के द्वारा त्रिपुरासुर का विनाश दिखाया गया है । महाकवि मंखक ने स्वल्प कथानक को अपनी प्रतिभा एवं कल्पना शक्ति के द्वारा विस्तृत रूप दिया ।

महाकवि शिव स्वामी भी शैवमतावलम्बी थे , परन्तु "चन्द्रमित्र" नामक बौद्धाचार्य की प्रेरणा से "कप्फिणाभ्युदय" नामक अलंकृत महाकाव्य को गुम्फित किया । 20 सर्गों में वर्णित इस महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में "शिव" शब्द के आने से यह महाकाव्य "शिवांक" कहा गया।

महाकवि क्षेमेन्द्र ने जनजीवन को उदात्त, चरित्रसम्पन्न तथा शीलवान बनाने के उद्देश्य से रामायण तथा महाभारत पर आधारित ग्रन्थ क्रमशः "रामायणमंजरी" एव "भारतमंजरी" लिखे । इसके अतिरिक्त "दशावतार" महाकाव्य में विष्णु के दशावतारों का बड़ा ही रोचक तथा विस्तृत वर्णन किया है ।

काश्मीरी महाकवियों द्वारा धर्म प्रधान महाकाव्यों के अतिरिक्त ऐतिहासिक महाकाव्य भी रचे गये जैसे – कल्हण द्वारा विरचित ऐतिहासिक राजतरंगिणी है जिसमें कश्मीर का प्राचीनकाल से लेकर 12वीं शती का इतिहास वर्णित है । महाकवि विल्हण ने भी ऐतिहासिक ग्रन्थ "विक्रमांकदेवचरितम्" लिखा, यह ग्रन्थ चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ पर रचित है यह 18 सर्गों में विभक्त अलंकारिक महाकाव्य है । इसी प्रकार से जल्हण ने भी "सोमपाल विजय" नामक ऐतिहासिक काव्य की रचना की । परवर्ती महाकवि जयद्रथ के महाकाव्य "हरचरितचिन्तामणि" पर मंखक का प्रभाव पड़ा , अतएव जयद्रथ ने भी शिवकथा पर "हरचरितचिन्तामणि" महाकाव्य की 32 सर्गों में रचना की ।

अतएव उपर्युक्त कश्मीरी संस्कृत महाकाव्यों के विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य के इतिहास में कश्मीरी महाकाव्यों का साहित्यिक , धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है ।

(छ) श्रीकण्ठचरितम् का स्थान :–

महाकवि मंखक एवं उनके पूर्वज भगवान् शंकर की भक्ति मे आकण्ठ डूबे रहते थे । महाकवि के पितामह "मन्मथ" और पिता "विश्ववर्त" शिव जी के अनन्य उपासक थे । उन्होंने "प्रत्यभिज्ञादर्शन" का सिद्धान्त स्वीकार करके और द्वैतभाव का परित्याग कर श्रद्धापूर्वक अद्वैतभाव से सम्पूर्ण जगत को शिवमय माना । तत्त्वज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है । इस जगत के सभी प्राणियों में उस परम शिव का रूप सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मतत्त्व के रूप में विराजमान है ।[1] जैसा कि "कुलार्णवतन्त्र" में भी उल्लेख प्राप्त होता हे –

"जीवः शिवः शिवो जीवः स जीवः केवलः शिवः ।"[2]

---

1. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् – तृतीय खण्ड 2/4
2. कुलार्णवतन्त्रम् 9/42

सभी काश्मीरी विद्वान् शैव दर्शन के अनुयायी थे । सूक्ष्मातिसूक्ष्म सभी प्राणियों के आत्मतत्व मे वह ईश्वर विद्यमान हैं ।[1]

परन्तु कोई भी व्यक्ति अज्ञानरूपी इस सांसारिक माया मोह में फँसकर यह भूल जाता है कि "मै" कौन हूँ और यथानुसार विभिन्न योनियाँ प्राप्त करता रहता है ।[2] उस मायाशक्ति का स्वरूप "तन्त्रालोक" के भाष्यकार्त्ता जयरथ ने भी स्पष्ट किया ।[3]

गुरू के उपदेश से एवं भगवद्भक्ति से जब अविद्या का नाश हो जाता है तब सच्चे आत्मतत्व का ज्ञान हो जाता है फलतः सम्पूर्ण संसार ईश्वरमय लगने लगता है मंखक के पूर्वजों ने भगवद्भक्ति से पूर्णता प्राप्त कर ली थी । वह सम्पूर्ण संसार को शिव में और शिव जी को सम्पूर्ण संसार में देखने लगे थे जैसा कि श्रीतन्त्रालोक में कहा गया है –

"स्वप्रकाशसंविदेव एका तत्तदात्मना स्फुरतीति" ।[4]

फलस्वरूप दिवंगत पिता "विश्ववर्त" परमतत्व शिवजी में विलीन हो गये । महाकवि मंखक ने एक दिन एकादशी का व्रत बड़े नियम संयम से रखा ।[5] तभी मंखक ने अपने दिवंगत पिता को स्वप्न में मनमोहक हरिहरस्वरूप में देखा –

"स्वप्ने तत्र ददर्श स स्वपितरं देहं वहन्तं मिल –
– – – – – – – – – – – – – – – – "[6]

इसमें कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि भगवद्भक्ति से ऐहिक और आमुष्मिक सिद्धियां

---

1. शिवदृष्टि 1/2
2. षट्त्रिंशत्तत्वसन्दोह विवरणम् पृ0 5
3. श्रीतन्त्रालोक षष्ठ खण्ड पृ0 116
4. जयरथकृत भाष्य "श्रीतन्त्रालोक" प्रथम खण्ड पृ0 103
5. श्रीकण्ठ0 3/72
6. श्रीकण्ठ0 3/73

प्राप्त हो जाती हैं । जैसा कि "शिवस्तोत्र" में भगवद्भक्ति के विषय में लिखा है ।[1] प्रत्यभिज्ञाहृदय" के मंगलाचरण में श्रीमद्भिनवगुप्त ने कहा है –

" नमः शिवाय सतत पञ्चकृत्यविधायिने ।
चिदानन्द धन स्वात्म परमार्थावभासिने ।।"[2]

काश्मीरी शैव दर्शन का सम्पूर्ण अर्थ श्रीमद्अभिनवगुप्त ने"तन्त्रसार" में प्रतिपादित किया है

"अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह यद्वद्विचित्ररचना मुकुरान्तराले ।
बोधः परं निजविमर्शनसारवृत्या शिवं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु ।।[3]

महाकवि मंखक के हरिहररूपधारी पिताश्री विश्ववर्त ने स्वपुत्र मंखक को शिवजी का लोकोत्तर चरित वर्णित करने का आदेश दिया ।[4] मंखक ने पिताजी के आदेश से शंकर भगवान का चरित वर्णित किया –

"पितृभारती विवृत पौष्टिक क्रिया क्रममाणभक्ति सहवासिमानसः ।
इति स प्रबन्धयति मंखको गिरं विरचय्य शंकरचरित्रंकिंकरीम ।।[5]

एतदर्थ महाकवि मंखक अपने पिताजी की आज्ञा को शिरोधार्य कर कवि–कर्म में प्रवृत्त हुए और "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य की रचना कर भगवान शंकर का लोकोत्तर रूप वर्णित किया । यह साहित्यिक महाकाव्य "प्रत्यभिज्ञादर्शन" का ही परिणाम है ।

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य 25 सर्गों में है । मूल कथानक तो छोटा है, प्रत्युत महाकाव्य की पूर्ति के लिए दोलाक्रीडा पुष्पावचय, जलक्रीडा, सन्ध्या, चन्द्र, चन्द्रोदय, प्रसाधन,

---

1. शिवस्तोत्र 6/5
2. प्रत्यभिज्ञाहृदय पृ0 1
3. तन्त्रसार – पृ0 19
4. श्रीकण्ठ0 3/75
5. श्रीकण्ठ0 3/78

पानकेलि क्रीडा, तथा प्रभात का वर्णन आदि 7वें सर्ग से लेकर 16वें सर्ग तक क्रमश. किया गया है।

25वाँ सर्ग तो तत्कालीन काश्मीरी कवियों का साहित्यिक वर्णन है। जो महाकवि मंखक के ज्येष्ठ भ्राता अमात्य "लंकक" की सभा को अलंकृत करते थे। यह साहित्यिक एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। कविता उच्च कोटि की है। द्वितीय सर्ग में कवि और काव्य की मार्मिक समीक्षा की है।

महाकवि मंखक के पूर्ववर्ती बहुत से महाकवियों ने "देवादिचरित" पर महाकाव्य लिखे। परन्तु मंखक ने जिस प्रकार अपने महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" में भगवद् शिवजी का वर्णन किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इन्होंने स्वयं कहा है --

"तीस करोड़ देवता जब देव चरित्र काव्य में सदा द्वेष से मलिन बुद्धि रखते हैं, फिर हम कौन है? इस भूखण्ड कश्मीर में एक भी ऐसा पण्डित नही पैदा हुआ, जो विमल बुद्धि हो काव्य रचता।"[1]

महाकवि मंखक अपनी मौलिक कल्पना शक्ति एवं प्रतिभा द्वारा भावों को पूर्ण अभिव्यक्ति दी है जैसे कि अन्धकार का वर्णन कितना मौलिक, चमत्कारपूर्ण और मनोरम है –

"सायंकाल का सूर्य जगत के व्यवहार की गणना करने वाले भगवान् काल का सोने का बना हुआ मसीभाण्ड है। सायंकाल में जब सूर्य उल्टामुख करके गिर पड़ता है तो वही काली स्याही दावात से निकलकर सारे संसार में अन्धकार के रूप में फैल जाती है[2]।

---

1. श्रीकण्ठ0, 2/54

2. श्रीकण्ठ0 10/11

महाकवि मंखक ने अन्य महाकवियों की तरह राजस्तुति ने करके "देवस्तुति" की है । मंखक ने इस विषय पर अपनी वाणी को धन्य मानते हुए रचना की और बताया कि मेरी वाणी देवी स्त्री के समान विक्रयी नहीं है जैसे कि श्री हर्ष के नाम से "रत्नावली" नाटिका आदि की रचना कर "धावक" ने अपनी वाणी को दूषित कर लिया था । इसको मंखक ने स्पष्ट किया है ।[1]

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार काव्य द्वारा देवस्तुति करने से धर्म की प्राप्ति होती है । महाकवि मंखक ने अपने महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" में राजाओं के लिए कोई चाटुकारी उक्ति का प्रयोग नहीं किया , यह उस समय एक क्रान्तिकारी कदम था । महाकवि ने स्वमहाकाव्य का प्रारम्भ ही बहुत सुन्दर श्लोक से "किरीटमौलिचन्द्र भगवान् शंकर" को लेकर किया ।"[2]

इस महाकाव्य में देवताओं के धर्म–अर्थ –काम–मोक्ष इत्यादि पुरूषार्थचतुष्टय की सिद्धि ही इस त्रिपुर–दहन का लक्ष्य है । वीर रस इसमें रस प्रधान है , श्रृंगार एवं अद्भुत आदि सहायक रस हैं । महाकवि ने किसी भी सर्ग में चार से कम छन्दों का प्रयोग नही किया है । सर्गान्त अधिकतर "शार्दूलविक्रीडित" एवं "स्रग्धरा" जैसे लम्बे छन्दों में किया है । सर्गों का विस्तार शास्त्रानुकूल है ।

महाकवि मंखक के गुरू राजानक रूय्यक ने भी "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य की प्रशंसा की है ।[3]

(ज) "श्रीकण्ठचरितम्" की महाकाव्यता:–

महाकवि मंखक ने सभी महाकाव्य लक्षणों का समावेश करते हुए "श्रीकण्ठचरितम्"

---

1. श्रीकण्ठ० 1/56
2. श्रीकण्ठ० 1/1
3. श्रीकण्ठ० 25/39

की रचना की है । यह 25 सर्गों में निबन्धित है । महाकवि मंखक ने पौराणिक कथानक को लेकर यह महाकाव्य रचा है । त्रिपुरासुरदहन का मूलभूत इतिवृत्त लेकर सत्रहवें सर्ग से आरम्भ कर चौबीसवें सर्ग में समाप्त कर दिया । प्रथम सर्ग मंगलाचरणात्मक है जैसा कि दण्डी ने काव्यादर्श में स्पष्ट किया है ।[1] " सुजनदुर्जनवर्णन" नामक द्वितीय सर्ग कथानक से अत्यन्त दूर दिखाई देता है । परन्तु महाकवि मंखक ने महाकाव्य लक्षण का निर्वाह करते हुए इस सर्ग को सदुपयोगी बना दिया है । जैसा कि साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने कहा है ।[2] फलस्वरूप महाकवि मंखक ने द्वितीय सर्ग में महाकवि के स्परूप का वर्णन किया है । सुकवि की प्रशंसा और कुकवि की निन्दा प्रस्तुत की । और कवि की दृष्टि में काव्य का स्वरूप प्रस्तुत किया है ।

"देशवंशादिवर्णन" नामक तृतीय सर्ग में महाकवि ने अपने कुटुम्ब एवं देश का परिचय दिया है । यहाँ इन्होंने भारतवर्ष के अन्तर्गत प्राकृतिक सुषमामण्डित प्रदेश कश्मीर का मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है । और दया दाक्षिण्यादि मानवोचित गुणों से युक्त व्यवहार कुशल तथा शास्त्रीय वैदुष्यता में विशिष्ट स्थान रखने वाने अपने पिता- पितामह आदि का परिचय दिया है । इस सर्ग के उपसंहार में महाकवि मंखक ने स्वमहाकाव्य के प्रणयन का हेतु निर्दिष्ट किया है । यह सब विषय मूल कथानक से अत्यन्त दूरवर्ती प्रतीत होते हैं फिर भी महाकवि का स्वपरिचय नितान्त उपादेय है जो कि कहीं नहीं मिलता ।

"कैलासवर्णनम्" नामक चतुर्थ सर्ग में दण्डी प्रतिपादित रीति से महाकाव्य के लक्षण का अनुसरण करते हुए यहाँ पर मंखक ने दिव्य नायक भगवान शंकर के निवास स्थान का वर्णन प्रस्तुत किया है ।[3] तत्पश्चात् "भगवद्वर्णनम्" नामक पञ्चम सर्ग

---

1. सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
   आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ।।
   काव्यादर्श - दण्डी 1/14
2. आदौ नमस्क्रियाशीर्ण वस्तुनिर्देश एव वा ।
   क्वचिनिन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ।।
   सा0द0 षष्ठ परिच्छेद पृ0 235
3. नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रा केदिय वर्णनैः ।
   उद्यानसलिल क्रीडा मधुपानरतोत्सवैः ।। काव्यादर्श 1/16

मे इस महाकाव्य के दिव्यनायक किरीटचन्द्र शिवजी का बहुत सुन्दर वर्णन उपस्थित किया है ।

विषयों
उपर्युक्त सर्गों में वर्णित/ को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम सर्ग से लेकर तृतीय सर्ग में जो भी प्रतिपादित विषय और पच्चीसवें सर्ग में प्रतिपादित विषय का मूलकथानक से कोई सम्बन्ध नहीं है । फिर भी ये विषय महाकाव्यत्व के दृष्टिकोण से अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं और चतुर्थसर्ग "कैलासवर्णनम्" तथा पञ्चम सर्ग "भगवद्वर्णनम्" नामक सर्गों में मूलकथानक का इतिवृत्त प्रारम्भ होते ही पुनः दीर्घकाल के लिए अवरूद्ध हो जाता है । क्योंकि छठे सर्ग से लेकर सोलहवें सर्ग तक वसन्त, दोलाक्रीडा, पुष्पावचय जलक्रीडा, सन्ध्या, चन्द्रोदय, पानकेलिक्रीडा, प्रभातवर्णन इत्यादि विविध वस्तुवर्णन प्रस्तुत कर महाकवि मंखक ने स्वप्रतिभा एवं विद्वता का परिचय दिया है और कल्पना की ऊँची – ऊँची उड़ान भरी है इन विषयों का मूलकथानक से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु महाकवि मंखक ने अपने महाकाव्य का महाकाव्य के संसाधनों से रोचकपूर्ण विस्तार किया है ।

यहां छठें सर्ग से लेकर सोलहवें सर्ग के अन्तर्गत विविध वस्तु वर्णन होने से कथानक का मूल सूत्र टूट जाता है । अतएव सहृदय पाठकगण विविध वस्तु वर्णन का प्रसंग पढ़ते–पढ़ते मूल कथानक सूत्र भूल जाता है । पुनः सप्तदश सर्ग में मूलकथानक का सूत्र जैसे–जैसे दिखाई पड़ता है फलतः वीर रस प्रधान इस महाकाव्य का अंगी रस है जिसका इन विविध वस्तु वर्णन के अन्तर्गत अपकर्ष हो जाता है फलस्वरूप सहृदय पाठकगण इसे श्रृंगार महाकाव्य ही समझने लगता है, श्रृंगार ने वीर रस को आक्रान्त कर दिया है ।[1] ऐसा केशव राव मुसलगॉवकर ने आक्षेप किया है ।

परन्तु वस्तुतः समीक्षा करने पर ऐसा स्पष्ट होता है कि न ही मूल कथानक का सूत्र टूटता है और न ही अंगी रस वीर का अपकर्ष होता है । क्योंकि त्रिपुरासुर दहन की

---

1. संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा -- पृ0 476 – 477
   -- केशवराव मुसलगॉवकर

मूल कथावस्तु का प्रारम्भ "परमेश्वर देवसमागमवर्णनम्" नामक सत्रहवें सर्ग से होता है । उपर्युक्त विषय के सन्देह का निवारण आचार्य आनन्दवर्द्धन की इस उक्ति से हो जाता है ।[1]

अतएव "नमस्कारवर्णनम्" प्रथमसर्ग से लेकर षोड्श सर्ग पर्यन्त उत्प्रेक्षित इतिवृत्त में महाकवि मंखक ने सहृदयसुधीगण के लिए विविध वस्तु वर्णन प्रस्तुत किये हैं । आनन्दवर्धनाचार्य के मतानुसार –

"मेतदेवं हि महाकवित्व महाकवीनाम्" इति ।
आगे भी इन्होंने स्पष्ट किया है ।[2]

उपस्थित महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" में प्रकृत मूल कथानक का बीज बिन्दु–पताका – प्रकरी आदि अर्थ–प्रकृतियों का सन्निवेश सत्रहवें सर्ग से आरम्भ होता है । चतुर्थ सर्ग में "कैलासवर्णन" और पञ्चम सर्ग में भगवान् शिव का वर्णन रूद्रट प्रतिपादित रीति के अनुसार युक्ति--युक्त ही है, जैसा कि उन्होंने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार में कहा है ।[3]

आचार्य दण्डी का अनुसरण करते हुए महाकवि मंखक ने जो षष्ठ सर्ग से आरम्भ कर षोड्श सर्ग पर्यन्त जिन वस्तु प्रसंगों का वर्णन प्रस्तुत किया है वह भी उत्पाद्य काव्य के अन्तर्गत युक्तिसंगत ही है जैसा कि दण्डी ने "काव्यादर्श" में कहा है ।[4]

इस प्रकार "वसन्त वर्णन" नामक छठे सर्ग में दिव्य नायक भगवान शंकर जी दिव्य नायिका पार्वती के साथ कैलास में वसन्तऋतु की शोभा देखते हैं । तत्पश्चात वसन्तोल्लास

---

1. "सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च समायणादयः ।
कथाश्रया न तेर्यो या स्वेच्छा रसविरोधिनी ।।"
– ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत पृ0 209
टीकाकार डॉ0 चण्डिका प्रसाद शुक्ल
2. न हि कवेरिति वृत्तमात्र निर्वहणेन किञ्चित्प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः । इति । -- ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत पृ0 212
3. "तत्रोत्पाद्ये पूर्वं सन्नगरी वर्णनं महाकाव्यं ।
कुर्वीत -- तदनु तस्यां नायकवंश प्रशंसा च ।।
काव्यालंकार रूद्रट 16वाँ अध्याय पृ0 413–414
4. काव्यादर्श – 1/16

मे शिव द्वारा प्रेरित भगवती पार्वती दोलाक्रीडा करती हैं । तत्पश्चात् वह सभी सखियों के साथ पुष्पावचय करती हैं । पुष्पावचय करने से थकी हुई पार्वती जलक्रीडा के लिए जाती हैं । केवल कामक्रीडा को छोड़कर अन्य सभी उत्पाद्य वस्तुवर्णन में दिव्य नायिका पार्वती अपनी सखियों के साथ उपस्थित होती है । "क्रीडावर्णनम्" नामक पन्द्रहवें सर्ग मे दिव्यनायिका पार्वती परोक्ष रूप में विद्यमान हैं । इस प्रकार ध्वनिकार ने अपने ध्वन्यालोक मे कहा है ।[1] एतदर्थ महाकवि मंखक ने दिव्य नायक एवं नायिका के वर्णन प्रसंग में उसे नहीं किया अपितु तिमिराच्छन्न रात्रि में लोक सामान्य क्रिया – कलापों का वर्णन करते हुए महाकाव्य के लक्षणों को घटित किया है । अतएव यह स्पष्ट प्रतिपादित होता है कि मूल कथानक का सम्बन्ध दिव्य नायक शंकर एवं नायिका पार्वती से सम्बद्ध है । अतएव महाकाव्य में नायक एवं नायिका के निवास स्थान विषयक वर्णन अपेक्षित हैं । प्रस्तुत महाकाव्य के सोलहवें सर्ग में महाकवि मंखक ने प्रभात वर्णन किया है । इस सर्ग में भगवान् शंकर को जगाने के लिए वैतालिक सुप्रभाती गान करते हैं । इसके पश्चात् "परमेश्वर देव समागम-र्वणनम्" नामक सत्रहवें सर्ग से मूलकथानक का सूत्रपात होता है ।

इस महाकाव्य में सत्रहवें सर्ग से चौबीसवें सर्ग तक पौराणिक इतिवृत्त प्रस्तुत किया है । और इसी मूल भूत कथानक को महाकवि ने 25 सर्गों मे उपनिबद्ध किया है ईशानसंहिता के अनुसार महाकाव्य में आठ सर्ग से कम और तीस से अधिक न हो वही महापुरूष सम्बन्धी महाकाव्य का महाकाव्यत्व होता है ।[2] महाकवि मंखक ने इस महाकाव्यत्व नियम का पूर्ण पालन किया है ।

शिवजी के अनेकानेक नामों में से महाकवि ने यह "श्रीकण्ठ" नाम क्यो चुना

---

1. अभिनेपार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्ये यदुत्त्मप्रकृते राजादेरूत्त्म प्रकृतिभिर्नायिकाभिः सह ग्राम्य संभोग वर्णनं तत्पित्रोः सम्भोगवर्णनिमिव सुतरामसम्यम् । तथैवोत्त्मदेवतादि विषयम् ॥
"दीपशिखाटीका" ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत पृ0 206
2. "ईशानसंहिता" संस्कृत महाकाव्य की परम्परा पृ0 132
– केशवराव मुसलगाँवकर

यह प्रश्न भी विचारणीय है । महाकवि मंखक को इस महाकाव्य विशेष के प्रणयन की प्रेरणा स्वप्न में प्राप्त पितृ– आदेश से मिली है । स्वप्न में मंखक ने स्वपिता को शिवत्व प्राप्त "हरिहर" रूप में देखा था वह अपने परम इष्टदेव शिवजी के इस हरिहर स्वरूप को विस्मृत नही कर पाता । अतएव लोक कल्याण कारी भगवान शिवजी का नाम "श्रीकण्ठ" रख दिया । जिसका विग्रह है –श्री--शोभाः लक्ष्मी च कण्ठे यस्य सः, शिवः । "त्रिपुर का विनाश" एवं "विषपान" यह दो कार्य शिवजी के लोकोपकारक स्वरूप को अत्यन्त विशद् कर देते हैं । विषपान से ही यह ज्ञात हो सका था कि सभी देवताओं में अत्यन्त वीर्यवान और शिवत्ववान् कौन है । ऐसा ही कोई महामहिमशाली परम् देव इस त्रिपुरासुर का विनाश भी कर सकता है । इस 'हेतुहेतुमद्भाव' का द्योतन करने के लिए महाकवि मंखक इस "श्रीकण्ठ" नाम विशेष का चयन किया होगा । भगवान् शिव जी के ही यशोगायन की शोभा कविकण्ठ को भी सुशोभित करती है । महाकाव्य का नाम नायक[1] आदि के नाम पर होता है । "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य का नाम भी मुख्य कथानायक भगवान् शिव "श्रीकण्ठ" के नाम पर ही रखा गया ।

---

1. कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ।
नामास्य सर्गोपादेय कथया सर्गनाम् तु ।।

सा0द0 6/621

तृतीय अध्याय

कथावस्तु

कथावस्तु

(क) कथावस्तु का शास्त्रीय विवेचन :–

आचार्यों ने कथावस्तु का शास्त्रीय विवेचन लौकिक काव्यनाटकादि को दृष्टि में रखकर किया है । ऋषि प्रणीत काव्यों में महर्षि बाल्मीकिकृत रामायण तथा महर्षि वेदव्यास कृत महाभारत उपजीव्य काव्य हैं । महाभारत और पुराण आदि आर्ष काव्यों के मूलतः ऐतिहासात्मक होने के कारण इनमें शास्त्रीय लक्षण घटित नहीं होते हैं । "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य यद्यपि आर्ष काव्य नहीं है तथापि यह महाकाव्य "शिवपुराण" पर पूर्णरूपेण आश्रित है शिवपुराण से "त्रिपुरदहन" नामक संक्षिप्त कथानक को लेकर महाकवि मंखक ने स्वप्रतिभा द्वारा "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य को विस्तृत रूप दिया है । महाकवि मंखक ने अपनी कल्पना से इसमें जो किञ्चित् परिवर्तन किये हैं उनसे न तो शिवपुराण का कथानक "त्रिपुरदहन" पर कोई विशेष प्रभाव पड़ता है और न ही शास्त्रीय दृष्टि से कथावस्तु को विवेचित करने में कोई सुगमता होती है । परन्तु फिर भी कथा की समग्र घटनाओं को दृष्टि में रखकर कुछ सीमा तक इसकी कथा का शास्त्रीय पक्ष निर्धारित किया जा सकता है ।

(1) कथावस्तु के भेद :–

(अ) प्रख्यात, उत्पाद्य एवं मिश्र :–

कथावस्तु को समग्रता की दृष्टि से तीन प्रकार का माना गया है --

1. प्रख्यात, 2. उत्पाद्य, 3. मिश्र । इतिहास आदि से लिया गया इतिवृत्त "प्रख्यात" कहलाता है, एवं कविकल्पित इतिवृत्त "उत्पाद्य" कहलाता है, और इन दोनों की सम्मिलित रचना "मिश्र" कहलाती है । ये सभी इतिवृत्त दिव्य, मर्त्य आदि भेद से भी भिन्न-भिन्न होते हैं ।[1]

---

1. प्रख्यातोत्पाद्य मिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा ।
प्रख्यात मितिहासादेरूत्पाद्यं कवि कल्पितम् ।।
मिश्रं च सङ्करात्ताभ्यां दिव्य मर्त्यादिभेदतः ।
द0रू0 1/15,16

"श्रीकण्ठचरितम्" का इतिवृत्त "शिवपुराण" से गृहीत होने के कारण प्रख्यात है । इसकी कथावस्तु मुख्य रूप से दिव्य नायक शङ्कर भगवान् से सम्बद्ध होने के कारण दिव्य कोटि की है ।

(ब) आधिकारिक एवं प्रासङ्गिक इतिवृत्त :–

काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने कथावस्तु दो प्रकार की बतायी है -- 1. आधिकारिक, 2. प्रासङ्गिक । प्रधान कथावस्तु आधिकारिक कहलाती है और अंगरूप कथावस्तु प्रासङ्गिक होती है ।[1] भावप्रकाशनकार शारदातनय के अनुसार नायक आदि का वृतान्त आधिकारिक कथावस्तु के अन्तर्गत आता है ।[2]

फल प्राप्ति तथा उसके अतिशय उत्कर्ष तक पहुँचने के लिए कवि द्वारा सुनियोजित उद्योग द्वारा नायकों के कार्यों के निर्धारित प्रकार से ग्रथित किये जाने पर जिस फल प्राप्ति की उपलब्धि या कल्पना की जाती है उसे प्रधान फल प्राप्ति का प्रयोजन – सम्पादन करने के कारण "आधिकारिक -- कथावस्तु" कहा जाता है ।[3] आचार्य धनञ्जय के अनुसार फल का स्वामित्व अधिकार है और उस फल का स्वामी कहलाता है । उस अधिकारी के द्वारा निष्पन्न एवं काव्य में फल की सिद्धि तक अभिव्याप्त इतिवृत्त आधिकारिक कहलाता है ।[4]

---

1. अ) वस्तु च द्विधा ।
   तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्ग प्रासङ्गिकं विदुः । द0रू0 1/11
   ब) इतिवृत्ताभिधं वस्तु यत्काव्ये तद् द्विधा भवेत् ।।
   आधिकारिकमेकन्तु प्रासङ्गिकमथापरम् । भावप्रकाशन 7/134
2. वृत्तान्तौ नायकादीनामत्र स्यादाधिकारिकः ।
   उपनायक वृत्तान्तः प्रासङ्गिक उदाहृतः ।। भावप्रकाशन 7/135
3. कारणात् फलयोगस्य वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ।
   कवेः प्रयत्नान्नेतृणां युक्तानां विध्यपाश्रयात् ।
   कल्प्यते हि फलप्राप्तिः समुत्कर्षात् फलस्य च ।। नाट्यशास्त्र 21/4,5
4. अधिकारः फलस्वाम्यधिकारी च तत्प्रभुः ।
   तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्त स्यादाधिकारिकम् ।। द0रू0 1/12

"श्रीकण्ठचरितम्" की कथा का फल है –

भगवान् शिव जी द्वारा त्रिपुरदाह। इस फल के स्वामी शिव जी है। त्रिपुरदहन रूपी फलसिद्धि तक महाकाव्य में अभिव्याप्त सत्रहवें सर्ग "परमेश्वरदेवसमागमवर्णन" से लेकर चौबीसवे सर्ग "त्रिपुरदाहवर्णन" तक आधिकारिक कथावस्तु है। प्रस्तुत महाकाव्य में देवताओं के धर्म–अर्थ –काम–मोक्ष की सिद्धि ही इस त्रिपुरदहन का लक्ष्य है।

जो इतिवृत्त आधिकारिक कथा से सम्बद्ध प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिए होता है किन्तु प्रसङ्ग से जिसका अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है वह प्रासङ्गिक इतिवृत्त होता है।[1] प्रासङ्गिक कथावस्तु भी पताका प्रकरी के भेद से दो प्रकार की होती है। अनुबन्ध सहित अर्थात् मुख्य कथा के साथ दूर तक चलने वाला प्रासङ्गिक वृत्त "पताका" कहलाता है। और एक प्रदेश में रहने वाला अर्थात् थोड़ी दूर तक चलने वाला प्रासङ्गिक वृत्त "प्रकरी" होता है।[2]

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य में प्रसङ्गिक इतिवृत्त का अभाव है क्योंकि इसमे शिवपुराण का एक छोटा सा कथानक त्रिपुरदहन को ही मुख्य रूप से रखा है। इससे इतर घटनाओं को इसमें सम्मिलित नहीं किया गया है। इसलिए प्रासङ्गिक इतिवृत्त के लिए इसमें अवकाश ही नहीं रह जाता है।

(॥) **नाटक सन्धियों का विवेचन :–**

आचार्यों ने महाकाव्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए उसमें सभी नाटक सन्धियों की स्थिति को अनिवार्य बताया है। नाटक सन्धियाँ अर्थप्रकृतियों और कार्यावस्थाओं के योग

---

1. प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः।
   द०रू० 1/13
2. सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्॥ द०रू० 1/13

से बनती हैं । अतएव अब इन अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं एवं सन्धियों के स्वरूप का विवेचन और "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य में इनकी स्थिति पर विचार करना अपेक्षित है ।

(अ) **अर्थप्रकृतियाँ :–**

मुख्य प्रयोजन की सिद्धि के जो हेतु होते हैं वे ही अर्थप्रकृतियाँ हैं ।[1] आचार्य अभिनवगुप्त ने अर्थप्रकृति की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि जो अंश फल या लक्ष्यप्राप्ति के साधन हैं उन्हें अर्थप्रकृति कहते हैं ।[2] ये अर्थप्रकृतियाँ नायक के लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होती हैं । नाट्यदर्पण मे भी अर्थप्रकृतियों को 'उपाय' कहा गया है ।[3] "श्रीकण्ठचरितम्" में कथा का फल है – भगवान् शिव जी द्वारा त्रिपुर–दहन और इस फल के उपाय ही वहाँ अर्थप्रकृतियाँ हैं अर्थप्रकृतियाँ पाँच प्रकार की बताई गयी हैं – 1. बीज 2. बिन्दु 3. पताका 4. प्रकरी 5. कार्य । इनमें से बीज, बिन्दु, एवं कार्य, ये तीन आवश्यक अर्थ–प्रकृतियाँ स्वीकार की गई हैं । पताका और प्रकरी का सभी काव्यों में होना अनिवार्य नहीं है । जहाँ प्रधान नायक को सहायक की आवश्यकता नही होती है वहाँ पताका और प्रकरी भी नहीं होते हैं ।[4] "श्रीकण्ठचरितम्" में दिव्य नायक भगवान् शिव जी को सहायक की आवश्यकता नहीं होती है । अतएव पताका और प्रकरी का अभाव है । अब बीज, बिन्दु एवं कार्य नामक अर्थप्रकृतियों का क्रमशः विवेचन इस प्रकार है –

बीज :–

फल का निमित्त बीज कहलाता है । इसका प्रारम्भ में सूक्ष्म रूप से सड़्केत किया जाता है और आगे चलकर यह कथा में अनेक प्रकार से विस्तार प्राप्त करता है ।[5]

---

1. अर्थप्रकृतयः प्रयोजनसिद्धहेतवः । सा0द0 6/65
2. अर्थः फलं तस्य प्रकृतयः उपायाः फलहेतवः । अभिनव भारती 19/20
3. नाट्यदर्पण 1/28
4. नाट्यदर्पण 1/35
5. स्वल्पयोदिष्टस्तु तद्धेतर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।
   द0रू0 1/17

नाट्यशास्त्र मे बीज का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है – जो छोटे रूप मे उपक्षिप्त अर्थात् स्थापित होने पर अनेक प्रकार से उत्तरोत्तर विकास करता हो तथा फल को मुख्य रूप में उपलब्ध करवाते हुए समाप्त होता हो उसे ही बीज कहते हैं ।[1]

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य में भगवान् शड्.कर जी द्वारा त्रिपुरासुर को भस्मीभूत करना फल है । और उस फल का निमित्त है – ब्रह्मा जी द्वारा तारकासुर के तीन दैत्य पुत्रों को वरप्रदान करना कि उन तीनों की मृत्यु युद्ध मे शत्रु के एक ही बाण से और एक ही साथ होगी और आगे इसी कथा को अनेक प्रकार से विस्तृत किया गया है ।

बिन्दु :–

अवान्तर प्रयोजन की समाप्ति से कथावस्तु के मुख्य प्रयोजन में विच्छेद प्राप्त हो जाने पर जो उसके अविच्छेद या सातत्य का कारण होता है वही बिन्दु है ।[2] जिस प्रकार तैलबिन्दु जल में फैल जाता है, उसी प्रकार यह बिन्दु सम्पूर्ण काव्य में फैल जाता है । इसीलिए इसे बिन्दु कहा जाता- है । नाट्यदर्पण के अनुसार अवान्तर कार्यों से मुख्य फल के विच्छिन्न होने लगने पर नायक आदि के द्वारा जो मुख्य फल का अनुसन्धान किया जाता है, वही बिन्दु कहलाता है । यह भी बीज के समान समस्त काव्यादि में अन्त तक विद्यमान होता है ।[3] बीज और बिन्दु में समानता यह है कि ये दोनों ही फल प्राप्ति के उपाय हैं और फल प्राप्ति तक दोनों विद्यमान रहते हैं । इन दोनों में भेद यह है कि संक्षेप में निर्दिष्ट मुख्य फल का हेतु बीज होता है जब कि मुख्य फल का अनुसन्धान करना बिन्दु है । बीज का निर्देश मुख सन्धि के आरम्भ में ही कर दिया जाता है किन्तु बिन्दु का निर्देश बाद में होता है ।

---

1. "स्वल्पमात्रं समुत्सृष्टं बहुधा यद् विसर्पति ।
   फलावसानं यच्चैव बीजं तत् परिकीर्तितम् ।।" नाट्य शास्त्र 21/21
2. अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ।।द0रू0 1/17
3. ना0 द0 1/32

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य में चतुर्थसर्ग "कैलासवर्णन" और पञ्चम सर्ग "भगवद–वर्णन" नामक सर्गों में मूल कथानक का इतिवृत्त प्रारम्भ होता है । पुनः आगे चलकर छठे सर्ग से सोलहवें सर्ग तक के लिए कथावस्तु का मूलसूत्र टूट जाता है । वसन्त, दोलाक्रीडा, पुष्पावचय, जलक्रीडा, सन्ध्या, चन्द्रोदय, प्रसाधन, पानकेलि, कामक्रीडा, प्रभात इत्यादि अवान्तर प्रयोजन हैं । इनसे कथा का मुख्य प्रयोजन – ब्रह्मादि सभी देवताओं का त्रिपुरासुरों से मुक्ति पाने के लिए भगवान् शिवजी से मिलना । और कृपालु भगवान् किरीट चन्द्र परम शिव द्वारा उन देवों का भय व त्रास दूर करने हेतु त्रिपुरासुर के संहार की स्वीकृति देना आदि का विच्छेद होने लगता है । इस प्रकार सत्रहवें सर्ग से कथानक का मूलसूत्र पुनः जुड जाता है । देवताओं के आर्त्त वचनों को सुनकर शङ्कर भगवान् के गण विक्षुब्ध हो जाते हैं । तत्पश्चात् शङ्कर भगवान् के गण युद्ध हेतु उद्धत हो जाते हैं । युद्ध के निमित्त रथबन्धन तथा भगवान रूद्र का रौद्र रूप धारण करना आदि घटनाएं अविच्छेद या सातत्य का कारण बनती हैं इसलिए यहाँ बिन्दु है ।

कार्य :–

आधिकारिक कथावस्तु में जिन उद्योगों को लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्रारम्भ अथवा समाविष्ट किया जाता है और उसके लिए जो आवश्यक साधन समुदाय होता है वही "कार्य" नामक अर्थप्रकृति है ।[1] यह कार्य या नायक व्यापार आरम्भ से लेकर फल प्राप्ति तक चलता है । एतदर्थ "श्रीकण्ठचरितम्" में दिव्य नायक भगवान् शिव द्वारा त्रिपुर– दहन के लिए किये गये समस्त साधन यथा – भगवान शिव ने विश्वकर्मा द्वारा युद्ध के निमित्त दिव्य रथ का निर्माण करवाया और उस दिव्य रथ पर अधिरूढ़ होकर दिव्यास्त्रों द्वारा भीषण युद्ध कर त्रिपुरासुर का वध किया । अतएव युद्ध वर्णन एवं त्रिपुरासुर का वध आदि "कार्य" नामक अर्थप्रकृति के अन्तर्गत आते हैं ।

---

1. "यदाधिकारिकं वस्तु सम्यक्प्राज्ञैः प्रयुज्यते ।
तदर्थे यस्समारम्भस्तत् कार्यं परिकीर्तितम् ।।" नाट्यशास्त्र 21/25

(ब) **कार्यावस्थाएं :-**

फल की इच्छा वाले व्यक्ति के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की पॉच अवस्थाएं होती हैं – 1. आरम्भ 2. यत्न 3. प्राप्त्याशा 4. नियताप्ति 5. फलागम ।[1]

आरम्भ :-

प्रचुर फल की प्राप्ति के लिए उत्सुकता मात्र होना ही आरम्भ कहलाता है ।[2]

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य में भगवान शिव से उत्पन्न स्कन्द के द्वारा तारकासुर का वध विहित हो जाने के पश्चात् तारकाक्ष, कमलाक्ष एवं विद्युन्माली प्रभृति तारकासुर के तीनों पुत्रों ने कठोर तप करके ब्रह्मा जी को प्रसन्न कर वर प्राप्त किया कि उन तीनों की मृत्यु युद्ध में शत्रु के एक ही बाण से और एक ही साथ होगी । ब्रह्मा जी के तथास्तु कहने पर उन तीनों ने स्वर्ग, मर्त्य और पाताल लोक को अपना पृथक – पृथक निवास स्थान बनाकर त्रिलोकी को सन्तप्त करना प्रारम्भ किया । तब ब्रह्मादि देवता भगवान शिव जी से मिलकर उनसे त्रिपुरासुर को नष्ट करने की प्रार्थना की । और शिवजी ने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली ।[3] यही "आरम्भ" नामक कार्यावस्था है क्योंकि इसी समय से त्रिपुर – दहन रूपी फल के लिए उत्सुकता प्रारम्भ हो जाती है ।

यत्न :-

फल के प्राप्त न होने पर उसके लिए अत्यन्त वेग पूर्वक उद्योग करना ही प्रयत्न है ।[4]

देवताओं के आर्त्त बचनों को सुनकर शङ्कर भगवान के गण विक्षुब्ध होकर

---

1. अ. "अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
   आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ।।" द0रू0 1/19
   ब. नाट्यशास्त्र 21/6,7
2. औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे । द0रू0 1/20
3. श्रीकण्ठ0 17/1–34
4. प्रयत्नस्तु तद्प्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः ।। द0रू0 1/20

तुरन्त युद्ध हेतु उद्धत हो जाते हैं । और विश्वकर्मा ने युद्धार्थ दिव्य–रथ का निर्माण किया इस रथबन्धन में ब्रह्माण्ड की अनेक वस्तु उपकरणों की परिकल्पना हुई है ।[1] इस प्रकार त्रिपुरासुर को नष्ट करने के लिए जो भी उद्यम है वह "यत्न" नामक अवस्था है ।

प्राप्त्याशा :–

उपाय के होने पर विघ्न की शङ्.का होने से जो फल प्राप्ति की सम्भावना मात्र होती है वह "प्राप्त्याशा" नामक अवस्था होती है ।[2]

"श्रीकण्ठचरितम्" नामक महाकाव्य में दिव्य नायक चन्द्रमौलि भगवान् शङ्.कर द्वारा त्रिपुर–दहन रूपी फल प्राप्ति तो अवश्यम्भावी है । इसलिए इसमें "प्राप्त्याशा" नामक अवस्था के लिए अवकाश ही नहीं रह जाता है । क्योंकि भगवान शिव द्वारा त्रिपुरासुर को भस्म करने में कोई विघ्न उपस्थित नहीं हुआ ।

नियताप्ति :–

विघ्नों के अभाव से फल की निश्चित रूप से प्राप्ति ही नियताप्ति होती है[3]।

गणों का त्रिपुरासुर के साथ युद्ध का निश्चय कर भगवान् रूद्र रौद्र रूप धारण कर दिव्य रथ पर अधिरूढ़ होकर त्रिपुरासुर के संहार की कामना से युद्ध हेतु प्रस्थान किया । त्रिपुरासुर ने यह जानकर कि भगवान् शङ्.कर जी साक्षात् हमारे साथ युद्धार्थ रणभूमि में प्रस्तुत हो रहे हैं तब उन्होंने भी स्वसैन्यबल से सुसज्जित होकर उनके साथ युद्ध के लिए एकत्रित हो गये । देव–दानव के मध्य प्रलयंकारी युद्ध हुआ । राक्षसगण मर–मर कर स्वर्ग जाने लगे ।[4] इसी के साथ ही देवताओं की विजय सुनिश्चित हो गयी । इस प्रकार त्रिपुर – दहन रूपी फल की प्राप्ति निश्चित हो जाने पर "नियताप्ति" नामक कार्यावस्था हुई ।

---

1. श्रीकण्ठ0 सर्ग – 19,20
2. उपायापायशङ्.काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः । द0रू0 1/21
3. अपायाभावतः प्राप्तिर्नियाताप्तिः सुनिश्चितः ।। द0रू0 1/21
4. श्रीकण्ठ0 – गणप्रस्थानवर्णन 21वॉं सर्ग, दैत्यपुरीक्षोभवर्णन 22वॉं सर्ग, युद्ध वर्णन 23वॉं सर्ग ।

फलागम :–

पूर्ण रूप से फल की प्राप्ति होना फलागम या फलयोग है ।[1]

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य में – युद्ध स्थल में भगवान शिव द्वारा प्रयुक्त दिव्य बाणाग्नि से जलते हुए वे त्रिपुरासुर भस्मीभूत हो कर पश्चिमी समुद्र में जा गिरे त्रिपुर – दहन होना "फलागम" अवस्था है ।

(स) सन्धियाँ :–

पाँच अर्थप्रकृतियाँ तथा पाँच अवस्थाओं के संयोग से पाँच सन्धियां उत्पन्न होती है ।[2] 1. मुख सन्धि 2. प्रतिमुख सन्धि 3. गर्भ सन्धि 4. अवमर्श सन्धि 5. निर्वहण या उपसंहृति सन्धि आदि । इनका क्रमशः विवेचन इस प्रकार है –

मुख सन्धि :–

जहाँ अनेक प्रकार के प्रयोजनों और रसों को निष्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति होती है वहाँ मुख सन्धि होती है यह बीज और आरम्भ के संयोग से होती है ।[3] मुख सन्धि में वट–बीज के समान किसी घटना विशेष का अवभासन मात्र होता है । कथानायक को भविष्य में उस घटना से अत्यन्त फललाभ की सम्भावना रहती है । इस एक घटना विशेष से शतशः अनेकों घटनाएं, रस एवं लाभ उद्भूत होते चलते हैं ।

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य की मुख सन्धि ब्रह्मा द्वारा त्रिपुरासुर को वर प्रदान करना है । वर प्राप्ति के साथ ही भगवान् शङ्कर के द्वारा उन त्रिपुरासुर का

---

1. समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः । द0रू0 1/22
2. अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्था समन्विताः ॥
   यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्चसन्धयः ।
   अन्तरैकार्थसंबन्धः सन्धिरेकान्वये सति ॥ द0रू0 1/22, 23
3. मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।
   अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात् ॥ द0रू0 1/24

विनाश स्वःभावतः श्रृंखलाबद्ध हो जाता है । इस वर प्राप्ति से ही आगामी घटनाऐं एवं रसादि उद्भूत हा चलते हैं ।[1]

प्रतिमुख सन्धि :–

मुख सन्धि मे निर्दिष्ट बीज का जहाँ बिन्दु और प्रयत्न के अनुगम द्वारा कुछ लक्ष्य रूप में और अलक्ष्य रूप में उद्भेद होता है वहाँ प्रतिमुख सन्धि होती है ।[2] भूमि में आरोपित बीज के अंकुरित हो चुकने की भाँति किसी महाफल दायिका घटना का बीजारोपण हो चुकने पर उसे पल्लवित करने के लिए जो कुछ भी संगठन या व्यापारादि वर्णन किये जाते हैं, वे प्रतिमुख सन्धि के अन्तर्गत आते हैं । कुछ प्रयत्न फल की प्राप्ति में यथानिश्चित सहायक बन जाते हैं, परन्तु कुछ बाधक भी सिद्ध होते हैं ।

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य में प्रतिमुख सन्धि उन्नीसवें सर्ग में आई है और इसका विस्तार बीसवें सर्ग तक कहा जा सकता है । इसके अन्तर्गत भगवान् शड्.कर जी ने त्रिपुर वध की स्वीकृति देवताओं को दे दी । अब सफलता में कोई सन्देह नहीं रहा । देवगणों ने विविध रण सज्जा भी कर डाली । अतएव इन्द्रादि देवताओं को स्वदुःख निवारण का पूर्ण विश्वास हो गया ।[3]

गर्भ सन्धि :–

जहाँ दिखाई पड़ने के अनन्तर अदृश्य हो गये बीज का बार–बार अन्वेषण किया जाता है, वहाँ गर्भ सन्धि होती है । इसमें "पताका" कहीं होती है और कहीं नहीं भी होती है किन्तु "प्राप्त्याशा" अवश्य होती है ।[4] अन्तिम फल प्राप्ति के लिए किये गये कार्यों के परिणामस्वरूप असफलता एवं सफलता का द्वन्द चल निकलता है । फिर भी सफलता तो प्राप्त करना ही है । पुनः – पुनः लक्ष्यसिद्धि की ओर झुकना ही गर्भ

1. श्रीकण्ठ0 17/46–67
2. लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ।
   बिन्दुप्रयत्नानुगमात् . . . . ।। द0रू0 1/30
3. श्रीकण्ठ0 19/26–45 20/65
4. गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ।
   ....पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसम्भवः ।। द0रू0 1/36

सन्धि है ।

"श्रीकण्ठचरितम्" में 21वाँ और 22वाँ सर्ग गर्भसन्धि के अन्तर्गत आता है । त्रिपुर के प्रति देवगणों का प्रयाण तथा दैत्यों को अशुभ सूचना की प्राप्ति ही यहाँ दिखाई गई है । इसमे पताका का सर्वथा अभाव है ।

अवमर्श सन्धि :–

जहाँ क्रोध से, दुःख से, अथवा प्रलोभन से फलप्राप्ति के विषय में विमर्श किया जाता है तथा जिसमें गर्भ सन्धि के द्वारा प्रस्फुटित बीजार्थ का सम्बन्ध पाया जाता है, वहाँ अवमर्श या विमर्श सन्धि होती है ।[1] इस सन्धि में फल की प्राप्ति सुनिश्चित हो जाती है । सारा कार्यप्रवाह यहाँ से उतार की ओर चल देता है । क्षोभ कम हो जाता है । विजयोल्लास् की सुनहरी किरणें झांकने लगती हैं ।

प्रस्तुत महाकाव्य का 23वाँ सर्ग अर्थात् "युद्ध वर्णन" में अवमर्श सन्धि है । यहाँ सभी दैत्यगणों का विनाश हो जाता है और त्रिपुर दहन रूपी फल की प्राप्ति सुनिश्चित हो जाती है ।

उपसंहृति या निर्वहण सन्धि :–

जहाँ बीज से सम्बन्ध रखने वाले, मुखादि सन्धियों में बिखरे हुए प्रारम्भादि अर्थों का एक मुख्य प्रयोजन के साथ सम्बन्ध पाया जाता है , वहाँ निर्वहण सन्धि होती है ।[2] इसमें उद्भूत रस के सफल दर्शन के साथ–साथ अन्तिम फल–प्राप्ति एवं तज्जनित उल्लास का वर्णन आता है ।

---

1. क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद् वा विलोभनात् ।
   गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः ।। द0रू0 1/48
2. बीजवन्तों मुखाद्यार्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।।
   ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।
   द0रू0 1/48, 49

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" के चौबीसवें सर्ग के अन्तर्गत दैत्यों की स्त्रियों का त्रास, देवताओं का उल्लास एवं स्वगृह प्रस्थान आदि इस सन्धि में आते हैं।

(ख) **श्रीकण्ठचरितम् की कथावस्तु :–**

भगवान् शङ्कर से उत्पन्न स्कन्द के द्वारा तारकासुर का वध विहित हो जाने के पश्चात् तारकाक्ष, कमलाक्ष, एवं विद्युन्माली प्रभृति तारकासुर के तीनों पुत्रों ने कठोर तप करके ब्रह्मा जी को सन्तुष्ट किया। उनके तप से प्रभावित ब्रह्मा ने उन तीनों असुरों से वर मॉगने के लिए कहा। तब तारकासुर के तीनों पुत्रों ने अमरत्व की याचना की तत्पश्चात् ब्रह्मा जी ने कहा कि अमरत्व का वरदान उनकी शक्ति से बाहर है। तब उन दैत्यों ने आपस में मन्त्रणा करके यह वरदान मॉगा कि उन तीनों की मृत्यु युद्ध में शत्रु के एक ही बाण से और एक ही साथ हो। ब्रह्मा जी के तथास्तु कहने पर उन तीनों ने स्वर्ग, मर्त्य और पाताल लोक को पृथक – पृथक निवास स्थान बनाकर त्रिलोकी को सन्तप्त करना प्रारम्भ किया।

विश्वकर्मा के पुत्र मय नामक महाशिल्पी ने उन तीनों की रक्षा के लिए इच्छानुकूल पुरत्रय के निर्माण का आदेश दिया। शीघ्र ही समय से पुरत्रय का निर्माण हुआ। स्वर्णदुर्गयुक्त स्वर्ग लोक में तारकाक्ष, रजतदुर्गयुक्त मर्त्यलोक में कमलाक्ष, और लौह वाले पाताल में विद्युन्माली ने अपना स्थान चुना। सहस्त्रों वर्षों के पश्चात् वे तीनों क्षण भर के लिए आकाश में एकत्र होते थे। मृत्यु के भय से रहित होकर तारकासुर के तीनों पुत्रों ने देवताओं को सहस्त्रों वर्षों तक सताया। इस प्रकार तारकासुर के ये तीनों पुत्र त्रिपुरासुर के नाम से प्रसिद्ध हुए।

इन त्रिपुरासुरों ने ब्रह्मा जी का वरदान प्राप्त करके राक्षसी प्रवृत्ति से देवताओं को जब अत्यधिक संत्रस्त किया। तब देवता त्रस्त होकर ब्रह्मा जी के साथ देवाधिदेव शङ्कर जी के पास गये। शङ्कर भगवान् से देवताओं ने स्वदुःख निवारणार्थ त्रिपुरासुर

को भस्म करने के लिए प्रार्थना की । तब भगवान् शङ्कर जी के समक्ष चतुर्मुख ब्रह्मा जी ने त्रिपुरासुर की तपश्चर्या एवं स्वयं उनको वर प्रदान करने का वृतान्त निवेदित कर उनके विनाशार्थ प्रार्थना की । तत्पश्चात् भगवान् चन्द्रमौलि शङ्कर जी ने देवताओं को उपदेश दिया – कि आप सब अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित होकर त्रिपुरासुर पर आक्रमण करके उनको परास्त करिये । देवताओं ने कहा – त्रिपुरासुर के सैन्यबल की अपेक्षा हमारा सैन्यबल अल्प है अतएव उनसे हम लोग डरते हैं और उनको हम अजेय मानते हैं । देवताओं को शान्त करते हुए भगवान् शङ्कर जी ने कहा – मैं आप सबको अपना अतिरिक्त बुद्धि – बल प्रदान करता हूँ जिसके द्वारा आप सब त्रिपुरासुर को भस्म करने में समर्थ होंगे । किन्तु इन देवताओं ने महादेव द्वारा प्रदत्त उस अतिरिक्त बुद्धि बल से भी इस कार्य में अपने को असमर्थ पाकर देवाधिदेव शङ्कर जी से इस कार्य के निमित्त प्रार्थना की ।

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" में "परमेश्वर देवसमागमवर्णनम्" नामक सत्रहवें सर्ग के अन्तर्गत विविध दर्शनशास्त्रों के निर्दिष्टानुसार श्रेष्ठ पदार्थों एवं उपमानों को लेकर भगवान् शिवजी की स्तुति कर उन देवताओं ने देवाधिदेव परम शिवजी को सर्वश्रेष्ठ उद्घोषित किया । इस प्रकार कृपालु भगवान् किरीटचन्द्र परम् शिवजी ने उन देवताओं का भय एवं त्रास दूर करने के लिए त्रिपुरासुर के संहार का भार अपने ऊपर ले लिया ।

अतएव अष्टादश सर्ग "गणक्षोभवर्णनम्" नामक है जिसमें देवताओं के आर्त वचनों से शङ्कर भगवान् के गण विक्षुब्ध हो जाते हैं । इसी सर्ग में शिवगणनिष्ठ का त्रिपुरविषयक रौद्ररस का विभावानुभाव और व्यभिचारी भाव का निपुणता से वर्णन किया गया है ।

तत्पश्चात् "गणोद्योगवर्णनम्" नामक एकोनविंशति सर्ग में भगवान् शिवजी के गण युद्ध हेतु उद्धत हो जाते है । यहाँ भी शिवगणनिष्ठ का रौद्ररस का विभावानुभाव

और व्यभिचारीभाव का वर्णन विद्यमान है ।

"रथबन्धनवर्णनम्" नामक 20वें सर्ग में महाकवि मंखक ने भगवान् शड्.कर के युद्ध के निमित्त रथबन्धन आदि से सम्बन्धित वर्णन किया है । तब विश्वकर्मा ने शड्.कर भगवान की आज्ञा शिरोधार्य करके युद्ध हेतु दिव्य रथ का निर्माण किया । इस रथबन्धन में ब्रह्माण्ड की अनेक वस्तु उपकरणों की परिकल्पना हुई है । जैसे – पृथ्वी रूपी रथ और सूर्य एवं चन्द्र उस रथ के पहिये, आकाश का आवरण, चारो वेद उसके अश्व बने । मेरू पर्वत रथ का आधार , विष्णु चन्द्र एवं अग्नि रूपी बाण, मन्दर पर्वत का धनु, सर्प विशेष की वासुकि रूपी प्रत्यञ्चा इत्यादि की परिकल्पना हुई है । इस प्रकार सम्पूर्ण स्थावर – जंगम के द्वारा रथ के निर्माण की कल्पना की गई ।

"गणप्रस्थानवर्णनम्" नामक 21वें सर्ग में गणों का त्रिपुरासुर के साथ युद्ध का निश्चय कर भगवान् रूद्र का रौद्र रूप धारण कर युद्ध हेतु प्रस्थान का वर्णन किया है भगवान् रूद्र भी दिव्य रथ पर अधिरूढ़ होकर त्रिपुरासुर के संहार की कामना से युद्ध हेतु प्रस्थान किया ।

"दैत्यपुरीक्षोभवर्णनम्" नामक 22वें सर्ग में महाकवि मंखक ने तीनों असुरों के दुर्ग के क्षोभ का वर्णन दिया है । त्रिपुरासुर ने यह जानकर कि भगवान् शड्.कर साक्षात् हमारे साथ युद्धार्थ रणभूमि में प्रस्तुत हो रहे हैं । तब उन्होंने भी स्वसैन्यबल से सुसज्जित होकर उनके साथ युद्ध के लिए एकत्रित हो गये । इस सर्ग में त्रिपुरासुर निष्ठ का रौद्ररस का क्रोध के द्वारा स्थायीभाव के साथ विभावानुभाव एवं व्यभिचारी भाव का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है ।

"युद्धवर्णनम्" नामक 23वें सर्ग में दोनों पक्ष देव–दानव के मध्य प्रलयंकारी युद्ध का वर्णन किया गया है । दैत्यत्रय ने अत्यन्त क्रोध में आकर देवों का सामना किया

गणेश, कुमार, नन्दी, तण्डु और भृंगरिटी ने अदभुत बीरता दिखाई । राक्षसगण मर–मर कर स्वर्ग जाने लगे । नगाड़े भेरी तथा वीर विरूदावलियों आदि से आकाश मण्डल गूँज उठा । इस सम्पूर्ण सर्ग में त्रिपुरासुर एवं भगवान् शिव सहित उन गणों के युद्ध का वर्णन किया गया ।

"त्रिपुरदाहवर्णनम्" नामक 24वें सर्ग में युद्ध में भगवान शिव के द्वारा प्रयुक्त दिव्य बाणाग्नि से जलते हुए वे त्रिपुरासुर भस्मीभूत होकर पश्चिमी समुद्र में जा गिरे यहीं इस 24वें सर्ग में इस महाकाव्य का मूल कथानक समाप्त हो जाता है ।

"ग्रन्थकर्तृकविकालीनकविपण्डितादिवर्णनम्" नामक 25वें सर्ग में महाकवि मंखक ने प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" नामक महाकाव्य की रचना करके स्व अग्रज "अलंकार" द्वारा आयोजित विद्वत्परिषद् के समक्ष स्वकाव्य परीक्षणार्थ उपस्थित हुए । उस विद्वत्परिषद् में 32 विद्वानों का नामोल्लेख हुआ है । अतएव यह सर्ग ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बहुत उपयोगी है । उन विद्वानों के समक्ष काव्य पढ़कर सुनाना तथा काव्य की परीक्षा कराना ही इस राजदरबार में कवि मंखक के प्रविष्ट होने का हेतु है ।[1] परीक्षा में सफल होने पर अन्त में महाकवि मंखक ने स्वमहाकाव्य को भगवान् शड्.कर के चरणारविन्दों में समर्पित किया है ।[2]

(ग) श्रीकण्ठचरितम् की कथावस्तु के मूलस्त्रोत का अन्वेषण :–

लोकोपकारी भगवान शड्.कर के द्वारा त्रिपुर के भस्मीकरण का कथानक अत्यन्त प्राचीन है । इससे हमें भारतीय संस्कृति एवं आध्यात्मिक विचारों के दर्शन प्राप्त होते हैं ।

---

1. श्रीकण्ठ0 25/16,18
2. श्रीकण्ठ0 25/152

यह कथानक लगभग सभी पौराणिक ग्रन्थों में न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ प्राप्त होता है । लिंगपुराण, मत्स्यपुराण, शिवपुराण, भागवतमहापुराण, स्कन्दपुराण, तैत्तिरीयसंहिता, काठकसंहिता, महाभारत, शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, कौषीतकि ब्राह्मण इत्यादि में इस कथानक का वर्णन मिलता है ।

शतपथ ब्राह्मण में त्रिपुर दहन का कथानक इस प्रकार उल्लिखित मिलता है --

"परिव्राजपतिः कविः मंत्रप्रतीकः । अग्ने! तुम्हारे चतुर्दिक ही हम पुरों का निर्माण करते हैं । "परित्वाऽग्ने" एवं "त्वमग्ने द्युमिः " मन्त्र पढ़कर अग्नि की स्तुति करके, पर्यग्निकरण के द्वारा अग्नि को ही उस यजमान का रक्षक बनाते हैं । उसकी यह अग्निपुरी देदीप्यमान बनी रहती है । त्रिपर्यग्निकरण के द्वारा इसके त्रिपुरों का निर्माण करते हैं । पृथक–पृथक छन्दों से पृथक – पृथक विस्तृत रेखाओं का निर्माण करते हैं इसी से दूर–दूर पर बड़ी–बड़ी रेखायें होती हैं । रेखायें ही पुर हैं "[1]

जिस प्रकार शतपथ ब्राह्मण में त्रिपुर का कथानक संक्षिप्त रूप में प्राप्त होता है, इसी प्रकार "ऐतरेय ब्राह्मण"[2] एवं "कौषीतकि ब्राह्मण"[3] में भी उपलब्ध होता है । परन्तु तैत्तिरीय संहिता में त्रिपुर दहन का कथानक कुछ विस्तार से प्राप्त होता है --

"देव तथा असुर एक साथ रहते थे । वे एक दूसरे के विरोधी थे और आपस में एक दूसरे से स्वयं को बड़ा समझते थे । उन असुरों के तीन पुर थे । सबसे नीचे अयस्मयी अर्थात् लौहमयी पुरी थी, उसके ऊपर रजतपुरी और उसके भी ऊपर स्वर्णपुरी थी । देवता लोग असुरों की उन पुरियों को नहीं जीत सके । देवता यज्ञ के द्वारा उन्हे

---

1. श0ब्रा0 रत्नदीपिकाटीकोपेतं 6/3/3/25
2. द्रष्टव्य ऐ0ब्रा0 2/11 त्रिवेन्द्रसंस्करणम् 1942पृ0 231, 262
   प्रथम खण्ड षष्ठसप्तदशऽध्यायौपादटिप्पणीमऽवलोकनीयम् ।
3. कौ0 ब्रा0 2/310

जीतना चाहते थे । कहा भी है – जो ऐसा ही जानता है और जो नहीं , यज्ञ (उपसद) से महापुर को जीतते हैं । उन्होंने अग्नि को बाण बनाया, सोम को शल्य, तथा विष्णु को तीक्ष्णता – प्रदाता । उन्होंने कहा कौन इस बाण को छोड़ेगा, सबने कहा – "रूद्र" रूद्र ही सबसे क्रूर हैं, वही इसे छोड़ें । रूद्र बोले – मै वर माँगता हूँ कि मै पशुओं का अधिपति होऊँ , इसी से रूद्र ही पशुओं के स्वामी हैं । तब उस बाण को रूद्र ने छोड़ा । उन्होंने तीनों पुरों का भेदन करके , इन लोकों से असुरों को मार भगाया ।[1] "काठकसंहिता"[2] में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है ।

महाभारत के अन्तर्गत "कर्णपर्व" मे दुर्योधन ने शल्य के प्रति "त्रिपुरदहन" का सम्पूर्ण वृत्तान्त कहा ।[3] इसका कथानक एक प्रबन्ध काव्य की रूपरेखा प्राप्त कर लेता है । राका, अनुमती, कुहु एवं सिनीवाली कल्पित पृथ्वीरथ के देवविशेष अश्वों की लगामें हैं । असुरत्रय बाण से मारे जाकर पश्चिम समुद्र में जा गिरते हैं ।[4]

यद्यपि त्रिपुरदहन का कथानक महाभारत के "द्रोणपर्व" में भी मिलता है ।[5] किन्तु यहाँ इसका कथानक कुछ भिन्न रूप में है । "कर्णपर्व" में रथबन्धन की परिकल्पना अन्यान्य उपकरणों से की गई है जब कि "द्रोणपर्व" में इसके विपरीत अन्य उपकरणों से रथबन्धन की कल्पना की गई है । इसके अतिरिक्त तीनों पुरों के निवास स्थान के वर्षन में भी भिन्नता है ।

---

1. तै0 सं0 6/2/3/1–2
2. का0 सं0 24/10
3. महा0 क0प0 24वाँ अध्याय 4–121 पद्य ।
4. त्रैलोक्यसारं तमिषुं मुमोच त्रिपुरं प्रति ।
तत्सासुरगणं दग्ध्वा प्राक्षिपत्पश्चिमार्णवे ।।
महा0क0प0 24/120
5. महा0 द्रो0 प0 173 अध्याय 52–58 श्लोक ।

"कर्णपर्व" में वर्णित तीनों पु.ों का स्थान इस प्रकार है –

काञ्चनं दिवि तत्रासीदन्तरिक्षे च राजतम् ।
आयसं चाभवद्भूमौ चक्रस्थं पृथ्वीयते ॥
काञ्चनं तारकाक्षस्य किमासीन्महात्मनः ।
राजतं कमलाक्षस्य विद्युन्मालिन आयसम् ॥[1] इति च

किन्तु "द्रोणपर्व" मे तीनों पुरों का वर्णन इस प्रकार है –

असुराणां पुराण्यसंस्त्रीणि वीर्यवतां दिवि ।
आयसं राजतं चैव सौवर्णमपरं महत् ॥
आयसं तारकाक्षस्य कमलाक्षस्य राजतम् ।
सौवर्णं परमं ह्यासीद्विद्युन्मालिन एव च ॥[2]

"मत्स्यपुराण" में कथानक का यथेष्ट विस्तार हो गया है । इसमें अन्य पुराणों से पर्याप्त भेद भी आ गया है । इसमें मय प्रधान दैत्यराज तथा प्रतिनायक है । देवों से पराजित होकर वही तप करता है । विद्युन्माली एवं तारकाक्ष उसका अनुसरण करते हैं । मय साधारण ही नगरत्रय का निर्माण करता है । दैत्य स्वभावानुकूल मय, विद्युन्माली एवं तारकाक्ष तीनों असुर देवताओं पर अत्याचार करना प्रारम्भ कर देते हैं । मय दुःस्वप्न देखता है । नारद दुःस्वप्न के फलस्वरूप उसे बता देते हैं । कि पुरत्रय को नष्ट करने के लिए भगवान् शङ्कर जी स्वयं आ रहे हैं । मय युद्ध घोषणा कर देता है । तत्पश्चात् घमासान युद्ध छिड़ जाता है । नन्दी तारकाक्ष को मार देते हैं । विद्युन्माली राक्षसों को लेकर पश्चिम सागर में छिप जाता है । देवगण वहाँ भी पहुँच जाते हैं । विद्युन्माली भी युद्ध करते हुए मारा जाता है । मय उसे अमृतवापी में डालकर पुनः जीवित कर देता है । पुनः घनघोर युद्ध होता है । विष्णु भगवान् वृषरूप धारण करके उस अमृतवापी

---

1. महा० क०प० 24वाँ अध्याय 15–16
2. महा०द्रो०प० 137/52–53

का पान कर जाते हैं । फलस्वरूप कई दिन युद्ध के पश्चात् नन्दी विद्युन्माली को मार देते हैं ।[1]

दैत्यराज मय परम् शिवभक्त था । अतएव भगवान् शिवजी ने उसे बचाने की आज्ञा नन्दी को दी । नन्दी उसे एक गुप्त द्वार से बचाकर निकाल ले जाते हैं । [2]

भगवान् शिव जी एक नवीन सृष्टि बनाकर मय को भविष्य में निवास के लिए प्रदान करते हैं । शिव जी द्वारा छोड़ा गया बाण स्त्री–बच्चों सहित नगरत्रय को भस्म कर डालता है ।[3]

यहाँ कमलाक्ष के स्थान पर मय आया है एवं वही तारकाक्ष के स्थान पर प्रधान दैत्यराज है । मय शिव भक्त भी है । इसी कारण वह युद्ध में मरने से बचा लिया जाता है । इतना ही नही भगवान् शङ्कर जी उसके निवास के निमित्त एक सृष्टि का निर्माण कर देते हैं । वह उसका अधिपति बनकर सुखपूर्वक रहता है । भीषण कूटनीतिक युद्ध इस पुराण की विशेष कल्पना है ।

लिंगपुराण में रथबन्धन की कल्पना कुछ विशेष है ।[4] यहाँ भवानी भी युद्ध करने जाती हैं ।[5] शेष कथानक मत्स्य पुराण के समान ही है ।

---

1. यज्ञोपवीतमादाय विक्षेद च ननाद च ।
   वेन भिन्न तनुत्राणो विभिन्न हृदयस्त्वापि ।
   विद्युन्मालीमद्भूयौ वज्राहत इवानलः ।। म0पु0 140/36
2. श्रुत्वा तम्नन्दिवचनं दृढ़भक्तौ महेश्वरौ तैनेव
   गृहमुख्येणत्रिपुरादयसर्पितः ।। वहीं 170/52
3. सोऽपीषुः पत्रपुटवद् दग्ध्वा तन्नगरत्रयमौ ।। वहीं 140/53
4. धर्मो विरागो दण्डोऽस्य यज्ञा दण्डाश्रयास्मृताः ।
   दक्षिणाः सन्धयस्तस्य लौहा पञ्चदशाग्नयः ।। लिं0पु0 71/25
5. बाला बालपराक्रमा भगवती दैत्यान् प्रहर्त्तु ययौ ।। लिं0पु0 71/31

स्कन्दपुराण मे कथानक अत्यन्त संक्षिप्त है ।[1] इस पुराण में त्रिपुर नाम का केवल एक ही दैत्य है । वही शिव–सर से त्रिधा खण्ड़ित कर दिया जाता है । श्रीमद् भागवत्–पुराण में भी अत्यन्त संक्षिप्त रूप से कथानक का उल्लेख हुआ है ।[2]

(घ) "श्रीकण्ठचरितम्" की कथावस्तु का आधार शिवपुराण :–

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" की कथावस्तु "शिवपुराण" पर आधारित है । शिवपुराण में इस त्रिपुरवध कथानक का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है ।[3] जिसका संक्षिप्त कथानक निम्नलिखित रूप में है –

देवर्षि नारद ने ब्रह्मा से पूछा कि महावीर्य शिवजी ने एक ही बाण से उन त्रिपुर को कैसे मारा था । सनत्कुमार ने बताया कि शिवपुत्र स्कन्द के द्वारा तारकासुर के मारे जाने पर, तारकासुर के तीनों दैत्यपुत्र तारकाक्ष, विद्युन्माली, तथा कमलाक्ष ने ब्रह्मा जी को प्रसन्न करने के लिए सभी भोगों को त्यागकर सुमेरूपर्वत की कन्दरा मे घनघोर तप किया । तब सुरासुरगुरू ब्रह्मा जी ने प्रसन्न होकर उन्हें वर देना चाहा । तत्पश्चात् उन तीनों ने अमरत्व की माँग की, कि हम तीनों अजरामर हो जायें । अतएव ब्रह्मा ने कहा -- सर्वामरत्व तो है ही नहीं, आप इसे छोड़कर कोई अन्य अभीष्ट वर माँगो । तब उन दैत्यों ने तीन पुरों की माँग की । तारकाक्ष ने अभेद्य हैमपुर, कमलाक्ष ने रजत तथा विद्युन्माली ने वज्रायस मयपुर की याचना की ।

दैत्यों ने पुनः ब्रह्मा से कहा – जब यह त्रिपुर एकस्थ हो, मध्यान्ह में चन्द्रसूर्य के एकत्र स्थित होने पर, अभ्राच्छन्न आकाश में त्रिपुरों के अनुक्रम से दिखने पर, पुष्करावर्तादि

---

1. स्तुतिकृत्वा ययौवाग्निः पृष्ठतोऽनुययुः सुराः ।
   शरेणैकेनवै रूद्रो जघान तं महासुरम् ।।
   मायिनं तं त्रिधा भित्त्वा मायायुद्धेनशङ्करः ।
   पुररागात्पुरीमेतायवन्तीममरसेविताम् ।। स्क0पु0 5/43/47–48
2. श्रीमद्0 पु0 10/43/71
3. शिव0 पु0 2/5/1--12

काल मेघ जब वर्षा कर रहे हों और सहस्त्रों वर्षों के अन्त में हमारे मिलने पर ही, जब यह त्रिपुर मिल रहे हों, तब सर्वदेवमय कोई देव एक असम्भव रथ में बैठकर और वह रथ भी सभी उपकरणों से युक्त हो, एक असम्भाव्य काण्ड वाले बाण से हमारे नगरों को बीधे, वह हमारे स्थायी द्वेष न करने वाला हो तथा तपस्वी भी हो। दैत्यों के वे बचन सुनकर ब्रह्मा जी ने उनसे तथास्तु कह दिया और मय. को तीनों नगरों के निर्माण की आज्ञा दे दी। उसने असुरों के कथनानुसार नगरों का निर्माण कर दिया। वह त्रिपुरासुर स्वयं सुरक्षित रहकर देवताओं को पीड़ित करना प्रारम्भ किया। त्रिपुरों के तेज से दग्ध इन्द्रादि देव, दुःखी हो ब्रह्मा के पास गये। साष्टांग प्रणाम करके, देवताओं ने यथावसर स्वदुःख का निवेदन किया। तब ब्रह्मा ने कहा – आप सब उन दैत्यों से भयभीत न होकर शड्.कर भगवान के पास जाइये वही कष्टों का निवारण करने में समर्थ हैं।

तत्पश्चात् इन्द्रादि सभी देव महेश के स्थान पर पहुँचे। और भगवान शिवजी को साष्टांग प्रणाम कर त्रिपुर के बधार्थ प्रार्थना की। तब शड्.कर भगवान् ने कहा -- कि यह त्रिपुराधिप धर्मपूर्वक रहता है। सुरासुरों के द्वारा वे दैत्य अजेय हैं। वे मेरे भक्त भी हैं। मैं उन्हें कैसे मार सकता हूँ।

तब सभी देव शड्.कर भगवान् के पास से निराश होकर विष्णु भगवान् के पास गये। विष्णुजी ने देवताओं से कहा कि सत्य धर्म की स्थिति में दुःख नहीं हो सकता जैसे कि सूर्य के रहते अन्धकार नहीं रह सकता। तब देवताओं ने कहा कि आप शीघ्र ही त्रिपुरों के विनाश का उपाय कीजिये, एतदर्थ विष्णु भगवान् देवताओं के सहायतार्थ यज्ञ पुरूष का आह्वान् करके त्रिपुरों को नष्ट करने के लिए भेजा परन्तु यज्ञपुरूष पहुँचते ही त्रिपुराधिप के तेज में शलभवत् भस्मसात् हो गये। शेष यज्ञपुरूषों ने वापस हरि के पास जाकर सम्पूर्ण वृत्तान्त बताया। फिर विष्णु ने सोचा कि मैं यत्नपूर्वक दैत्यों को शिव भक्तिहीन बना दूँगा तब शिव उनका नाश कर दंगे।

इस प्रकार सोचकर विष्णु ने एक मायावी पुरूष उत्पन्न कर त्रिपुरों को धर्म भ्रष्ट करने के लिए भेजा । विष्णु के द्वारा प्रेरित उस वश्यात्मा ने शीघ्रता से पुर में प्रवेश किया । उस माया – ऋषि ने तब वहाँ स्वमाया प्रकट की । उस मायावी ने त्रिपुरों के वेद -- धर्म दूर कर दिये ।

तत्पश्चात् सभी देवता पुनः शङ्कर भगवान् के पास पहुँचे । शिवजी ने तब स्वीकार किया – मैं अधर्मनिष्ठ दैत्यों तथा त्रिपुरों का विनाश करूँगा इसमें संशय नही करना चाहिए । तब विश्वकर्मा ने शिवजी के लिए एक दिव्य रथ बनाया । ब्रह्मा अग्नि उस बाण की शल्य थी । चार वेद उसके चार अश्व थे । विश्व की समस्त वस्तुएं उस रथ में विद्यमान थी । इस प्रकार के रथ पर शिवजी विराजमान हुए । रथ के चलते ही भूमि कॉपने लगी, सकल महीधर डगमगा उठे । शेषनाग कॉप उठे, वे जैसे – तैसे उस समय पृथ्वी का भार धारण कर रहे थे ।

इस प्रकार भगवान् शङ्कर रथाधिरूढ़ होकर त्रिपुरों को मारने के लिए चल दिये । तब उनके साथ, देवगण भी हल, मूसल– भुशुण्ड़ादि आयुधों को धारण कर चल दिये । पुरत्रय को विनष्ट करने के लिए जाती हुई उस देव सेना की संख्या कौन कर सकता था । इस समग्र जगत को दग्ध करने वाले पिनाकी त्रिपुर को दग्ध करने जा रहे थे ।

तब शीघ्र ही समय पाकर त्रिपुर भी एकी भाव को प्राप्त हुए । त्रिपुरों के एकीभाव को प्राप्त होते ही देवादि–महात्माओं को बड़ा हर्ष हुआ । शुभ मुहूर्त में धनुष खींच , ज्या–निर्घोष करते हुए अपना नाम उच्च स्वर से बोलकर असुरों से सम्भाषण करके शिवजी ने उस विकराल बाण को छोड़ा । उसने त्रिपुरों में स्थित सभी को जला दिया । जैसे– कल्पान्त के समय में जगत् के सभी स्थावर–जंगम प्रलयाग्नि में जलकर भस्मसात् हो जाते हैं , वैसे ही विष्णुमय शर तथा अग्नि शल्य बाण– ज्वाला में त्रिपुर के बालवृद्ध वनिता जलकर भस्म हो गये । वहाँ जो दैत्य बन्धुओं सहित रूद्र की पूजा

करते थे, वे शिव–भक्त दैत्य शिव भक्ति के प्रभाव से गणत्व को प्राप्त हुए । तब ब्रह्मा हरि, देव, मुनि, किन्नर, गन्धर्व एवं मनुष्य आदि सभी शिवजी की प्रशंसा का गान करते हुए अपने -- अपने धाम को चले गये । गृहों में पहुँचकर सब परमानन्द को प्राप्त हुए ।[1]

(ड.) शिवपुराण की कथावस्तु से परिवर्तन एवं परिवर्धन :–

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य का मूल कथानक "शिवपुराण" में वर्णित "त्रिपुरदाह" कथानक से लिया गया है । किन्तु उस "त्रिपुरदाह" की सीधी सादी पुरातन कथा को महाकवि मंखक ने अपनी प्रतिभा एवं मौलिक कल्पना शक्ति के द्वारा अद्वितीय महाकाव्यत्व का स्वरूप प्रदान किया है ।

शिवपुराण में उल्लिखित "त्रिपुरवृत्तान्त" में दैत्यों की प्रभा से दग्ध इन्द्रादि देवता परस्पर दुःखी हो सर्वप्रथम ब्रह्मा की शरण में गये, ब्रह्मा जी ने बताया कि शिवजी ही उनका संहार करेंगे अतः उन्हें शिवजी की स्तुति करनी चाहिए । ब्रह्मा के वचनों से प्रेरित देवता शिवजी के समीप गये, शिव ने उन देवताओं को विष्णु से अपना कष्ट निवेदन करने का सुझाव दिया , तब देवगण विष्णु की शरण में गये, तत्पश्चात् विष्णु ने "त्रिपुरसंहार" के निमित्त देवताओं की अनेक प्रकार से सहायता की तथा अन्त में शङ्कर भगवान् ने उन त्रिपुरों का संहार किया ।

"त्रिपुरदाह" के इस प्रसंग में अनेकों ऐसे प्रसंग हैं जिनका "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य में वर्णित "त्रिपुरवध" में पूर्णतया अभाव है ।

शिवपुराण वर्णित त्रिपुर शिव जी के अनन्य भक्त हैं उनकी अपने प्रति भक्ति के कारण शिव उनका वध करने में असमर्थता व्यक्त करते हैं, तथा देवताओं से विष्णु

---

1. शि0पु0, रू0 स0 2, पं0 अध्याय 1 से 12 तक

के पास जाने का सुझाव देते हैं ।[1] दैत्य शिव के इतने अधिक भक्त हैं कि उन्हें शिव भक्ति से विमुख करने के लिए विष्णु को छल का सहारा लेना पड़ता है । विष्णु अपनी माया द्वारा दैत्यों की शिवभक्ति खण्डित करने के लिए अनेकों प्रयत्न करते हैं । सर्वप्रथम वे देवताओं के कार्य के निमित्त यज्ञों का स्मरण करते हैं तथा उन उपस्थित यज्ञों से देवताओं को परमेश्वर का यजन करने की आज्ञा देते हैं । देवताओं द्वारा यज्ञेश की स्तुति पर यज्ञकुण्ड से महाकाया वाले, शूल--शक्ति और गदा हाथ में लिए सहस्त्रों भूत प्रकट हुए, विष्णु ने उन भूतों को त्रिपुर विदीर्ण करने की आज्ञा दी । किन्तु वे भूत उनकी आज्ञा पूर्ण नहीं कर पाये तथा त्रिपुर तेज से भस्मीभूत हो गये ।[2]

भूतों के भस्म हो जाने के पश्चात् विष्णु ने अपनी माया से एक महापुरूष उन दैत्यों के धर्म में विघ्न उपस्थित करने के निमित्त प्रकट किया । विष्णु ने उसको मायामय शास्त्र पढ़ाया तथा उसे अपनी माया से दैत्यों को मोहित करने की आज्ञा दी ।[3] विष्णु की प्रेरणा से उस वशी ने शीघ्र त्रिपुर में प्रवेश कर माया फैलाई । किन्तु शिवजी के पूजन अर्चन के प्रभाव से सहसा वह माया त्रिपुर में न चल सकी । तब विष्णु ने नारद जी को स्मरण किया । मायापति भगवान् की आज्ञा से नारद भी उस पुर में प्रवेश कर उस मायिक से दीक्षित हुए । दीक्षित होकर नारद जी ने त्रिपुरपति के समीप जाकर उसी मायिक से दीक्षित होने के लिए प्रेरित किया । नारद की प्रेरणा से मोहित होकर उस दैत्यपति ने भी दीक्षा प्राप्त की ।[4] दैत्य राज द्वारा दीक्षा प्राप्त करते ही सब त्रिपुरवासी भी उसी धर्म में दीक्षित हो गये त्रिपुर ने उस मायिक यतीराज के कहने पर अपने यहाँ के लिंगाराधन, शिवपूजन तथा सब वेद धर्म दूर कर दिये । तब भगवान् विष्णु कृतार्थ होकर दैत्यों द्वारा शिव भक्ति त्याग का निवेदन करने शिव जी के समीप कैलाश पर्वत गये ।

---

1. मम भक्तास्तु ते दैत्या मया वध्या कथं सुराः ।।
   विचार्यतां भवद्भिश्च धर्मज्ञैरेव धर्मतः
   तावत्ते नैव हंतव्या यावद्भक्तिकृतश्च मे ।।
   तथापि विष्णवे देवा निवेद्यं कारणंत्विदम् ।।
   शि0पु0, रू0सं0 युद्धखण्ड अध्याय 3/6,7 श्लोक
2. शि0पु0, रू0 सं0 युद्धखण्ड अध्याय 3
3. शि0पु0 रू0सं0 युद्धखण्ड अध्याय 4
4. शि0पु0 रू0सं0 युद्धखण्ड अध्याय 5 –श्लोक सं0 49–52

उपर्युक्त सम्पूर्ण वृतान्त का "श्रीकण्ठचरितम्" में वर्णित त्रिपुरकथा में पूर्णतया अभाव है । महाकवि मंखक ने यहाँ पर त्रिपुरों को कहीं भी शिवभक्त स्वीकार नहीं किया है । फलस्वरूप तीनों असुरों को धर्मभ्रष्ट करने के लिए किसी मायावी मुनि के उत्पन्न होने और उसके कथानक में प्रवेश पाने का प्रश्न ही नहीं उठता । इससे देवों पर भी लॉछन हो जाता है कि वह "दैवत्व" स्वशत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए शिवभक्ति जैसे सद्धर्म का भी विघात कर सकता है । महाकवि मंखक ने कथानक के इस प्रथम परिवर्तन के द्वारा देवत्व एवं शिवभक्ति की रक्षा के साथ–साथ महाकाव्यत्व की भी रक्षा की है । इससे महाकवि मंखक की शिवजी के प्रति अगाध भक्ति का परिचय मिलता है जैसा कि उन्होंने अपने महाकाव्य में शिवभक्ति को प्रकट करते हुए शड्.कर चरित्र की दासी वाणी की रचना की । [1]

"श्रीकण्ठचरितम्" के समान महाभारत में भी दैत्यों की असीम शिवभक्ति और उस शिव भक्ति को खण्डित करने के लिए मायापति विष्णु द्वारा किये माया प्रपञ्चों का किंचितमात्र भी उल्लेख नहीं मिलता है ।

शिवपुराण में दैत्यों की भक्ति भंग हो जाने के पश्चात् देवताओं द्वारा स्तुति करने पर शरणागतवत्सल शिव ने त्रिपुरवध करने की आज्ञा स्वीकार्य की, उसी समय शिवा देवी अपने पुत्रों सहित उस स्थान में आई । तब नन्दी, कार्तिकेय और गिरिराज कन्या के साथ सम्पूर्ण देवताओं से स्तुति प्राप्त करते हुए शड्.कर भगवान् अपने मन्दिर में प्रवेश कर गये । सम्पूर्ण देवता महाव्याकुल और व्यग्रमन् होकर उस महाबुद्धि सम्पन्न देवाधिदेव के द्वार में स्थित रहे । उन व्यग्र देवताओं के अनेक प्रकार के कल–कल शब्द सुनकर महातेजस्वी कुम्भोदर देवताओं को प्रताड़ित करने लगा जिससे सब देवता हाहाकर करके वहाँ से भाग निकले । देव समाज में बड़ी व्याकुलता छा गई । तब विष्णु ने देवताओं को सान्त्वना देकर "ओम नमः शिवाय शुभं कुरू, कुरू शिवाय नमः ओम ।"

---

1. "पितृ भारतीविवृतपौष्टिकक्रियाक्रमभाणभक्तिसहवासिमानसः ।
इति स प्रबन्धयति मंखको गिरं विरचय्य शड्.कर चरित्र किंकरीम् ।।

श्रीकण्ठ0 3/78

इस मन्त्र से शङ्कर आराधना करने को कहा । विष्णु के सुझाव से सभी देवता पुनः शिवोपसना में तल्लीन हुए । तब साक्षात् शङ्कर ने फिर दर्शन दिया ।[1]

शिवपुराण वर्णित उपर्युक्त वृतान्त का "श्रीकण्ठचरितम्" में कोई उल्लेख नही किया गया है ।

शिवपुराण से यह स्पष्ट होता है कि त्रिपुर अत्याचारी नहीं थे और वे शिवभक्ति करते हुए सुख से धर्मपूर्वक राज्य करते थे । इन्द्रादि देव उन त्रिपुरों के तेज से अभिभूत हो गये । अतः देवों ने छलबल से त्रिपुर के विनाश का षड़यन्त्र रचना प्रारम्भ किया । इसके विपरीत महाकवि मंखक ने त्रिपुरों को स्वाभाविक रूप से अत्याचारी ही दिखाया है फलस्वरूप धार्मिक भावना से उनका दमन किया गया ।

शिवपुराण में देवताओं द्वारा निर्मित अलौकिक रथ पर युद्ध प्रयाण के लिए महाप्रभु सर्वदेवमय भगवान् शङ्कर जब आरूढ़ हुए उसी समय वेद सम्भव चारों अश्व शिर के बल भूमि पर गिर पड़े । तब पृथ्वी को धारण करने वाले वृषरूपी भगवान् धर्म ने स्थित होकर नीचे से क्षणमात्र को रथ उठाया । क्षणमात्र में वृषेन्द्र भी जंघाओ के बल से भूमि पर बैठ गये अतएव रथ पर चढ़े हुए भगवान् शङ्कर का तेज सहने में वह भी समर्थ न हुए ।[2] तब ब्रह्मा ने पुनः वेदाश्व को उठाकर उस श्रेष्ठ रथ में नियुक्त किया ।

"श्रीकण्ठचरितम्" में भगवान् वृषेन्द्र का कोई उल्लेख नहीं है और न ही अश्वों का गिरने का कोई उल्लेख है । "श्रीकण्ठचरितम्" में वर्णित दिव्य रथ के घोड़े महाभारत अथवा शिवपुराण के समान वेदाश्व नहीं हैं अपितु यहाँ तो शिवरथ के लिए स्वयं देवताओं

---

1. शि०पु० रू०सं० युद्धखण्ड अध्याय 7, श्लोक सं० 25–27 ।
2. शि०पु० रू० सं० युद्ध खण्ड अध्याय 9, श्लोक सं० 8–10

ने ही अश्वभाव को ग्रहण किया है ।[1] शिवपुराण में "रथबन्धन" की कल्पना विस्तृत होते हुए भी अस्पष्ट तथा नीरस लगती है । परन्तु महाकवि मंखक ने साधारण परिवर्तन के द्वारा ही अपनी मौलिक चमत्कार युक्त कल्पना से उसमें चारूत्व उत्पन्न कर दिया है यहाँ पर महाकवि ने "रथबन्धन कल्पना" को सर्वतोभावेन आह्लादिनी बनाया है ।

महाभारत के ही समान शिवपुराण में भी पाशुपतब्रत का उल्लेख किया गया । शिवपुराण में शिव युद्ध प्रयाण के समय देवताओं से उनका पशुत्व पृथक्--पृथक् कल्पित करने को कहते हैं तथा (शिव) को पशुओं का अधिपति स्वीकार करने को कहा ।[2] देवताओं द्वारा शिवजी को पशुपति मान लेने पर शिव पार्वती सहित त्रिपुर को मारने के लिए प्रस्थान करते हैं ।[3] "श्रीकण्ठचरितम्" में महाभारत तथा शिवपुराण उल्लिखित पाशुपतव्रत का अभाव है । "श्रीकण्ठचरितम्" में शिवजी त्रिपुर वध के लिए बिना किसी शर्त के युद्ध क्षेत्र की ओर अकेले ही प्रस्थान करते हैं, जबकि शिवपुराण एवं लिंगपुराण[4] में भगवान् शङ्कर पार्वती सहित युद्ध करने जाते हैं । महाभारत एवं मत्स्यपुराण आदि में त्रिपुरवध के लिए शिवजी के साथ पार्वती के जाने का उल्लेख नहीं है । "श्रीकण्ठचरितम्" में पार्वती नायिका प्रत्यक्ष रूप में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं करती हैं । पार्वती जी का व्यक्तित्व सर्वत्र शिवजी के व्यक्तित्व से समाच्छन्न है, वे भगवान् शङ्कर की आदर्श भारतीय धर्मपत्नी के रूप में हैं । वे स्वाधीन भर्तृका [5] एवं पद्मिनी मुग्धानायिका[6] के स्वरूप को धारण किये हुए हैं ।

---

1. "फेनच्छलात्पीतचरं मुखेभ्यो भरेण पीयूषमिवोद्गिरन्तः ।
   शक्रः प्रचेता, धनदो यमश्च तस्मिन्धृतिं धुर्यतया बबन्धुः ।।"

   श्रीकण्ठ0 20 / 19
2. शि0पु0 रू0 सं0 युद्धखण्ड अध्याय 9, श्लोक नं0 13,21
3. शि0पु0 रू0 सं0, युद्धखण्ड अध्याय 9, श्लोक सं0 27
4. लिं0 पु0 71/31
5. सा0द0 3/74
6. सा0 द0 3/58

त्रिपुरों की स्थिति में कुछ परिर्वतन किया गया है । शिवपुराण, महाभारत के कर्णपर्व में त्रिपुर स्वर्ण – आकाश और भूमि के निवासी हैं परन्तु महाकवि ने यहाँ पर स्वर्ण आकाश और पाताल का निवासी उन्हे बनाया है ।[1] इससे उनके हैमराजत आयस दुर्गो की संगति सरलता से लग जाती है ।

शिवपुराण में वर्णित "त्रिपुरवध" में सम्पूर्ण व्यवस्था हो जाने के पश्चात् जब शिव शर संधान कर त्रिपुर वध के लिए उद्यत हुए तो अंगूठे के अग्रभाग में स्थित हो गणेश जी उसमें विघ्न करने लगे । उसी समय आकाशवाणी हुई कि जब तक शिव गणेश पूजन नहीं करेंगे । तब तक त्रिपुरों को नष्ट नहीं कर सकते । आकाशवाणी सुनकर भगवान् शङ्कर ने भद्रकाली को बुलाकर गणेश का पूजन किया ।[2] पूजन करने पर तीनों पुर एक स्थान में आकर स्थित हुए । "गणेश–पूजन" का ऐसा कोई प्रसंग "श्रीकण्ठचरितम्" तथा महाभारत के "कर्णपर्व" में उपस्थित नहीं किया गया है ।

शिवपुराण में त्रिपुरों के प्रतिद्वन्दी सभी देवता हैं । परन्तु "श्रीकण्ठचरितम्" में त्रिपुरों के प्रधान प्रतिद्वन्दी और संहारक एक मात्र भगवान् शङ्कर जी हैं और ब्रह्मा इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, इत्यादि देवों को उपकरण एवं सहायक के रूप में प्रस्तुत किया है ।

शिवपुराण के अनुसार शङ्कर द्वारा छोड़े गये अग्नेय बाण से स्थावर--जङ्गम सब कुछ भस्म हो गया, लेकिन अविनाशी विश्वकर्मा मय दैत्य बचा रहा । वह देवताओं का विरोधी न था अतः शिव के तेज से रक्षित रहा ।[3] श्रीकण्ठचरितम्" और महाभारत में त्रिपुरदाह के पश्चात् दानव शिल्पी मय का कोई उल्लेख नहीं किया गया है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 17/59,60,61
2. शि0पु0 रू0 सं0 युद्धखण्ड अध्याय 10 श्लोक सं0 4--6
3. शि0पु0 रू0 सं0 युद्ध अध्याय 10 श्लोक सं0 39–40

"श्रीकण्ठचरितम्" मे त्रिपुरवध को शिवपुराण एवं अन्य ग्रन्थों से भिन्न रूप मे प्रस्तुत किया गया है । प्रस्तुत महाकाव्य में "त्रिपुरवध" का वृतान्त शिवपुराण तथा महाभारत के समान किसी के मुख से कथा के रूप में नही कहा गया है । अपितु कथा का प्रारम्भ स्वयं गणसभा में शिव प्रवेश के साथ होता है ।[1]परमेश्वर शिव अपनी सभा मे प्रवेश करते हैं । जहाँ देवगण पहले से ही शिव दर्शन के लिए उपस्थित है । सभी देवता शड्.कर भगवान् को नमस्कार करते हैं तत्पश्चात् शड्.कर भगवान् सभी देवताओ से कुशलप्रश्न पूछते हैं । शड्.कर भगवान् और सभी देवताओं का वार्तालाप आरम्भ होता है । वर्ण्य विषय त्रिपुरवध का इस अनूठे रूप में प्रारम्भ करके महाकवि मंखक ने अपने ग्रन्थ मे कथात्मकता के साथ ही काव्यात्मकता का भी समावेश किया है जो कि प्रशंसनीय है ।

शिवपुराण तथा महाभारत के समान "श्रीकण्ठचरितम्" में देवगण ब्रह्मा और विष्णु की शरण में नहीं भटकते अपितु वे अधीर देवता ब्रह्मा, विष्णु एवं अन्य देवता सहित परमेश्वर शड्.कर भगवान् की शरण का आश्रय लेने के लिए उनकी सभा में उपस्थित हो जाते हैं । भगवान शिव द्वारा उन देवताओं की हत--धैर्य अवस्था का कारण पूछे जाने पर ब्रह्म दुःख का कारण निवेदन करते हैं ।[2] ब्रह्मा द्वारा दैत्यों के अत्याचार का समाचार सुनकर शिवजी के गणों में क्रोध व्याप्त हो गया । इस प्रसंग में मंखक ने शिवगणों के क्रोध का इतना विस्तृत, सहज और मनोवैज्ञानिक चित्रण उपस्थित किया है ।[3] जो कि शिवपुराण अथवा महाभारत में उपलब्ध नहीं होता है । गणों के भीषण क्रोध को शिव ने शान्त किया और देवताओं को दैत्यों पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दी । देवताओं द्वारा अपनी असमर्थता व्यक्त करने तथा बहुत अनुनय विनय करने पर शिव स्वयं ही त्रिपुर संहार करने के लिए तैयार हो गये । और इस निमित्त एक दिव्य रथ का निर्माण करने की आज्ञा दी ।[4]

---

1. व्यग्राणां चतुघटनासु वीक्षमाणो नेत्रान्तैर्वदनममर्त्यमागधानाम् ।
नाथोऽथ प्रमथसभां प्रपद्य तस्थावासीनः शिरसि विलास्विष्टरस्य ।। श्रीकण्ठ0 17/9
2. श्रीकण्ठ0 17/17
3. श्रीकण्ठ0 17/46--66
4. श्रीकण्ठ 0 19/41-43

रथादि की व्यवस्था हो जाने के पश्चात् शिवसेना ने युद्ध के लिए प्रस्थान किया युद्ध प्रयाण के अवसर पर इस प्रसंग में अपने पतियों को छोड़ने में असमर्थ गणस्त्रियो की मनोदशा का स्वाभाविक वर्णन[1] इसके जैसा अन्यत्र दुर्लभ है । शिव पुराण में गण स्त्रियो का कोई वर्णन नहीं किया गया ।

प्रस्थान की हुई शिव सेना के दैत्य पुरी में पहुँचने पर दैत्यों का उग्र क्रोध दैत्य स्त्रियों की मनोव्यथा तत्पश्चात् दैत्य – दानवों के परस्पर भीषण युद्ध का सजीव तथा विस्तृत वर्णन है [2] युद्ध वर्णन के इस प्रसंग में देवताओं के साथ– साथ दैत्यों की वीरता का भी चित्रण है । शिवपुराण तथा महाभारत में युद्ध वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त रूप मे उपलब्ध होता है । वहाँ युद्ध वर्णन के प्रसंग में मात्र शिव जी द्वारा विष्णुमय आग्नेय बाण फेंकने का तथा वाणाग्नि में त्रिपुरों के भस्म होने का वर्णन है । इन ग्रन्थों में – श्रीकण्ठचरितम् महाकाव्य में वर्णित देव–दानव युद्ध वर्णन का अभाव है साथ ही दैत्यों की वीरता का भी कोई उल्लेख शिवपुराण में नहीं किया गया है ।

भीषण युद्ध के मध्य शिवजी ने विष्णुमय आग्नेय बाण से त्रिपुरों को भस्म कर दिया, और उद्देश्यपूर्ति हो जाने पर अपने निवास स्थान में पहुँचकर शिवजी ने देवताओं को मुक्त कर दिया ।[3] इस प्रकार "श्रीकण्ठचरितमम्" में "त्रिपुरवध" कथानक का महाभारत के समान "त्रिपुरदाह" के साथ समापन हो जाता है ।[4] इस प्रकार स्पष्ट है कि "श्रीकण्ठचरितम्" में उल्लिखित "त्रिपुरवध" का ही विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है । इसमें शिवपुराण वर्णित अवान्तरकथाओं का अभाव है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 21/20–29
2. श्रीकण्ठ0 सर्ग 22, 23
3. श्रीकण्ठ0 सर्ग – 24
4. श्रीकण्ठ0 24/44 – महा0 क0प0 अध्याय 27/41

महाकाव्यांगो की पूर्ति करने के लिए महाकवि मंखक को इसी "त्रिपुरदाह" कथानक को लेकर बहुत परिवर्तन , परिवर्धन एवं विस्तार करना पड़ा । अन्य महाकवियों की तरह इन्होंने भी भगवान शङ्कर प्रधान नायक के निवास स्थान "कैलास" का वर्णन किया है तृतीय सर्ग में स्वपरिचय दिया । साधारण बसन्त वर्णन से लेकर दोलाक्रीड़ा, पुष्पावचय, जलक्रीड़ा , सन्ध्यावर्णन, चन्द्रोदयवर्णन, पानकेलि, एवं प्रभात वर्णन आदि बहुत सुन्दर प्रस्तुत किया है ।

सम्पूर्ण महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" की समीक्षा करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि मंखक ने बिना कोई विशेष परिवर्तन – परिवर्द्धन के इस कथानक को लेकर महाकाव्यत्व के नियमों का पालन करते हुए स्वकाव्यकौशल के द्वारा इस महाकाव्य को मौलिक स्वरूप प्रदान कर हृदयंगम बना दिया है ।

चतुर्थ अध्याय

"श्रीकण्ठचरितम्" का पात्र–परिचय– चरित्र चित्रण एवं नायिकादि विश्लेषण

श्रीकण्ठचरितम् का पात्र–परिचय – चरित्र चित्रण एवं नायिकादि विश्लेषण :–

शिवपुराण की कथा "त्रिपुर दहन" पर आधारित "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य में लगभग सभी प्रमुख पात्रों को चित्रित किया गया है । ये विविध पात्र हैं – शिव, पार्वती त्रिपुरासुर, ब्रह्मा, विष्णु , इन्द्र, वरूण, कुबेर, यम, गणेश कुमार, तण्डु, भृंगिरिटी इत्यादि। इनमें से शिव, पार्वती, त्रिपुरासुर, ब्रह्मा, विष्णु इत्यादि के चरित्र पर विशेष प्रकाश डाला गया है तथा "त्रिपुरदहन" में इन पात्रों से सम्बन्ध रखने वाली प्रायः सभी घटनाओं को इसमें रखने का प्रयास किया गया है । किन्तु अन्य पात्र यथा इन्द्र, वरूण, कुबेर, यम, गणेशकुमार, तण्डु, भृंगिरिटी इत्यादि से सम्बन्धित घटनाओं के वर्णन इसमें अत्यल्प हैं, जिसके कारण इन पात्रों के व्यक्तित्व तथा चरित्र पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है ।

(क) **नायक का स्वरूप :–**

अब सर्वप्रथम यह देखना है कि नायक का स्परूप क्या है, वह किस प्रकार का होना चाहिए । इसका लक्षण कई विद्वानों ने अलग अलग दिया है ।

किसी कथा में जिन पात्रों का उल्लेखमात्र होता है अथवा जो पात्र कथाप्रवाह को गतिशील करने में अत्यल्प योगदान देते हैं, उनमें से कोई पात्र कथा का नायक नहीं हो सकता है । दुष्ट चरित्र वाले जो पात्र होते हैं, वे कथाप्रवाह में सहायक होने पर नायक नहीं हो सकते, क्योकि वे प्रतिनायक की कोटि मे आते हैं । नायक ऐसा व्यक्ति होता है, जो अनेक सद्गुणों से युक्त होता है, दुर्गुणों का जिसमें अभाव होता है अथवा अत्यल्प दुर्गुण होते हैं । जो आदि से लेकर समाप्तिपर्यन्त कथावस्तु में विद्यमान रहता है, तथा जिसके लिए ही समस्त उद्योग होते हैं । काव्यशास्त्रियों ने नायक के स्वरूप तथा गुणों का वर्णन इस प्रकार किया है –

"नायक विनीत, मधुर, त्यागी , चतुर, प्रिय बोलने वाला, लोकप्रिय, पवित्र, वाक्पटु , प्रसिद्ध वंश वाला, स्थिर, युवा, बुद्धि उत्साह स्मृति प्रज्ञा कला तथा मान से

युक्त, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रज्ञ, और धार्मिक होता है।"[1] तथा

"दानी, पुण्यशाली, कुलीन, दक्ष, लोकप्रिय, तेजस्वी, विदग्ध, शीलवान्, रूप यौवन और उत्साह से युक्त और श्रीमण्डित पुरूष काव्य में नायक होता है।"[2]

नायकत्व के निर्धारण के सम्बन्ध में भरतमुनि का स्पष्ट कथन है कि जो आपत्ति या किसी और कष्ट को पाकर पुनः अभ्युदय प्राप्त करता हो तथा जिसकी अनेक पुरूषों की तुलना में मुख्यता हो उसे नायक समझना चाहिए।"[3]

उपर्युक्त कथनों के आधार पर "श्रीकण्ठचरितम्" में निर्विवादरूप से "शिव" दिव्य नायक सिद्ध होते हैं। शिव अत्यन्त लोकोपकारी, शूर, क्षमाशील, अपने वचन पर दृढ़ रहने वाले हैं। इसके अतिरिक्त काव्य का आधिकारिक इतिवृत्त शिव से ही सम्बद्ध है, इसलिए शिव के चरित से ही कथा को गति मिलती है एवं कथा का प्रवाह बना रहता है। शिव से सम्बद्ध, काव्य में अभिव्याप्त, इतिवृत्त ही यहाँ आधिकारिक इतिवृत्त है। यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु के चरित से कथा के बीच बीच में रोचकता आती है, परन्तु कथा को गति नहीं प्राप्त होती है। इसलिए वे काव्य में सर्वप्रमुख पात्र या नायक नहीं हो सकते अतएव महाकवि मङ्खक ने शिव को लेकर ही कथा का प्रारम्भ किया है, तथा उनको "त्रिपुरदहन" कथा का केन्द्रबिन्दु मानकर सम्पूर्ण कथा लिखी है। इस प्रकार यहाँ शिव को ही नायक के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। और इसीलिए महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" का नामकरण भी इसके नायक "शिव" के नाम पर किया गया है।

---

1. नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
   रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा॥
   बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामान समन्वितः।
   शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥ – दशरूपक 2/1,2
2. त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
   दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान् नेता॥
   – सा0द0 3/30
3. व्यसनी प्राप्य दुःखं वा युज्यतेऽभ्युदयेन यः।
   तथा पुरूषबाहुल्ये प्रधानो नायकः स्मृतः॥ नाट्यशास्त्र 34/23

(ख) **नायक के भेद :–**

काव्यशास्त्रियों द्वारा नायक के चार मुख्य भेद बताये गये हैं ।[1] – 1. धीरोदात्त 2. धीरोद्धत 3. धीरललित 4. धीरप्रशान्त । नाट्यशास्त्र के अनुसार देवता धीरोद्धत, राजा धीरललित, सेनापति और मन्त्री धीरोदात्त तथा ब्राह्मण और वैश्य धीरप्रशान्त नायक होते हैं ।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ नायकों के विभिन्न स्वरूपों का औपचारिक रूप से वर्णन कर दिया गया है, क्योंकि परवर्ती लक्षणग्रन्थों दशरूपक साहित्यदर्पण इत्यादि में धीरप्रशान्त नायक के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के नायकों के स्वरूप तथा गुणों का भिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है । नाट्यशास्त्र में देवता को धीरोद्धत कहा गया है जबकि परवर्ती ग्रन्थों में धीरोद्धत की परिभाषा कहा गया है जबकि परवर्ती ग्रन्थों में धीरोद्धत की परिभाषा अहड्.कारी, चञ्चल, क्रोधी, दर्पयुक्त, माया और कपट में तत्पर तथा आत्मश्लाधा करने वाले के रूप में की गई है ।[3] इस प्रकार धीरोद्धत नायक में अनेक दुर्गुण होते हैं, किन्तु देवताओं में दुर्गुणों का अभाव माना जाता है, अतः देवता को धीरोद्धत नायक कैसे माना जा सकता है ? जिन महाकाव्यों, नाटकों आदि में देवता नायक हैं, वहाँ उन्हें धीरोदात्त या धीरप्रशान्त माना गया है, धीरोद्धत नहीं । नाट्यशास्त्र में राजा को धीरललित

---

1. क) धीरोदात्तो धीरोद्धतः स्याद् धीरललितस्तथा ।
   धीरप्रशान्त इत्येवं चतुर्धा नायकः स्मृतः ।। अग्निपुराण 337/37,38

   ख) धीरोद्धता धीरललिता धीरोदात्तास्तथैव च ।।
   धीरप्रशान्त काश्चैव नायकाः परिकीर्तिताः । नाट्यशास्त्र 34/18,19

   ग) भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् । द0रू0 2/3

2. देवाः धीरोद्धता ज्ञेयाः स्युर्धीरललिता नृपाः ।।
   सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ ।
   धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणावणिजस्तथा ।। नाट्यशास्त्र 34/19,20

3. क) दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः ।।
   धीरोद्धतस्त्वहड्.कारी चलश्चण्डो विकत्थनः । दशरूपक 2/5,6

   ख) मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहड्.कारदर्पभूयिष्ठः ।
   आत्मश्लाधानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः ।। सा0द0 3/33

तथा मन्त्री सेनापति आदि को धीरोदत्त बतलाया गया है । यद्यपि इसमें सन्देह नहीं है कि राजा धीरललित नायक हो सकता है, किन्तु राजा धीरोदात्त नायक भी अवश्य हो सकता है क्योकि परवर्ती लक्षणकारों ने धीरोदात्त नायक का जो महासत्त्व आदि लक्षण बताया है ।[1] वह अनेक महाकाव्यों नाटकों आदि में नायक भूत राजा के ऊपर पूर्णरूपेण घटित होता है ।[2] अतः राजा को केवल धीर ललित कहना उचित नहीं लगता है । जिन रचनाओं में राजा धीरललित नायक के रूप में चित्रित किये जाते हैं,[3] वहाँ प्रायः मन्त्री आदि में धीरोदात्त के गुण विद्यमान होते हैं, क्योकि धीरललित नायक का जो लक्षण बतलाया गया है, उसके अनुसार वह चिन्तारहित तथा विभिन्न कलाओं में आसक्त होता है ।[4] और ऐसा तभी सम्भव है, जब सुयोग्य मन्त्री आदि उसके योग क्षेम की सिद्धि कर दी जाती है ।[5] इस प्रकार के मन्त्री अदि धीरोदात्त के गुणों से युक्त होते हैं । अतः नाट्यशास्त्रकार का मन्त्री आदि को धीरोदात्त कहना असङ्गत नहीं है, किन्तु राजा को केवल धीरललित बतलाना अनुचित प्रतीत होता है । धीरप्रशान्त नायक के लक्षण के विषय में नाट्यशास्त्रकार तथा परवर्ती लक्षणकारों में कोई मतभेद नहीं है । सभी ने सामान्य गुणों से युक्त द्विजादि को धीरप्रशान्त कहा है ।[6]

---

1. महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ॥
   स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः । दशरूपक 2/4,5 तथा भावप्रकाशन 4/114

2. द्रष्टव्यम् – रघुवंशमहाकाव्यम् अभिज्ञानशाकुन्तलनाटकञ्च ।

3. "रत्नावली" नाटिका का नायक वत्सराज उदयन धीरललित नायक है । उसके राज्य का समस्त भार उसके योग्य सचिव पर है –
   "राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तोंभरः........।" – रत्नावल्याम्

4. क) निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः । द०रू० 2/3
   ख) निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात् । सा०द० 3/34

5. सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वाच्चिन्तारहितः .....।
   द०रू० वृत्ति 2/3

6. क) धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजस्तथा ॥ – नाट्यशास्त्र 34/20
   ख) सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः । द०रू० 2/4
   ग) सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरशान्तः स्यात् – सा०द० 3/34

वस्तुत. नाट्यशास्त्र में नायक के प्रकारों का उल्लेख मात्र किया गया है, किन्तु उन प्रकारों (धीरोद्धत आदि) की स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई है । वहाँ सामान्य रूप से देवता इत्यादि को धीरोद्धत इत्यादि कह दिया गया है ।

(ग) **धीरोदात्त नायक की विशेषता :–**

आचार्य विश्वनाथ ने धीरोदात्त नायक के रूप में भगवान् रामचन्द्र जी तथा महाराज युधिष्ठिर का उदाहरण दिया है ।[1]

धीरोदात्त नायक का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है -- "उत्कृष्ट अन्तःकरण वाला अत्यन्त गम्भीर क्षमाशील, आत्मश्लाघा न करने वाला, स्थिर, अहंभाव को विनय आदि से दबाकर रखने वाला तथा दृढ़व्रती नायक धीरोदात्त होता है ।[2] यहाँ उत्कृष्ट अन्तःकरण (महासत्त्व) का अर्थ है – जिसका अन्तःकरण शोक क्रोध आदि से अभिभूत नहीं होता है । अतः धीरोदात्त नायक सुख--दुःख इत्यादि द्वन्द्वों को सहन करने में समर्थ होता है, इसीलिए वह अपनी प्रशंसा नहीं करता है तथा उसका गर्व नम्रता से छिपा होता है । स्वीकृत बात का निर्वाह करने वाला दृढ़व्रती कहलाता है । स्थिरता रूपी गुण किसी भी प्रकार के नायक में सामान्य रूप से होता है, किन्तु धीरोदात्त नायक में यह गुण अन्य नायकों की अपेक्षा अधिक होता है, इसीलिए यहाँ विशेष लक्षण (धीरोदात्त–लक्षण) में "स्थैर्य" का पुनः कथन किया गया है । धीरोदात्त नायक में गाम्भीर्य एवं क्षमाशीलता अवश्य होती है । धीरोदात्त तथा धीरोद्धत्त नायकों के गुण एक दूसरे के सर्वथा विपरीत होते हैं । एक में स्थैर्य एवं आत्मश्लाघा न करने का भाव होता है तथा दूसरे में आत्मश्लाधा का ही भाव होता है तथा एक क्षमाशील होता है तो दुसरा क्रोधी । एक का अहङ्कार विनय

---

1. "तत्र धीरोदात्तः यथा – रामयुधिष्ठिरादिः ।" सा0द0 वृत्ति 3/32
2. क) दशरूपक 2/4,5 तथा भावप्रकाशन 4/114
   ख) अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः ।
   स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः कथितः ।। – सा0द0 3/32

से ढका होता है, किन्तु दूसरा अत्यन्त अहड्.कारी होता है । धीरोदात्त का धीरप्रशान्त से इस प्रकार का विरोध नहीं होता है, किन्तु इन दोनों के गुणों में कुछ भिन्नता होती है ।

अस्तु यहाँ पर महाकवि मड्.खक के महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" मे धीरोदात्त दिव्यनायक लोकोपकारी भगवान् शड्.कर का विविध गुणों से परिपूर्ण चरित्र प्रस्तुत है

§1§ **दिव्य नायक शिवः-**

शिव भक्त महाकवि मड्.खक ने "नमस्कार वर्णन" नामक प्रथमसर्ग में विविध देवताओं का स्तुत्यात्मक मंगलाचरण प्रस्तुत किया है । यहाँ सर्वप्रथम भगवान् शिव के तृतीय नेत्र का वहन्यात्मक स्तुति की है । शिव का कामदेव को भस्मीभूत करने वाला तृतीय नेत्राग्नि पुराण प्रसिद्ध है । "श्रीकण्ठचरितम्" के मंगलाचरण में महाकवि ने लोकोपकारी शड्.कर भगवान् के तृतीयनेत्राग्नि की स्तुति की है । यही तृतीयनेत्राग्नि कामदेव को क्षणमात्र में पतंगे के समान भस्मीभूत कर देने वाला है । भगवान् खटवाड्.गी का वह नेत्रशिखिप्रदीप विजयी हो जिसके निकट किरीटेन्दु की किरणेंमात्र उस प्रदीप के परिवेश की शोभा धारण करती हैं । भगवान् त्रिशूली की वह लोचनपावक आपके पापों को नष्ट करे एवं समृद्धि को बढ़ावे कि जो बिना धूम के भी रति के सतत् अश्रुपात का सूत्रधार बन गया । लोक में वैसे सर्वत्र कार्य-कारण भाव का सम्बन्ध देखा जाता है परन्तु यहाँ पर शिव का नेत्राग्नि निर्धूम लोकोत्तर प्रभावशाली है जो कि काम का वध करके रति के नेत्रों में अश्रुप्रवाह उत्पन्न कर पति के मृत्यु की सूचना का सूत्रधार बन गया है ।[1]

---

1. जीयात्स्कृतानड्.गपतड्.गदाहः खटवाड्.िगनो नेत्रशिखिप्रदीपः ।
यस्यान्तिके शुभदशा निवेशाश्रियं किरीटेन्दुकराः श्रयन्ते ।।
तनोतु भूतिं दहतादधानि स शूलिनो लोचनपावको वः ।
धूमानभिज्ञोऽपि रतेरजस्रमश्रुस्रुतेर्योऽजनि सूत्रधारः ।।
श्रीकण्ठ0 1/1,2

भगवान् मृड के भावस्थलीरंगतल में ताण्डवनृत्यकर्ता पावक आपकी रक्षा करे, उस पावक में ही रतिपति ने अपने शरीर को उन्मालकवत् भस्म कर दिया । शिव का वह नेत्राग्नि आपको सुख प्रदान करे कि जिस ज्वालावलीपल्लवकेलितल्प पर बिना रति के भी कामदेव सो गये ।[1] जो सघन रूप में भस्म धारण किये हैं ऐसे शिव भगवान् आपके पापों को विनष्ट करें । शड्.कर अपने शरीर के सभी अड्.गों में ऐसे सर्पो को मानों कञ्चुक के समान धारण किये हैं । जो कि अपनी मुक्त को त्याग कर निर्मोकपट्ट हो गये हैं । [2] जो देव गड्.गा को सार्धचन्द्रा बनाते हैं, जो ब्रह्म के शिरच्छेदन का हेतु है, जो सर्पो से स्वशरीर को आभूषित किये रहते हैं । श्लेषार्थ है जो पण्डित गणों को अर्धचन्द्र (धक्का) देते हैं, जो पुराण कवि के अपमान का कारण है और जो विविध अन्नपानादि से अपने शरीर के पोषण में ही सदैव लगे रहते हैं, वे सतत् सेवनीय हैं ।[3] सर्प समूह जिनका आभूषण है ऐसे शिव के प्रति सुवर्ण वृष्टि करने वाले सफल मेघ, मरूत, आदि प्रणाम करते हैं , वह नील कण्ठ भगवान को मैं "कवि" स्तुति करता हूँ ।[4]

भर्ग की भालभित्ति की सीमान्त शोभा सा स्वाहापति अग्निदेवता आपके पापों को भस्म करे । उसकी ही तापकता के कारण प्रशुष्यमाण किरीटचन्द्र कभी पूर्णता को प्राप्त नहीं होता । उमापति की वह शराग्नि आपके पापों को क्षीण करे जो वडवाग्नि के समान शत्रुनारियों के नेत्राम्बु से कभी तृप्त नहीं होती ।[5] शिरस्थ आकाश गड्.गा की तरंगों के निनाद के मध्य विद्यमान शेखरचन्द्र की मैं "कवि" स्तुति करता हूँ जो कि मानो शिव के द्वारा सिखाये गये उनके अटट्हास का तरंगनाद के व्याज से अभ्यास सा कर रहा है । भगवान् शिव के शिर में जो चन्द्र प्रभा युक्त है, जो किरीटचन्द्र

1. श्रीकण्ठ0 1/3,4
2. श्रीकण्ठ 0 1/10
3. श्रीकण्ठ0 5/47
4. श्रीकण्ठ0 1/12
5. श्रीकण्ठ0 1/5,6

की कान्ति के प्रवाहित द्रव से उनका शिर गीला है । जिनकी जटाओं से भगीरथी माँ निकली हैं ऐसे शिव को मैं "कवि" नतमस्तक हूँ ।[1] जिनका बाघम्बर सायंकाल के ताण्डवनृत्य के समय बाघम्बरोत्थपवन के झोंकों से उड़ाये गये शिरगड्.गा के जलबिन्दुओं से मुक्त हो, आज भी गजमुक्ताओं से संयुक्त ही दिखता है । सभी देवों में महादेव के हाथ में सुधाकलश है । जिनके शिर से तीव्र वेग वाली गड्.गा जी प्रवाहित होती हैं । मुक्ता – विरक्ता जिनके चरणों में आश्रय लेती है । नगजाशैलपुत्री जिनकी धर्मपत्नी हैं, जिनके गले सर्पो की माला है ऐसे आश्चर्यकारी मायारूपी महेश्वर को मैं "कवि" वर्णित करता हूँ ।[2]

महाकवि मड्.खक ने शिव को महादानी के रूप में भी चित्रित किया है । ऐसे नेत्राग्नि शम्भु की मैं स्तुति करता हूँ जो दानी–महादानी हैं अपनी देह तक दान कर देते हैं ।[3] सभी देवता जिनकी वन्दना करते हैं । ऐसे शिव के चरणों की वन्दना शक्र के शिर पर लगे हुए पारिजात पर रहने वाले भ्रमर करते हैं । इन्द्र जिनके चरणों पर अपना शिर झुकाते हैं और जो अष्टमीचन्द्र को शोभा के लिए धारण करने वाले हैं ।[4] जो "विरूपाक्ष" नाम से प्रसिद्ध हैं । लोकत्रय–गमन समर्थ एक बैल जिनका वाहन है, जो वक्षस्थल में सूर्य चन्द्र को धारण करने वाले हैं । वे भगवान् "स्थाणु" आयुध धारण करके हमारे पापों को विनष्ट करें ।[5] जिनके चरणों पर विष्णु ने अपनी वनमाला के पुष्प चढ़ाये तथा स्वकचमेघविद्युत से उन चरणों की नीराजना की । जिन

---

1. श्रीकण्ठ0 1/9,11
2. श्रीकण्ठ0 5/10,13
3. श्रीकण्ठ0 1/13
4. श्रीकण्ठ0 5/1
5. श्रीकण्ठ0 5/25

शिव की पूजा करते समय ब्रह्म द्वारा सब पुष्प समाप्त हो जाने के कारण, बड़े क्षोभ के साथ अन्त में स्वआसन् कमल से भी उनकी पूजा करना चाहते हैं । भक्तिवश पदमाश्रय चतुर्मुख ब्रह्म ने हर्षपूर्वक शिव की प्रतिदिन वन्दना की ।[1]

मड्.खक ने शिव के ताण्डव नृत्य का वर्णन भी किया है । कि नृत्तोत्सव काल में जिनका दण्डपाद गगनसागर की सेतुमुद्रा का रूप धारण करता है और तारक जिसके स्वेदबिन्दु से लगते हैं- जो अपने शिर पर ब्रह्म के मुण्ड को धारण करते हैं जो मुण्ड सर्पो की फूत्कार से काला हो रहा है ऐसे अलौकिक शिव हैं जो ताण्डव नृत्य करते समय अत्यन्त क्षुभित लोल शरीर को धारण करते हैं । उनके शरीर से उस समय बलात् शुभ्र विभूति चतुर्दिक विकिरित होती रहती है । ऐसा विदित होता है कि मानों त्रिलोक की विपदाओं को दूर हटाकर अब वे शिव शिरोगड्.गां का जल जो कि स्वतः भी शरीर के तीव्र विक्षेप के कारण कणशः विकरित हो रहा है उसके साथ साथ भस्म छिटक रहे हैं ।[2]

महाकवि मड्.खक ने भगवान के हरिहर स्वरूप और नरसिंह रूप का भी चित्रण किया है । कैटभ को जीतने वाले हरिहर स्वरूप का रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है । जो भक्तगण गौरी माँ के चरणों में नतमस्तक होते हैं उनके पति शिव के शिर में गड्.गा प्रवाहमान होती हैं । ऐसे प्रभु अपने भक्त के संकटकाल में नरसिंह का रूप धारण करते हैं ।[3] ऐसा शिव का लोकोपकारी रूप प्रस्तुत किया है । कवि ने

---

1. श्रीकण्ठ0 5/3,4,11
2. श्रीकण्ठ0 5/18,24,51
3. श्रीकण्ठ0 5/37,38

गौरी मॉ से उत्पन्न गणपत भगवान् का भी सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है ।[1] शिव का कल्याणकारी स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा है कि वे भला कब किसकी स्वांगसिद्धि का हेतु नहीं बनते हैं जो कि सूर्य के दॉत उखाड़ने, ब्रह्म के शिरश्छेदन, विष्णु के चक्षूत्पाटन तथा कामदेव के सर्वशरीरनाश में कारण बनते हैं । सबको सर्वांगपूर्णसिद्धि प्रदान करते ही हैं । स्वयं शरीर से कपिश, नेत्राग्नि से सदा ही मैत्रीभाव धारण करने वाले तथा सदानुरूद्ध औषधिपति चन्द्र को धारण करने वाला जिन शिव का जटाजूट सर्पों का सुखमय निवास्स्थान है । यहाँ पर विरोधाभास है । बभ्रु, नकुल, शिखिमयूर एवं नागदमनी प्रमृति औषधियों का स्वामी चन्द्र भी जिस जटाजूट के द्वारा सदा धारण किया जा रहा है वह जटाजूट सर्पो का भी सुखद निवास स्थान है, यह कितने कौतूहल का विषय है ।[2]

सभी देवता त्रिपुरासुर के अत्याचार से त्रस्त होकर शिव के पास जाकर कष्ट निवारणार्थ उनकी वन्दना करते हैं । हे उमारमण ! स्वचक्षुओं से निद्रा को दूर करो तथा यहाँ नेत्रों में धामत्रयी सूर्यसोमअग्निरूपा विकास को प्राप्त हो कर सुख का आश्रयस्थली बने । यह आपकी सेवा करने के लिए आए हुए इन्द्रादि देवगण हाथ जोड़कर बाहर खड़े प्रतीक्षा कर रहे हैं । हे उग्र ! बज्र के द्वारा पीसे गये असंख्य गर्वीले असुरों के शिखारत्नों की धूलि से जिस इन्द्र की सहस्रों चक्षुएं भयभीत होती हैं, देवताओं में श्रेष्ठ वह इन्द्र आपके सम्मुख शिर नीचा करके शान्त भाव से खड़े हैं । जिसके चरणद्वय पर गिरे हुए देवकेशपाश, उस इन्द्र के पदनखज्योति से शिरोमणि भूषित हो उठते हैं । जिसके चरणों में सभी देवता शिर झुकाते हैं , ऐसे उन इन्द्र पर थोड़ा दया कीजिए ।[3] एकादशरूद्ररूप में विभक्त आपको तथा भवानी को (द्वादश – 11 रूद्र + 1 भवानी) एक साथ देखने

---

1. श्रीकण्ठ0 5/29
2. श्रीकण्ठ0 5/52, 53
3. श्रीकण्ठ0 16/36, 37

के लिए जो द्वादश चक्षुओं को धारण कर रहे हैं एवं जो तारकासुर की स्त्रियों के कुचो पर से कुड्.कुम पत्रावली को समाप्त करने वाले हैं, वे कुमार आपके चक्षुओं की प्रीति को प्राप्त करें । आपके ललाट के मध्य में जो कुड्.कुमतिलक की भाँति शोभित है और जिस नेत्राग्नि ने पञ्चशर की पत्नी रति के शरीर को अलड्.करणता से अनभिज्ञ बना दिया है, वह स्वाहापति अग्नि देखिये । दूर पर नतशिर हो गजानन की शुण्डा से निकले हुए जलबिन्दुओं से खिन्न हो रहे हैं ।[1]

पृथ्वी की भाँति अन्तरिक्ष में स्वपुष्पक विमान में लगी स्वर्णघटिका की गमनततिमा के ब्याज से शतशः स्वरत्नकलशों को स्थापित करने वाले आपके मित्र कुबेर आपकी सेवा की प्रतीक्षा कर रहे हैं । स्वभावतः ही विकराल भ्रूभंगों के कारण भयंकर मुख सूर्य पुत्र यम के स्वदण्डपाश के साथ आपके द्वार पर दण्डानति करने पर सब देवगण उस यम को आपका प्रतीहार ही समझ रहे हैं । आदर के साथ माँ गंगा के वारिपूर को शिर पर धारण करके यद्यपि आपने प्रथम से ही इस वरूण का पक्ष ग्रहण कर रखा है तथापि अब यह जलनाथ वरूण आपके दृष्टिपातों से पवित्र होवें ।[2] यह पावकदेव अपनी ज्वालाओं से आपके समस्त गणों को दुःखी कर रहे हैं । परन्तु वे गण भी अपने स्वेदजल से इसके प्रवर तेज को शान्त कर रहे हैं । देखिये यह विनम्र पवन अपने मित्र अग्नि को दुर ही छोड़ रहे हैं । क्योकि उस मित्र अग्नि के सान्निध्य से गौरी को क्लान्ति होगी और इससे पवन द्वारा की जाने वाली आपकी सेवा में त्रुटि उपस्थित होगी ।[3] देखिये स्वविषाक्त फूत्कारों के द्वारा देवों को अत्यन्त दुःख देने वाले भी आपके सर्प देवों के द्वारा सतत् नमस्कार किये जा रहे हैं ।यद्यपि यह रसातलवासी हैं, परन्तु आपने इन्हें स्वशिर पर धारण करके देववन्द्य बना दिया है । कहीं पर देवताओं से तिलकित, कहीं

---

1. श्रीकण्ठ0 16/36,37
2. श्रीकण्ठ0 16/41,42,46
3. श्रीकण्ठ0 16/38,39

पर नागों से विलसित, कहीं पर गाते हुए किन्नरकुलों से अधिष्ठित और कहीं सूर्य चन्द्र से शोभित आपका द्वार सम्प्रति तो साक्षात् विश्वरूप ही हो रहा है ।[1]

देवसभा में भगवान् शिव के शीर्षासन पर विराजमान होने पर नन्दी ने देवताओं के आगमन की सूचना दी । देवताओं ने आकर स्वस्वप्रणामाञ्जलि समर्पित की । उस समय इन्द्र आदि देवताओं ने शिव की स्तुति करते हुए कहा – हे देवाधिदेव ! सभी हृदयों में निवास करने के कारण ही आपकी "पुरूष" संज्ञा है । हे त्रिनयन! आपसे छिपा क्या है, आप सब कुछ देखते हैं । इन वचनों के द्वारा देवताओं ने अपनी विपत्ति की सूचना दे दी । प्रकृति से ही निर्मल आपका स्वरूप गंगा जल से मुझे पुनीत करता है । आप प्रभु कारणत्रयस्वरूप हैं, साथ ही प्रपञ्च से अलग भी हैं ।[2]

प्रस्तुत ग्रन्थ में महाकवि मड्.खक ने दार्शनिक रूप से शिव का स्वरूप प्रस्तुत किया है । उन्होंने जैन, बौद्ध एवं वेदान्त आदि का समर्थन एवं सांख्य दर्शन की आलोचना की है । हे शिव ! आपको माया कभी स्पर्श नहीं कर सकती, इसलिए उपनिषद् और वेदान्त नेति नेति कहकर आपकी स्तुति करते हैं ।[3]

तीनों लोकों के पालनहार प्रभु आपको व्यर्थ में ही लोग तटस्थ कहते हैं, यदि प्रकृति ही जगत्कर्त्ती है, तो हे परमपिता परमात्मा ! बिना आपकी दया के बे कैवल्य तो प्राप्त करें । मिथ्या रूप मे महद् आदि में लोग व्यर्थ ही 'तत्त्व' शब्द को प्रयुक्त करते हैं । पच्चीसवें भी एक आप ही वास्तविक तत्त्व हो । यहाँ पर मड्.खक ने भगवान् शिव को सर्वस्व स्वीकार करते हुए सांख्य दर्शन की आलोचना की है । मड्.खक इतना शिव भक्त हैं कि उन्हें कण–कण में भगवान् शिव दिखाई देते हैं । यह त्रैलोक्य

---

1. श्रीकण्ठ0 16/52,56
2. श्रीकण्ठ0 17/14,18,19
3. श्रीकण्ठ0 17/28

तुम्हारे ध्वनि स्परूप का विवर्त है। शून्य रूप से बौद्ध , विश्वात्म रूप में जैन तथा स्वभावतः चार्वाक के द्वारा भी हे शड्.कर ! आप ही स्वीकृत हो।[1]

महाकविकल्पित विविध वस्तुवर्णनों में दिव्यनायक शिव का व्यावहारिक चरित्र चित्रण प्रस्तुत किया है। वसन्त दोलाक्रीडा " पुष्पावचय– जलक्रीडा एवं युद्धस्थल आदि वस्तुवर्णन में भगवान् शिव का लौकिक स्वरूप प्रस्तुत कर बड़ा ही मनोहारी व्यावहारिक चित्रण किया है। इन स्थलों में शिव का धीरोदात्तत्व लोकानुरञ्जक रूप महाकवि मड्.खक ने स्पष्ट प्रतिपादित किया है।

षष्ठ सर्ग में भगवान् शड्.कर जगत्जननी पार्वती के साथ वसन्त की शोभा देखते हैं। कि शिशिर ऋतु में पुष्पों के अभाव में भ्रमरकुल के भोजन का अभाव हो जाता है जैसे ही वसन्त ऋतु आती है वैसे ही पुष्पों का मकरन्दरस अलिकुल को प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो जाता है।[2] वसन्त में खिलते हुए पुष्प, भ्रमर की झंकार, कोयल की मीठी ध्वनि, कामदेव का ज्वर आदि का ऐसा वर्णन किया है कि पाठक पढ़कर उद्वेलित हो जाये।

शिव पार्वती से कहते हैं कि हे देवि ! नाचते हुए मधुकर तथा केतक के सदृश स्वकटाक्षों से इस वसन्त पर अनुग्रह करो। कामदेव के क्रीडाकृष्णसार मृगों के विहार से यह वनभूमि शबल हो जाये।[3] देखिये यह पवन आन्दोलित रक्त पुष्प पलाश शोभायमान हो रहा है। विरहिणियों के लिए यह सर्वथा अकाल मृत्यु का हेतु है , क्योंकि

---

1. श्रीकण्ठ0 17/20,22
2. श्रीकण्ठ0 6/1
3. श्रीकण्ठ0 7/10

पुष्पगुच्छों के रूप में यह शतशः स्वहतपान्थों का रक्तजीव हो तो धारण कर रहा है । मदसहचरगन्ध का हेतु परिमल विशेष है । मलयानिल में कामदेव मदमस्त हो जाता है ।[1] चकोराक्षियों के शरीर में चन्दन के द्वारा अपना स्थान ग्रहण कर लिए जाने के कारण अत्यन्त खिन्न यह कुड़्कुम, पुष्पगुच्छ के रूप में देखो, विरचितपाश सा प्रतीत हो रहा है । जिस प्रकार वसन्त में पुष्प खिलते हैं वैसे ही तरूणी भी अपने रूप से भरपूर होती है ।[2] चन्दन पर्वत की मुखश्वास के समान यह दक्षिण पवन, हे स्मितमुखि ! कामदेव की विजय के निमित्त कोयलों के रूप में, गरूडरत्नशड़्ख को मुखरित कर रहा है । यह दक्षिणपवन से मस्त कोयल की कूक अत्यन्त उद्दीपक है ।[3]

इस प्रकार शिव वर्णित बसन्त की अनुपम सुषमा को देखकर पार्वती अपने मनोविनोद के लिए दोलाक्रीडा की अभिलाषा नन्दी द्वारा शिव से निवेदित की । शिव ने पार्वती का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर कहा – हे चन्द्रमुखि ! नन्दी के द्वारा प्रस्तावित दोलाक्रीडा तो अत्यन्त स्पृहणीय है । तुम शीघ्र ही स्वदोलाक्रीडा द्वारा मेरे नेत्रों की अमृत पारणा करो ।[4] हे सुसंहतोरू ! यह मणिजटित दोला स्वमणिरश्मिकरों का, तुम्हे आरोहण इच्छुक जानकर सहारा प्रदान कर रही है । देखिये यह दोला तुम्हारे चरणस्पर्श की सम्भावना से आह्लादित पवनचालित स्वर्णपीठ मरीच बाहुओं से अन्तरिक्ष में नृत्य सा कर रही है वायु से प्रेरित शतशः कनककिंकणियों की ध्वनि के व्याज से तुमसे अभ्यर्थना करती हुई इस दोला को अब शीघ्र अनुग्रहीत करो ।[5] मेरे हृदय स्वदोला को स्वर्ग तक बढ़ाओ और मेरी दृष्टियों के साथ-साथ दोला का ऊर्ध्वाधः गमन करो कि जिससे तुम्हारे कण्ठ की

---

1. श्रीकण्ठ0 7/20,21
2. श्रीकण्ठ0 7/16,18
3. श्रीकण्ठ0 7/22
4. श्रीकण्ठ0 7/54
5. श्रीकण्ठ0 7/58–60

मुक्ताओं के द्वारा आकाश में एक नवीन ही तारकस्रष्टि उत्पन्न हो जाये । उस दोलन से उत्पन्न ध्वनि का वर्णन बड़ा ही रोचक किया है । श्रमजात तुम्हारी दीर्घ-दीर्घतर निःश्वासों से और नुपूर से उत्पन्न ध्वनि एक क्षण में अन्तरिक्ष तक गूँज जाती है ।[1]

महाकवि मंखक ने सप्तम सर्ग में शिव और पार्वती का दोलाक्रीडा प्रस्तुत कर नवमसर्ग में जलक्रीडा का वर्णन किया है । इसमें उनका दाम्पत्यप्रेमप्रकर्षातिशय प्रकट हुआ है । बाघम्बर धारी भगवान् शङ्कर अपनी पार्वती की प्रत्येक इच्छा स्नेहपूर्वक पूरी करते हैं । तभी तो उनका पत्नी प्रेम अत्यन्त स्पृहणीय होकर निखर उठा है । जहाँ महाकवि कालिदास ने "कुमारसम्भवम्" में शिव-पार्वती जैसे दिव्य दम्पत्ति के रूप तथा स्नेह का अश्लील वर्णन किया है इसीलिए अष्टम सर्ग का रतिवर्णन आलंकारिकों के तीव्र कटाक्ष का पात्र बना है , वहीं मंखक ने इस दिव्य दम्पत्ति का प्रेम मर्यादित एवं औचित्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है । महाकवि मंखक ने जलकेलि वर्णन बहुत ही सुन्दर एवं कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया है ।

अचलराजकन्या के साथ-साथ स्वयं भगवान् शिव ने जलकेलि कुतूहल से पूर्ण हो आकर मानसरोवर के पुलिन को सुशोभित किया । नेत्राग्नि ज्वालाओं के प्रतिफलन से पीतजलवाले मानसर को, जो जलक्रीडा के लिए सजाये हुए सुमेरू पर्वत के सदृश शोभित था , चूड़ा चन्द्र को धारण करते हुए भगवान् शिव ने पार्वती के साथ निमज्ज्न करके, पवित्रता प्रदान की । उस सर की प्रसन्नता का द्योतक विपुल शुभ्रफेन छा गया । उस शुभ्रफेनपुष्पोत्कर को तरंगबाहुओं से बिखेरकर उसने शिव की पूजा की और हरित वर्णा लहरियों के हरिन्मणिकंकणों को भेंट के रूप में पार्वती को सादर अर्पित किया ।[2]

देवसभा मे ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, वरूण, कुबेर, यम, अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि सभी उपस्थित हैं । और दिव्यतम् नायक भगवान् शिव शीर्षासन पर विराजमान हैं

---

1. श्रीकण्ठ0 7/55-57
2. श्रीकण्ठ0 9/45,50,51

शिव अपनी महिमा में सर्वथा पूर्ण हैं वही अक्षर हैं वही सबके जनक परमेश्वर का प्रार्थनीय स्वरूप हैं। शिव अपने अर्थ के अनुरूप सदा ही सबके लिए कल्याणकारी हैं। चराचर जगत् के कल्याण में वे इतना तन्मय रहते हैं कि न उन्हें तन की चिन्ता और न मन की, न भूख –प्यास का ध्यान, न वस्त्र की चाह और न वाहन की अभिलाषा। तन पर वस्त्रों की जगह लिपटे हुए सॉप, शरीर पर भस्म, गले में कंकाल, निवास के लिए श्मशान, कितना रहस्यपूर्ण है यह विरोधाभास। इतना ही नहीं शिव नारीश्वर होकर भी काम विजेता, ग्रहस्थ होते हुए भी भोग सुविधा से परे तपस्वी समाधिस्थ, भयंकर विषधर और शीतल चन्द्रमा दोनों उनके शरीर की शोभा मस्तक में प्रलयकालीन अग्नि, सिर पर हिमशीतल गड्.गा का श्रृड्.गार। ऐसा अद्भुत समन्वय जिसके जीवन में हो वही निन्दा और स्तुति के विष को पचाकर अमरत्व लाभ कर सकता है। पीने को तो बहुत से लोग विभिन्न कारणों से विष पी लेते हैं, परन्तु वे लोग अपना ही विनाश करते हैं। विष पीने की सच्ची महिमा तो तब है जब कि वह कण्ठ से नीचे जाकर हृदय को विषैला न बनाये और न वाणी द्वारा विष का वमन करे – शिव के विषपान का यही रहस्य है समष्टि का हित और समष्टि का कल्याण। इसी पर महाकवि मंखक ने स्वग्रन्थ का नाम "श्रीकण्ठचरितम्" रखा। जो अन्दर है और जो बाहर है, वही बाहर है वही अन्दर है ये तो घट–घट वासी हैं। जबकि विष्णु आदि सभी देवताओं को यहाँ पर मंखक ने निस्तेज रूप में दिखाया है। इन्द्र आदि सभी देवों ने क्रमशः शिव के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया। भगवान् आशुतोष उनकी श्रद्धाभक्ति से अत्यन्त तुष्ट हैं। शिव ने क्रमशः प्रत्येक देवता की प्रशंसा करके उनकी विपत्ति पूँछकर धैर्य बन्धवाया। ब्रह्मा आदि देवों ने सर्वप्रथम मिलकर शिव की स्तुति की तत्पश्चात् ब्रह्मा ने अपनी भूल स्वीकार करते हुए, त्रिपुर को दिये गये अपने वरदान तथा त्रिपुरों के अत्याचारों से विनष्ट प्राय देवों के दुःख वर्णित किये। शिव ने तत्काल त्रिपुरवध को अड्.गीकार कर लिया और एक चक्रवर्ती सम्राट की भाँति अनुकूल रणसज्जा का आदेश प्रदान किया।

"श्रीकण्ठचरितम्" में भगवान् शिव अपने दिव्य गुणों के साथ पूर्णरूप में केवल 17वें सर्ग की इस देवसभा में निबद्ध हुए हैं, अन्यत्र वे परोक्ष रूप में वर्णित हैं। युद्ध

में भी भगवान् शिव मात्र दो बार दर्शन देते हैं । भृकुटिमात्र से कामदहन के समान ही, पल भर में शर--सन्धान कर त्रिपुर को भस्मसात कर देते हैं ।

स्फटिक पत्थर की प्राकृतिक भूमि पर प्रतिबिम्बित सूर्य बिम्ब के स्वाभाविक पीठासनों, जिन पीठासनो मे स्वाभाविक कैलासपर्वत से उत्पन्न विविध माणिक्य आदि जड़े हुए थे, इसके साथ कैलासहिमश्वेतिमावितान के साथ–साथ शेखरचन्द्ररश्मिपुञ्ज के द्विगुण वितानजाली, यत्र--तत्र प्रविष्ट सूर्यरश्मिदण्डों से द्विगुणित स्वर्णदण्डों से शोभित, शिरस्थ द्युगड्.गा की तरंगों के कल–कल बन्दिगायन से मण्डित, शोभाकृष्ट इन्द्र आदि देवों के भ्रंशप्राप्त मुकुट–रत्नों के अनुपम पुष्पों से सुसज्जित एवं कार्तिकेय के वाहन मयूरों के वर्हचमरों से उपवीज्यमान सभा में प्रातः सन्ध्याकर्म को पूर्ण करके, "सन्ध्या सपत्नी के सम्भाषण आदि से सशंकित " गौरी के द्वारा ईर्ष्याकटाक्षों से वीक्ष्यमाण तथा त्रिपुर वधूजनों के लीलाकस्तूरिकापंक के नाशक शिव ने प्रवेश किया ।[1]

चाटुकारिता में व्यग्रता के साथ तल्लीन देव बन्दियों के मुखो पर दृष्टि डालते हुए शिव उस देवसभा में शीर्षासन पर विराजमान हुए । मरकतमणिमय आसन की उच्छरित किरणों से आप्लुत कामारि का अभिनव भस्माच्छादित भी शरीर स्वकण्ठनीलिमा के ही सादृश्य को प्राप्त हो रहा था । चामरवाहिनियाँ धीरे–धीरे ही चमर डुला रही थी, उन्हे सन्देह था कि कही वेग से चामर व्यजन करने से अनवसर ही नेत्राग्नि प्रदीप्त न हो जाये ।[2]

अत्यन्त शान्ति से धीरे–धीरे प्रवेश करने वाले विनम्र देवगणों के आगमन की सूचना नन्दी ने भगवान् शिव को दी । देवों ने बड़ी विनम्रता के साथ शिवचरणों में साष्टांग

---

1. श्रीकण्ठ0 17/1–4

2. श्रीकण्ठ0 17/9,10,12

प्रणाम किया। पुरारि की नेत्राग्नि से ताप और शेखरचन्द्र से शीत का अनुभव एक साथ ही देवों को हुआ। अपनी अपनी योग्यता के अनुसार आसन ग्रहण कर लेने के पश्चात् इन्दुशेखर के द्वारा कुशलक्षेम पूँछे जाने पर इन्द्र आदि देवों ने सुधासिक्त मधुर पदों में शिव की स्तुति की।[1]

स्तुतिमुखर देवों पर कृपा रस की अजस्त्र वर्षा करते हुए भगवान् चन्द्रशेखर ने इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया। मेरे सानिध्य को प्राप्त होने वाले आप देवों की अधैर्ययुक्त भक्ति पूजा आदि किसी बड़े भारी विप्लव की सूचना दे रही, क्योंकि आप सबके मुख प्रातःकाल के निस्तेज चन्द्रमा की साम्यता कर रहे हैं। ब्रह्मा का चित्त विशेष रूप से विक्षिप्त हो रहा है। विष्णु का सुदर्शन चक्र निष्प्रभाव हो रहा है। जिन इन्द्र की सहस्त्र पद्म चक्षओं में निवास करने वाली श्रीपद्माकर का स्मरण नहीं करती थी वह इन्द्र निमीलितेन्द्रिय हो रहा है। अत्यन्त क्षीण भी पवन दीर्घ निःश्वासों के कारण पुनरपि चंचल तथा पीवर हो रहा है। अपने तेज एवं तैक्षण्य को खोकर सूर्य का यह पाण्डु मण्डल दिन में भी चक्रवातों को रात्रि की शंका उत्पन्न कर रहा है। अग्नि का तेज तो सर्वथा सत्त्वहीन हो रहा है। अस्तगामी सूर्य के तेज से तेजस्विता प्राप्त करने वाले वरूण की दृष्टि स्पष्ट ही सजल दिखाई दे रही है, अन्य सब देवों का पूर्ण तेज उनकी अपनी निःश्वासों से दीप सा बुझा जा रहा है।[2]

भगवान् शिव के द्वारा इस प्रकार व्यवहृत होकर चित्त का स्वास्थ्य लाभ करके देवों ने त्रिपुरारी को देखकर पुनः अपना मुख नीचा कर लिया। तब ब्रह्मा ने एक अपराधी की भाँति त्रिपुर को अपने द्वारा वर प्रदान आदि का निवेदन किया और विपत्ति का वर्णन करते हुए कहा – हे त्रिनयन! अधिक क्या कहें, त्रिपुर स्वबन्धुओं को पकड़ ले गये हैं। वे अपनी निःश्वासों से स्वचालित चामरों की वायु को, असुरों की प्रीत्यर्थ द्विगुण

---

1. श्रीकण्ठ0 17/14--17
2. श्रीकण्ठ0 17/34–44

कर रही है । सम्पूर्ण पृथ्वी तथा स्वर्ग को निवीर्य समझकर वे दैत्य अब शीघ्र ही हमारा मूलोच्छेदन कर देंगे ।[1]

उपर्युक्त देवविपत्ति को सुनकर शिव के गणों को सर्वथा क्रोधावेश आ गया वे अनेक रौद्र भावों से पूर्ण हो गये ।

तब परम्–धैर्य देने वाले भगवान् शिव ने अपने दाहिने हाथ को उठाकर प्रमथों के कोप–कोलाहल को शान्त कर दिया । शिर सिन्धु शीतल प्रभावों से उनके सम्पूर्ण क्रोधाग्नि का शमन कर दिया । सूर्येन्दुवहिन रूप नेत्रत्रय तेज को देवों के ऊपर फेकते हुए उनमें तेज का सञ्चार किया । मेघ सा गम्भीर नाद करते हुए शिव इस प्रकार बोले – आप लोगों के वदनों से सूच्यमान यह क्या दैन्य भाव आपके हृदयों में समाया हुआ है । मात्र शाप से दैत्यों को भस्म कर देने में समर्थ ब्रह्मा के होते हुए यह त्रिपुर विपत्ति कितनी देर तक ठहर सकती है । फेनमात्र से ही वृत्रासुर का नाश करने वाले इन्द्र देवता क्यों नहीं शत्रुओं का नाश कर डालते । विष्णु का धनुष शत्रु स्त्रियों का भ्रूलास्य और खड्.ग नन्दक उन चक्षुओं का अन्जन कैसे सहन कर रहा है । ब्रह्मा का मुख सामवेद विशेष, ऐरावत का दान मदजल विशेष, और यम का दण्ड लगुड विशेष शत्रुओं में भेद अभेद उपाय विशेष को दृढ़ करे । ब्रह्मा , इन्द्र आदि देव असुरों का साम–दाम–दण्ड भेद से विनाश कर दें । फिर जिसकी दिशा में सूर्य का भी तेज क्षीण पड़ जाता है, वह दक्षिणपति वरूण भला किसके द्वारा सह्य है । हे देवों ! यद्यपि आप लोगों ने स्वयं ही दैत्यों का अब तक नाश किया है तथापि इस समय आप लोगों के बल–वीर्य को हमारा तेज भी सहस्र गुण बनाये ।[2]

---

1. श्रीकण्ठ0 17/66
2. श्रीकण्ठ0 19/9–16,20,22,25,26

शिव की उपर्युक्त वाणी को सुनकर सन्तुष्ट देवों ने पुनः निवेदन किया कि हे भगवान् ! हमारा तेज आपके द्वारा ही प्रदत्त है, परन्तु हमारे तेज को उन त्रिपुरों ने सर्वथा व्यर्थ कर दिया है । और अब हम लोग आपके विशेष तेज को धारण करने में भी समर्थ नहीं हैं , एतदर्थ उन त्रिपुरों का तो आप स्वयं संहार कीजिए । दीपक रोदसी के अन्धकार को नष्ट करने का साहस नहीं किया करता ।[1] शिव ने त्रिपुरवध स्वीकार कर लिया सुसारथीयुक्त और मेरे भार को सह सकने में समर्थ कैलाश के समान रथ मेरे लिए उपस्थित करो । उस रथ पर स्थित हो मेरा बीरत्व शत्रु भ्रू विलास का शामक हो ।[2] भगवान् शिव की इस वाणी को सुनकर देवों का मुख पुनः अग्नि के तेज के समान प्रदीप्त हो उठा । प्रसन्नता से भरकर देवाङ्गनाऐं कोलाहल करने लगी । उस कोलाहल के प्रतिध्वनि के व्याज से कैलाश ने भी मानो शङ्ख ध्वनि की ।[3]

महाकवि मंखक ने भगवान् शिव का रौद्र रूप चौबीसवें सर्ग में चित्रित किया है । युद्ध प्रदेश क्रीडा–ग्रह की स्थिति को प्राप्त हो गया , उसका बडा रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है । प्रलय के देवता शिव यदि चिर काल तक कहीं अपना भैरव स्वरूप व्यक्त करें तो अकल्पनीय संहार का दृश्य उपस्थित हो जाये । यही कारण है कि युद्ध स्थल में भगवान् रूद्र के महाकाल स्वरूप का दर्शन क्षणमात्र के लिए ही होता है । विवृद्ध शत्रुत्व के वशीभूत हो त्रिपुरों के एकत्र स्थित होने पर देवों ने उनके वैर भाव को समझते हुए शिव की रहस्यपूर्ण दृष्टियों को पुनः–पुनः देखा । तीनों लोकों की दैत्य व्याधि को शान्त करने वाले उन महारूद्र ने नाचती हुई भ्रकुटि के समान चंचल वक्र धनुष पर, उसी भृकुटि से देदीप्यमान ललाट–ज्वाल मालाओं से प्रदीप्त अग्निशर को संघनित किया। उन्मुक्त बाण में एक से अनेक होते हुए, यमराज की ज्वाला–जिह्वाओं के समान, उन

---

1. श्रीकण्ठ0 19/27–30
2. श्रीकण्ठ0 19/41–43
3. श्रीकण्ठ0 19/46–47

तीनों दैत्यों को एक साथ ही ग्रसित कर लिया ।[1] तीनों दैत्य बाण से निकली हुई अग्नि से तत्काल ही भस्मीभूत हो गये उनके शरीरों की भस्म आकाश में छा गयी ।

त्रिभुवन गुरू शड्.कर ने उस लोकत्रय व्याधि को नष्ट करके अपने रूद्र स्वरूप को प्रकट किया । श्रेष्ठजन खलजनो को नष्ट करने के लिए क्षणिक ही विक्रिया को धारण किया करते हैं ।[2] असंख्य स्तुतियों का आस्वादन करते हुए भगवान् शिव ने, चरणानति करते हुए देवताओं को प्रीतिपूर्ण चक्षुओं से देखकर उन लोगो को अपने--अपने ग्रहों को प्रस्थान करने की आज्ञा दी । स्वयं भी नन्दी पर सवार होकर पार्वती सहित कैलास पर्वत की ओर चल दिये ।[3]

महाकवि मंखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ "श्रीकण्ठचरितम्" में भगवान् शिव को दिव्य नायक के सभी गुणों से परिपूर्ण दिखाया है । वे परम् उदार, सतत उपकार रत्, शरणागतवत्सल एवं दूसरों के दुःखों को हरने वाले, महादानी हैं, वह अनादि एवं अनन्त हैं, उनकी महिमा अगोचर है वे देवाधिदेव महादेव हैं ।

(II) <u>नायिका पार्वती :-</u>

महाकवि मंखक ने पार्वती का भगवान् शिव की अर्धाड्.गनी :के रूप . में स्तुत्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किया है , न कि उनका शक्ति एवं दुर्गा के रूप में चित्रण किया है । और व्यावहारिक वर्णन में वे सदैव परोक्ष रूप से ही वर्णित हैं । कहीं भी वे प्रत्यक्ष रूप में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नही करती हैं । पार्वती का व्यक्तित्व सर्वत्र शिव के व्यक्तित्व से समाच्छन्न है । उनमें स्वतन्त्रता की भावना लेशमात्र भी नहीं है । वे भगवान् शिव की आदर्श भारतीय धर्मपत्नी के रूप में हैं । मंखक ने यहाँ पर उमा भवानी के पिता

---

1. श्रीकण्ठ0 24/4,6–7,11
2. श्रीकण्ठ0 24/38
3. श्रीकण्ठ0 24/44

दक्ष क द्वारा सम्पादित यज्ञ का वर्णन किया है । जिसमे पार्वती के पति शिव को नही शामिल किया था और दक्ष ने सभी देवताओं को शामिल किया था । जब माँ पार्वती शिव की आज्ञा लेकर वहाँ गयी और अपने पति का अपमान देखकर वहीं सती हो गयी । इस प्रकार दक्ष के यज्ञ का अन्त अश्रुपूर्ण स्नान से हुआ ।[1]

साथ ही साथ नायिका पार्वती स्वाधीनभर्तृका [2] एवं पद्मिनी मुग्धानायिका [3] के स्वरूप को भी धारण किये हुए हैं ।

भगवती पार्वती का मुख, चन्द्र का और उनकी दन्तज्योत्स्ना, प्रसिद्ध चन्द्रिका का तिरस्कार करती है । क्योंकि चन्द्रमा कलंकयुक्त है जबकि पार्वती का मुखमण्डल निष्कलंक है और दाँतों की धवलिमा का कहना ही क्या? भगवती पार्वती सिंहाधिरूढ़ हैं और वह सिंह से डरती हैं । एतादृश सर्वथा निष्कलंक माँ पार्वती का वदनेन्दुबिम्ब तुम्हारी रक्षा करे । नृत्य आरम्भ में प्रोद्धत चण्डिका का दण्डपाद , संसार के दण्डपादों को नष्ट करते हुए, आपकी सदैव रक्षा करे । उसके सामने ज्योत्स्ना तो उसका कोटि अंश भी नहीं प्रतीत होती अर्थात् पार्वती का वर्ण ज्योत्स्ना से कई गुना अधिक चमकीला है [4]। आकाशस्थल को द्विचन्द्रमय बनाता हुआ पार्वती का पानपात्र आपको यश प्रदान करे । उनके जूडों के सर्पो की मणियों की चमक ही उस प्याले में मद्य–सी प्रतीत होती है ।[5]

---

1. श्रीकण्ठ0 5/17
2. कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम् ।
   विचित्रविभ्रमासक्ता सा स्यात्स्वाधीनभर्तृका ।। सा0द0 3/74
3. प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा ।
   कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ।।

   सा0द0 3/58
4. श्रीकण्ठ0 1/18,19
5. श्रीकण्ठ0 1/20

ताण्डवनृत्त्य करते समय ब्रह्माण्ड के भी ऊपर पहुँचने वाला पार्वती का दण्डपाद श्रेष्ठजनां को प्रिय हो । उनके नूपुरों की ध्वनि से आकृष्ट होकर ब्रह्मा के वाहन हंस ब्रह्मा को समाधि से विचलित कर देते हैं । भयंकर नखों वाले हुंकारी सिंह पर स्थित पार्वती के सुन्दर मुख की हम वन्दना करते हैं । उस मुखलावण्य का किंचित्मात्र लाभ प्राप्त करने के लिए चन्द्रमा अवश्य उस मुख की सेवा करता, यदि उसे अपने शश का भय न होता ।[1] चन्द्रमा का शश, पार्वती के सिंह से भयभीत है, उस शश भय के उपरोध से चन्द्रमा पार्वती के सलावण्य मुख की सेवा से विरत हो जाता है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ "श्रीकण्ठचरितम्" के "साधारण पसन्तवर्णन" नामक षष्ठ सर्ग में भगवती पार्वती का व्यावहारिक रूप मे चित्रण किया गया है । दिव्य नायक चन्द्रशेखर के साथ दिव्य नायिका भगवती पार्वती कैलास की बसन्त शोभा देखने के लिए निकलती है । भगवान शिव वसन्त की शोभा का मधुर वर्णन करते हैं और पार्वती अन्यमनस्क होकर सुनती रहती हैं । तत्पश्चात् नन्दी भी बसन्तश्री का भव्य वर्णन करते हैं । साथ ही नन्दी पार्वती की दोलाक्रीडा की अभिलाषा को शिव से निवेदित करते हैं । तब भगवान् शिव ने पार्वती के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार करके कहा – हे चन्द्रमुखि ! नन्दी की यह उक्ति सर्वथा प्रासङ्गिक है । आप शीघ्र ही दोलाक्रीडा द्वारा मेरी नेत्रों को अमृत पारणा प्राप्त कराओं ।[2] शिव के बारम्बार प्रेमानुनय करने पर पार्वती दोलाक्रीडा करती है और बहुत देर तक दोलाक्रीडा से मन बहलाती हैं । जब भगवती पार्वती दोलाक्रीडा से थक जाती हैं । तब शिव उन्हें अपनी बाहु का सहारा देकर उतारते हैं और बाहु के सहारे -- सहारे विश्राम कुटिया तक पहुँचाते हैं । विश्राम के पश्चात् भगवती पार्वती कुसुमावचय

---

1. श्रीकण्ठ0 1/46, 47
2. श्रीकण्ठ0 7/54

करती है, तत्पश्चात् वह शिव के साथ मानसरोवर में जलक्रीडा का आनन्द लेती है । जलक्रीडा के बाद वह दिव्य दम्पत्ति रात्रि में विश्राम हेतु पुनः अपनी कुटिया में चले जाते है । इसके पश्चात् दिव्य नायिका भगवती पार्वती के कहीं भी प्रत्यक्ष दर्शन नही होते है ।

(iii) **प्रतिनायक त्रिपुरासुर :–**

आचार्य धनञ्जय ने प्रतिनायक के स्वरूप को इस प्रकार चित्रित किया है – "लोभी, धीरोद्धत, स्तब्ध या कठोर, पाप करने वाला तथा व्यसनी व्यक्ति, प्रधान नायक का शत्रु प्रतिनायक होता है ।[1]

कविराज विश्वनाथ ने भी स्वग्रन्थ साहित्यदर्पण में प्रतिनायक का शास्त्रीय स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है -- धीरोद्धत, पापी और काम क्रोधादि से उत्पन्न व्यसनों में फँसा हुआ पुरूष "प्रतिनायक" कहलाता है ।[2] धीरोद्धत नायक अत्यन्त मायावी, प्रचण्ड, चपल , घमण्डी, शूर अपनी आत्मश्लाघा में सदैव निरत रहने वाला होता है ।[3]

प्रतिनायक अपने उद्धत्यपूर्ण क्रिया कलापों से प्रधान नायक के अभीष्ट कर्मों में विघ्न उपस्थित करता है । प्रधान नायक के प्रतिकूल आचरण करने वाला "प्रतिनायक" होता है । प्रतिनायक अपनी प्रशंसा के पुल बाँधने वाला, निरन्तर कपट में निरत रहने वाला, अहंकारी , पापाचार में तत्पर, आदि दोषों से युक्त होता है । प्रतिनायक स्वप्न में भी प्रधान नायक का उत्कर्ष और सुख सहन नहीं कर सकता है । प्रतिनायक के

---

1. "लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्व्यसनी रिपुः ।।" द0रू0 2/9
2. "धीरोद्धतः पापकारी व्यसनी प्रतिनायकः"– सा0द0 3/131
3. "मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहंकारदर्पभूयिष्ठः" ।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः ।।" सा0द0 3/33

चरित्र का साक्षात् निबन्धन काव्य में प्राणप्रतिष्ठा का एक प्रधान स्तम्भ बन जाता है । और सबसे प्रमुख बात तो यह है कि प्रतिनायक के जीवन वृत्त तुलना से ही प्रधान नायक के चरित्रवृत्त में निखार आता है ।

उचित तो यही रहता है कि प्रतिनायक के अत्याचार आदि से किसी महाकाव्य का प्रारम्भ करके उसके निधन से ही महाकाव्य का समापन् किया जाय । परन्तु संस्कृत महाकाव्य परम्परा उसे बीज से प्रारम्भ करती है ।[1]

"श्रीकण्ठचरितम्" नामक महाकाव्य में त्रिपुरासुर का प्रतिनायकत्व वर्णित है तीन पुरों में अलग–अलग रहते हुए तीनों असुर तारकाक्ष, कमलाक्ष और विद्युन्माली, यें तीनों बन्धु त्रिपुरासुर के नाम से सुविख्यात हुए । हैम, राजत, और आयस दुर्ग वाले आकाश, पृथ्वी, तथा पाताल के तीन पृथक पृथक पुरों में निवास करने के कारण वे "त्रिपुर" नाम से सम्बोधित किए गये । ब्रह्मा से उन्होंने वरदान पाया था कि उनकी मृत्यु शत्रु के एक ही बाण से एक ही साथ होगी । इन्हें विश्वास था हम लोग अलग अलग पुरों में निवास करेंगे तो कोई भी शत्रु उन्हें एक ही बाण से नहीं मार पायेगा । भगवान शिव के पुत्र स्कन्द के द्वारा तारकासुर का वध हो जाने पर तारक के ये तीनों पुत्र ब्रह्मा का कठोर तप करके उन्हें प्रसन्न करते हैं और ब्रह्मा से अमरत्व के लिए याचना करते हैं परन्तु वे अमरत्व के लिए मना कर देते हैं , तब त्रिपुरों ने आकाश, पृथ्वी तथा पाताल में स्वनिवासों की मन्त्रणा करके एक बाण से एक कालिक मृत्यु का वरदान माँगा । ब्रह्मा ने अन्त में त्रिपुरत्व साधक वरदान के प्रति एवमस्तु कह ही दिया ।

चतुर्मुख ब्रह्मा के आदेशानुसार विश्वकर्मा के पुत्र "मय" नामक शिल्पी ने तीन पुरों का निर्माण किया । तब तीनों असुर "त्रिपुरों" में अलग अलग मृत्यु के भय

---

1. अल्पमात्रं समुदिष्टं बहुधा यद्विसर्पति ।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तद्भिधीयते ।। सा0द0 6/65

से निडर होकर निवास करने लगे । अब ये त्रिपुरासुर अपनी राक्षसी प्रवृत्ति से कई सहस्त्र वर्षों तक देवों को दुःख देते रहे । वैसे त्रिपुर और सैनिकों के अत्याचारों का वर्णन साक्षात तो नहीं है । यहाँ तक कि पीडित देव स्वयं भी स्वदुःखों को नहीं कहते हैं असुरों से त्रस्त देव ब्रह्मा के साथ देवाधिदेव भगवान् शिव के पास गये । वहाँ शिव से देवों के दुःख निवारणार्थ उन त्रिपुरों को भस्मीभूत करने की प्रार्थना की । त्रिपुरो से सम्बन्धित यह चरित्र "परमेश्वरदेवसमागम्" नामक सत्रहवें सर्ग में पूर्वपीठिका क रूप में शिव के समक्ष श्रुतिकवि ब्रह्मा ने संसूच्यशैली में प्रस्तुत किया । अर्थात त्रिपुरासुर का तपोवर्णन, ब्रह्मा द्वारा वर प्रदान, वरग्रहण कर असुरों द्वारा देवों का उत्पीडन आदि उनका चरित्र अर्थवाद रूप में उपस्थित हुआ है न कि यथातथ्य रूप में विद्यमान है । देवों के प्रति असुरों द्वारा किये गये अत्याचारों की धुँधली सी स्मृतिमात्र है । यहाँ तीनों असुरों का अलग चित्रण नहीं किया गया अपितु एक साथ ही उनका चरित्र दिखाया गया है ।

"दैत्यपुरीक्षोभवर्णनम्" नामक बाइसवें सर्ग में सम्मिलित रूप में तीनों का क्षोभ चित्रित किया है । त्रिपुरासुर भगवान् शिव से युद्ध करने के लिए स्वसैन्यबल के साथ उपस्थित होते हैं । इस सर्ग में प्रतिनायकनिष्ठ रौद्ररस का स्थायीभाव क्रोध के साथ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव का वर्णन हुआ है ।

"युद्धवर्णनम्" नामक सर्ग में प्रतिनायक त्रिपुरासुर का औद्धत्यपूर्ण आचरण स्पष्ट रूप में देखने को मिलता है । वे सच्चे धीरोद्धत स्वभाव के प्रतिनायक हैं । त्रिपुरों को इस बात की कोई चिन्ता नहीं है कि देवाधिदेव भगवान् शङ्कर ही उनके प्रति युद्ध अभियान कर रहे हैं । वे बिना सोच विचार के स्वसैन्यबल के साथ युंद्ध भूमि में उपस्थित हो जाते हैं । भयंकर सुरों– असुरों का युद्ध हो रहा है, विपक्षी रूद्र भगवान् से जीतने की कोई संभावना नहीं है फिर भी बीर त्रिपुर जी जान से घनघोर युद्ध में संलग्न हैं । उनका उत्साह और साहस उनकी असुर सेना में प्राण फूँक देता

है, युद्ध की विकरालता और भी बढ़ जाती है अन्ततः अपने मुख्य प्रतिद्वन्दी भगवान् शिव को ही मारने के लिए तीनों एकत्र होते हैं । त्रिपुरों ने अपनी बाण वर्षा से देवों के शरीरों को समाच्छादित कर दिया । उस युद्ध सर मे वे दनुजमदगज गरज रहे थे अस्त्रों से कटे हुए हाथ ही उस युद्ध सर में कमल थे, लूनदण्ड देवों के श्वेतछत्र ही महाफेन , निर्मूठ तलवारें ही शैलमाला, तथा लीला से नृत्य प्रसक्त ही देवकबन्ध भ्रमरचक्र थे ।[1] छोड़े गये आग्नेयास्त्र के प्रतिरोध के लिए, छोड़े गये वरूणास्त्र की घनमालाऐं अग्निज्वालाओं से मिलकर भयंकर धूम अन्धकार आकाश को समाच्छन्न कर रही थी दोनों तरफ की सेनाओं द्वारा बाणाग्नि की वर्षा से दिन में ही रात्रि का दृश्य उपस्थित कर रही हैं । ऐसे में क्रोधावेश में आकर त्रिपुर एकत्र स्थित होकर जैसे ही भगवान् शिव को मारने के लिए सोचा कि बस भगवान् शिव ने देवों के नेत्रों का संकेत पाकर दिव्य शरसन्धान द्वारा उन त्रिपुरों को सदा के लिए भस्मीभूत कर दिया ।

सुर–असुर का भेदक तत्त्व बुद्धि बल एवं शारीरिक बल है । देवता प्रायः बुद्धि बल पर विश्वास करते हैं जब कि असुर शारीरिक बल पर ही इतना अहंकार करते हैं अतएव पराक्रमशाली असुर देवों की अपेक्षा बुद्धिहीन सर्वदा देवों से पराजित होते हैं । दैवी सम्पत्ति सुमति और आसुरी सम्पत्ति शारीरिक बल आज लोक व्यवहार में भी देखा जाता है ।

(।।।।) **अन्य पात्र :–**

(अ) **नन्दी :–**

महाकवि मंखक ने प्रथम सर्ग में प्रधान नायक भगवान् शिव का वाहन नन्दी का स्तुत्यात्मक वर्णन किया है । व्यावहारिक रूप में नन्दी शिव का वाहन, सहचर,

---

1. श्रीकण्ठ0 17/14

द्वारपाल, और गणाध्यक्ष के रूप में आये हैं । वे चतुर्मुख ब्रह्मा आदि देवों को भी सावज्ञ शिर सकेत करने में समर्थ हैं ।[1] पार्वती की दोलाक्रीडा के प्रस्ताव की पूर्वपीठिका के रूप में नन्दी द्वारा किया गया "वसन्तवर्णन" काव्य की दृष्टि से अनुपम है । युद्ध मे भी नन्दी अपूर्व कौशल का प्रदर्शन करते हैं ।

सर्वत्र ही भगवान् शिव के चरणों का संस्पर्श लाभ करता रहूँ, इस विचार से स्फटिकाद्रि कैलास के द्वारा धारण किया गया उसका जंगमस्वरूप, अथवा शिव के जटाजूट में बंधे हुए स्वसुतचन्द्र को देखने के लिए आगत क्षीराब्धि सा शिव का वाहन वृषभनन्दी आपकी कुशलता का हेतु होवे ।[2] शिव की सेवा में रहकर, मात्र चरणनिक्षेप से ही विश्व को स्वर्णमय बनाकर उनका स्ववाहन वृषभ उन्हीं को जीत लेता है ।[3] शिव ने मरूत के लिए सात दिन तक निरन्तर स्वर्ण की वर्षा की । जबकि इधर नन्दी को वरदान मिला हुआ है कि उसके खुर स्पर्शमात्र से लोहा स्वर्ण बन जायेगा । वह वाहनरूप में भगवान् शिव के साथ-साथ विश्व भर में घूमता रहता है और इस प्रकार सर्वत्र ही स्वचरण स्पर्श से पृथ्वी को स्वर्णमयी बनाता रहता है । इस प्रकार नन्दी द्वारा काञ्चनीकरण की शक्ति की देशकालकृत कोई सीमा नहीं है जबकि भगवान् शिव द्वारा मात्र सात दिन ही स्वर्ण वर्षा की गई । शिव का भक्त वृषभ "नन्दी" स्वर्णवर्षण में उनका भी अतिक्रमण कर जाता है । परन्तु वह भी नन्दी की सेवा तप से प्रसन्न होकर स्वयं महादानी शिव के वरदान की कृपा है । शिव जब प्रसन्न होते हैं तो वह अपना सर्वस्व दान कर देते हैं ।

नन्दी ने भगवान् शिव के समक्ष "वसन्तश्री" का बहुत सुन्दर एवं मनोहारी चित्रण किया है – "वसन्तश्री" का पान करके चक्षु मतवाले हो रहे हैं । बालसूर्य के

---

1. श्रीकण्ठ0 17/14
2. श्रीकण्ठ0 1/54
3. श्रीकण्ठ0 5/53

संस्पर्श से शरीर भी अत्रस्त है । हे नाथ ! मधुसौन्दर्य का दर्शन करके चित्त अपने मे नहीं समाता । सूर्याग्निचन्द्रस्वरूप अपने चक्षुओं को दुर तक दौड़ाइये, उनके द्वारा दिशा नायिका के शरीर में रक्त कस्तूरी तथा श्वेतचन्दन के अङ्गराग की सिद्धि हो जाये । यह वसन्त, अपने नवपल्लवों की श्यामल आभा से आकाश को श्यामल बनाते हुए, दिशाओं को स्फटिक रश्मियों से ज्योत्स्ना के समान उज्जवल बनाते हुए, एवं सर्वविध सुगन्धि को सर्वत्र फैलाते हुए, सर्वत्र उल्लसित हो रहा है । यह दिशाऐं, कनककेतकसिन्धुवार आदि बल्लियों से शबलीकृत होकर , वसन्त के द्वारा कामदेव की विजय की इन्द्रधनुष–पंक्ति सी लग रही है । सूर्य पहले दक्षिण दिशा को स्वीकार किये था और मरूत उत्तर को । अब वसन्त ने दोनों में परिवर्तन करा दिया।[1]

मन्द मन्द वायु से हिलती हुई चम्पक कलियों पर बैठे हुए भ्रमरो को भी, दे देव ! देखिये वसन्त ने दोलाक्रीडा सिखा दी है । यदि आपकी आज्ञा हो तो, स्वकपोल–प्रभाओं से चम्पक पीतिमा को मलिन करने वाली पार्वती भी दोला को विभूषित करें एवं अपनी गण्डपाण्डुता से आकाश की श्यामता को दूर करें ।[2]

नन्दी के द्वारा सावज्ञ निवेदित देवों को विनय से शिर झुकाऐं हुए प्रवेश किया । [3] महाकवि ने यहॉ पर नन्दी के रूप में द्वारपालों के अहमन्य स्वरूप को बड़ी सफलता के साथ साक्षात् सा उपस्थित कर दिया है ।

भगवान् शिव के राजद्वार में हठ से प्रवेश करते हुए देवों के आवागमन का भ्रूसंकेत से विधि निषेध करने में अभ्यस्त नन्दी की भौहें क्रोध में अपने आप नाच उठी । मुरजवादन में अभ्यस्त नन्दी के हाथ, क्रोध में पृथ्वी को बड़ी देर तक पीटते

---

1. श्रीकण्ठ0 7/46–49
2. श्रीकण्ठ0 7/51,52
3. श्रीकण्ठ0 17/14

रहने पर भी नहीं थके । शत्रुओं के हाथियों के गण्डस्थलो पर नन्दी इस प्रकार कराघति करते थे मानो वे शिव के रणोत्सव में मुरजवादन ही कर रहे थे ।[1] महाकवि मंखक ने नन्दी के विविध स्वरूप प्रस्तुत किये हैं । नन्दी का चरित्र अद्वितीय एवं उत्कृष्ट रूप में चित्रित किया है ।

(ब) **ब्रह्मा :–**

चतुर्मुख ब्रह्मा द्वारा त्रिपुरासुर को वर प्रदान ही कथानक का मूलभूत कारण है । इस कथानक के बीज का वपन उन्होंने ही किया था । तारकाक्ष, विद्युन्माली और कमलाक्ष, नामक असुरत्रय ने इन्ही ब्रह्मा को अपनी घोर तपश्चर्या के द्वारा प्रसन्न किया था । इन तीनों ने ब्रह्मा से सीधे अमरत्व माँगा था परन्तु ब्रह्मा के द्वारा अमरत्व के लिए मना करने पर शत्रु के एक ही बाण से तीनों असुरों की मृत्यु का एक साथ ही होने का वरदान माँगा । इसके लिए ब्रह्मा ने एवमस्तु कह दिया । बाद में उन असुरों द्वारा देवों को उत्पीड़ित करने पर ब्रह्मा स्वयं देवसभा में शिव के समक्ष एक अपराधी की भाँति अपने द्वारा त्रिपुरों को वर प्रदान करने के विषय का वृतान्त सुनाया अन्ततोगत्वा भगवान् शिव से उन तीनों को भस्मीभूत करने की प्रार्थना की । और युद्ध में श्रीकृष्ण की भाँति, त्रिपुरारि के पृथ्वी रथ का सारथित्व स्वीकार किया । उनके ही सफल सारथित्व से त्रिपुर का नाश सम्भव हो सका । युद्ध के सारथि ब्रह्मा इस प्रकार "त्रिपुरवध" कथानक के सूत्रधार भी हैं ।

महाकवि मंखक ने ब्रह्मा का स्तुत्यात्मक वर्णन किया है । वे पुराणकवि, श्रुति कवि, एवं सृष्टिकर्ता हैं । हंस उनके वाहन हैं । वे कमलासन भी हैं । भगवान् विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल से उनकी उत्पत्ति हुई है । व्यवहारिक रूप में ब्रह्मा त्रिपुर के वरदाता तथा त्रिपुरारि के पृथ्वीरथ के सफल चतुर्मुख सारथी हैं ।

---

1. श्रीकण्ठ0 18/51,52

ब्रह्मा का स्तुत्यात्मक वर्णन "श्रीकण्ठचरितम्" के प्रथम सर्ग में किया है। ब्रह्मा ने प्रसन्न हो तत्काल दर्शन दिया। उनकी एकरूपा सृष्टि में मधुर कलादि अनेक रसों का आस्वाद होता है। श्लेषार्थ – ब्रह्मा अपने काव्यगत प्रसादगुण के कारण त्रिलोकी में "पुराणकवि" माने गये। उनके एक रूप काव्य में अनेक श्रृड़.गार , वीर, आदि रसों का आस्वाद होता है । विष्णु के नाभि कमल से उत्पन्न होने के पूर्व, उस विष्णुकुक्षि में स्थित प्रलयकालीन चराचर कारण सृष्टि का साड़.गोपाड़.ग ज्ञान प्राप्त कर लेने के कारण ही ब्रह्मा अब उत्पन्न होने के बाद सकल सृष्टि को खेल–खेल में ही बना डालते हैं। ऐसे ब्रह्मा आपकी रक्षा करें।[1]

जिनके मानस रूपी स्वच्छ मानस में विहार करने की कामना से कितने ही हंसों ने ब्रह्मा का वाहनत्व नहीं प्राप्त किया। वे हंस अपना वेतन, ब्रह्मा के आसनकमल के मृणालनाल को खाकर , अयाचित ही पा लिया करते हैं। भक्तिपूर्वक व ब्रह्मा "शिव भगवान्" आपकी स्तुति कर रहे हैं। तथा स्ववाहन हंसों को संयमित भी कर रहे हैं। हे शिव ! आप इन्हें अपने दर्शन प्रदान कीजिए।[2]

व्यावहारिक रूप में ब्रह्मा का प्रत्यक्ष दर्शन देवसभा और युद्ध में रथ के सारथी के रूप में होता है। श्रुतिकवि ब्रह्मा ने देवसभा में गम्भीर ध्वनि से शिव को सादर निवेदन किया -- देवताओं के मनोज्वर के वादों की भांति वे असुरत्रय भला किसको दुःसह ताप नहीं देते। हे त्रिनयन ! वे तीनों असुर त्रिभुवन के शत्रु हैं, सर्वप्रथम अपने यम -- नियम के कठोरतप पालन के द्वारा ऋषिमुनियों को भी पीछे छोड़ते हुए दृढ़ निश्चय के साथ मुझे प्रसन्न करने के लिए घोर तप किया।उनके घोर तप से त्रिलोक

---

1. श्रीकण्ठ0 1/24,25
2. श्रीकण्ठ0 16/30,31

के बाधमान होने पर मैने उन्हें दर्शन दिया । उन दैत्यों से मैने कहा कि हे पुत्रों ! मैं तुम्हारी तपश्चर्या से अत्यन्त प्रसन्न हूँ कि तुम्हें जो भी वर माँगना है माँग लो । उन दैत्यत्रय ने बड़ी विनम्रता से मुझसे कहा कि हे वरद्! अन्य साधारण वरों से क्या होगा । आपके मुखवचन सुधा का पान करने के कारण बस हम लोगों की ''अमृत्यु'' सिद्ध होवे । मेरे यह कहने पर कि मैं अमरत्व नहीं दे सकता तब उन दैत्यों ने पुनः सादर कहा -- यदि आप मुझे इस प्रकार का तप करने पर भी अमरत्व नहीं प्रदान कर सकते तो ऐसा वर दीजिए कि हम तीनों की मृत्यु शत्रु के एक ही बाण से एक ही साथ होवे । मेरे एवमस्तु के साथ इस प्रकार का वरदान पाकर उन तीनों ने स्वर्ण, रजत, और लौह की तीन नगर "मय" नामक शिल्पी से बनवाकर रहने लगे । पदमरागतोरण की प्रभाओं से संजात आग्नेय वप्र से परिवेष्टित स्वर्णपुरी को जिसकी खिड़कियों पर दैत्यसुमुखियाँ बैठी थी, दैत्यराज तारकाक्ष ने अपना निवास स्थान बनाया । श्वेत भवनों के सम्पर्क से चन्द्रोज्ज्वल अनुपम राजतनगर में परम्पराक्रमी कमलाक्ष ने अपना आवास स्थान बनाया विद्युन्माली ने कृष्णायस् मय लौहनगर को अपना आवास बनाया । वे तीनों त्रिपुर कहलाएं । वे लाखों वर्षों तक देवताओं को दुःसह दुःख देते रहे । उनके नाममात्र सुनकर भी देवॉगनाऐं पवनलोल लताओं की तरह हो जाती हैं । वे तीनों धातुओं के समान कुपित होकर इस समय दुःसह सन्निपात सा दुःख दे रहे हैं । इनकी शान्ति का उपाय हे भर्ग ! आपकी कृपादृष्टि ही हो सकती है, अन्य कुछ नहीं । जो संतानक लताऐं किसी समय क्रीडासक्त अप्सराओं की सूर्यकान्त मणियों की उष्मा को भी सहन नही कर सकती थीं, वे इस समय उन दैत्यों के सैनिकों के द्वारा विधूनित होकर अब पावाग्निज्वालाओं को भी, दुष्टावमान की तुलना में सहय समझ रही हैं ।[1]

त्रिपुर के दुष्ट सैनिक कल्पवृक्षादि को उखाड़ कर उठा ले गये हैं । दिग्गजों को भी वे पकड़ ले गये हैं । और दिग्गजों को उनके सैनिकों ने कल्पवृक्षादि स्तम्भों

---

1. श्रीकण्ठ0 17/46--64

मे सर्प रज्जुओं से बॉध रखा है । परिताप से उनका मद सूख गया है । लज्जा से वे शिर नीचा किये रहते है, यद्यपि उनके शिरों से भूभार उतर चुका है । अधिक क्या कहें, वे लोग समस्त पृथ्वी को बीर रहित समझकर हम देवों को शीघ्र ही नाममात्र अवशेष कर डालेंगे ।[1]

ब्रह्मा ने यहाँ संसूच्यशैली में अपना और दैत्यों का सम्पर्क वर्णन किया है और स्वयं ही देवताओं की ओर से त्रिपुर भस्मीभूत की प्रार्थना भी भगवान् शिव से की । ब्रह्मा सारथीरूप में युद्धस्थल में उपस्थित अवश्य हैं । तथा यम, कुबेर, वरूण, इन्द्र की अश्वचतुष्टयी को संयमित करते समय अपने चतुर्मुखत्व का गर्व भी धारण करते हैं । परन्तु फिर भी वे स्वर्था अलक्ष्य हैं । उनका गर्व कवि प्रौढोक्ति से ही सिद्ध हुआ है ।

त्रिपुर के भस्मीभूत हो जाने के पश्चात् चतुर्मुख ब्रह्मा सारथित्व का स्वरूप छोड़कर स्वस्वरूप धारण कर भगवान् शिव की स्तुति करते हैं और अपने ब्रह्मा धाम को प्रस्थान करते हैं ।

(स) **विष्णु :–**

महाकवि मंखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" के प्रथम सर्ग में भगवान् विष्णु का मंगलात्मक स्वरूप चित्रित किया है ।[2]

व्यावहारिक रूप में वे भगवान् शिव के बाण का रूप ग्रहण करते हैं । विष्णु का व्यक्तित्व पूरे महाकाव्य में कहीं भी उभर कर नहीं आया है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 17/66
2. श्रीकण्ठ0 1/26--31

(द) **इन्द्र वरूण कुवेर यम :–**

ये लोग शिव रथ के अश्वचतुष्टय के रूप में परिकल्पित किये गये हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ "श्रीकण्ठचरितम्" में कहीं भी देव व्यक्तित्व से प्रत्यक्ष नहीं वर्णित किये गये । यह सभी लोग प्रधान नायक शिव के सहायक रूप में वर्णित हैं ।

(ट) **गणेश कुमार :–**

"नमस्कारवर्णन" नामक प्रथम सर्ग में महाकवि मंखक ने इनको सकलविघ्नोपघातक शिवपुत्र गजानन मयूर वाहन का भृगुनन्दन परशुराम का प्रधान मल्ल कार्तिकेय की स्तुति की है ।[1]

व्यावहारिक रूप में "युद्धवर्णन" नामक तेइसवें सर्ग में गणेश कुमार की युद्ध वीरता का चित्रण किया गया है ।[2] परन्तु हैं दोनो ही सर्वत्र संसूच्यशैली में ही, प्रत्यक्षतः वे कही भी नहीं दिखाई देते । न ही वे एक दो वाक्य किसी से कहते हैं ।

(ठ) **तण्डु और भृंगिरिटी :–**

तण्डु तथा भृंगिरिटी ने युद्ध में अच्छी वीरता दिखाई है । परन्तु ये लोग भी सर्वत्र अप्रत्यक्ष ही हैं । महाकवि मंखक ने गणक्षोभ का विस्तृत निबन्धन किया है तथा गणों की वीरता का युद्ध में भी वर्णन किया है, लेकिन देवसैन्य का सर्वथा अभाव है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 1/38–42
2. श्रीकण्ठ0 23/31–42

पञ्चम अध्याय

"श्रीकण्ठचरितम्" में प्रकृति चित्रण

श्रीकण्ठचरितम् में प्रकृति चित्रण

संस्कृत वाङ्मय में विश्व के सर्वाधिक प्राचीन और पवित्र ग्रन्थ वेदों, पुराणों से लेकर लौकिक संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों, नाटकों आदि में प्रकृति चित्रण और उसके प्रति सहज प्रेम की अभिव्यक्ति की गयी है । वेदों में प्रकृति का सुन्दर वर्णन उपलब्ध है । वैदिक देवता प्रकृति के ही किसी न किसी रूप के अभिव्यञ्जक है । वैदिक ऋषियों ने प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव किया । अनेक ऋचाओं में ऊषा के मनोहर सौन्दर्य की स्तुति की गयी ।[1] ऋग्वेद में गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नदियों [2] एवं यजुर्वेद में पशु–पक्षियों[3] आदि का सजीव वर्णन किया गया । पुराणों में भी गंगा आदि नदियों एवं वृक्षारोपण आदि का वर्णन है । महाकाव्यों में चित्रित प्रकृति की छटा न केवल उनके चारूत्व को बढ़ाती है अपितु अपने प्रति मानव प्रेम को भी अभिव्यक्त करती है । सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य प्रकृति चित्रण से भरा पड़ा है और हमारे प्रकृति प्रेम का इससे बढ़कर प्रमाण और क्या हो सकता है कि महाकाव्य के लक्षण में प्रकृति–चित्रण की अनिवार्यता स्वीकृत की गयी है । आचार्य भामह के अतिरिक्त सभी आचार्यों के द्वारा प्रकृति चित्रण यथा – समुद्र, पर्वत, नगर, ऋतु, वन, सूर्योदय, चन्द्रोदय, नदी, उद्यान, प्रातः मध्यान्ह, रात्रि, जल, क्रीड़ा, मध्यान्ह. इत्यादि के वर्णन को आवश्यक माना है, भामह इस विषय में मौन हैं ।

साहित्य में प्रकृति का अर्थ वनस्पति जगत ही नहीं होता । सूर्य, चन्द्र, सागर, पर्वत, नक्षत्र, ऋतुऐं, पशु–पक्षी, लोकलोकान्तर दिशाऐं और सायं–प्रातः उषाकाल आदि सब प्रकृति के अन्तर्गत ही आते हैं । मानव चतुर्दिक् प्रकृति से परिवेष्ठित है । मनुष्य प्रतिक्षण प्रकृति का उपयोग करता है । परिवर्तन क्रम के अनुसार समय–समय पर प्रकृति के सभी चित्र मनुष्य के मानस–पटल पर उतरते रहते हैं । वह उनसे यथेष्ट रूप में प्रभावित भी होता है ।

---

1. ऋग्वेद 1–123–10, 3–61–4
2. ऋग्वेद 10–75–5
3. यजु0 24–20–40

प्रकृति का अजस्र स्रोत सतत प्रवाहित होता रहा है । प्रकृति का प्रत्यक दृश्य शुद्ध सात्विक आहलाद् के साथ–साथ निर्मल कर्म–प्रेरणा से ओत–प्रोत है । [1] प्रकृति के कोमल रूप तो रमणीय लगते ही हैं, उसके भीषण स्वरूप भी मानव के मस्तिष्क मे मधुर–आन्दोलन उत्पन्न करते है । प्रकृति के कोमल–भीषण छायातप में वह अहर्निश सुख--दुख की आँखमिचौली खेलता रहता है । प्रकृति कभी तो मानव–विचार–भावो का आलम्बन बनती है और कभी--कभी अपनी अद्भुत विभूतियों से मानव के उन–उन विचार–भावो का शतशः उद्दीपन करती रहती है । स्वतन्त्र वर्ण्य रूप में आरोपित और समासोक्ति भाव से वह आलम्बनत्व धारण करती है । उसके वर्ण्यरूप के 'मानवीकरण' तथा 'स्वाभावोक्ति' रूपात्मक दो स्वरूप होते है । स्वाभावोक्ति उपयोगितावादी अथवा वैज्ञानिक गवेषणात्मक भी हो सकती है । कभी यह कर्म का निरूपण मात्र हो सकती है और कभी स्वरूपवर्णन परक । कर्म स्वरूप उभयात्मक भी हो सकती है । मेघ--पवन--हंस दूतादि आरोप यदि कार्यसाधक हैं तो भ्रमर दूतादि व्यंग्यात्मक हैं । दार्शनिक आरोपों का तो कहना ही क्या । समासोक्ति आरोपण के कई रूप होते हैं :–

1 व्यवहार समारोप

2. धर्म समारोप

लौकिक वस्तु में लौकिक वस्तु व्यवहार या धर्म समारोप, लौकिक वस्तु में सर्वथा अलौकिक अथवा शास्त्रीय व्यवहार अथवा धर्म समारोप, इसी प्रकार अलौकिक वस्तु में अलौकिक वस्तु व्यवहार या धर्म समारोप और अलौकिक वस्तु में लौकिक वस्तु व्यवहार या धर्म समारोप । आलम्बन रूप में प्रकृतिचित्रण की परिणति भाव के अन्तर्गत आयेगी ।

उद्दीपक में वर्णित प्रकृति के प्रति परम्परा प्राप्त कुछ कवि–प्रसिद्धियाँ प्राचीन काल से चली आ रही हैं । कभी--कभी संयोगवश भी प्रकृति के द्वारा सहृदय का भावोद्दीपनत्व सम्पन्न हो जाता है । सूर्यचन्द्र–मलयपवनादि जहाँ अनुकूल परिस्थिति में अनुकूल भावों

---

1. ऋग्वेद 3/33/1

का उद्दीपन करते हैं, वहीं प्रतिकूल परिस्थिति में वे ही उन्हीं भावों का प्रतिकूल उद्दीपन भी करते है फिर भी वे सहृदयावर्जक होते हैं ।

कवि प्रकृति के इन सभी प्रकारों का कभी तो मात्र एक रेखाचित्र उपस्थित करता है कभी उनका एक पूर्ण संश्लिष्ट चित्र । रेखाचित्र संसूच्य होते हैं तथा संश्लिष्ट चित्र दर्शनीय । रेखाचित्र एवं संश्लिष्ट चित्र साधारण भाषा में भी हो सकते हैं और अलंकारिक भाषा में भी । चित्रण साधारण वर्णनात्मक भी हो सकता है तथा गम्भीर भावात्मक भी । सभी चित्र स्वतः सम्भव, कविप्रौढोक्ति सिद्ध अथवा कविनिबद्ध प्रौढोक्ति सिद्ध हुआ करते हैं ।

वैदिक साहित्य में भी प्रकृति – चित्रण यथेष्ट रूप में मिलता है । विशेषता यह है कि वेद में ऊषा, नदियॉं, सूर्य, चन्द्र और अन्य प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण करने के स्थान पर ऐसा दैवीकरण किया गया है प्राकृतिक शक्तियों का यह अधिदैवतस्वरूप अर्थवाद तथा अद्वैतवाद से अनुप्राणित है ।

महाभारत घटना प्रधान संग्रहात्मक महाकाव्य है । इस महाकाव्य के विशाल कलेवर में कुछ प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण प्रसंगतः हुआ है, साहित्यिक रूप में नहीं रामायण महाकाव्य की स्थिति महाभारत से सर्वथा भिन्न है । रामायण महाकाव्य को प्रकृति चित्रण की दृष्टि से भी आदि काव्य कहना समीचीन होगा । इसका प्रकृति चित्रण इतना सरस, सुकोमल, पूर्ण एवं हृदयग्राही है । रामायण में प्रत्येक विषय का चित्रण सहज–स्वाभाविक है और नैतिकता एवं साहित्यकता का उज्ज्वल आदर्श है । इसमें अन्तःप्रकृति के सदृश ही वाह्यप्रकृति का भी सर्वथा आदर्श–स्तुत्य चित्रण हुआ है ।

संस्कृत के साहित्यिक महाकाव्यों और नाटकों की परम्परा में प्रकृति का चित्रण अपनी एक विशिष्ट परम्परा के अनुसार हुआ है । इनमें प्रकृति ने मानव के अत्यन्त

निकट का साहचर्य प्राप्त कर लिया है । नखशिखवर्णन मे प्राकृत अप्रस्तुत विधानों की बहुलता तथा प्रकृति दृश्य में मानव–भावनाओं का आरोपण इसी साहचर्य को प्रमाणित करते है । इनमे भी श्रृंगार भावना ही प्रधान है । गद्य महाकवि बाणभट्‌ट और प्राकृत काव्य "सेतुबन्ध" के कर्त्ता प्रवरसेन किन्हीं अंशों में इसके अपवाद हैं । कविकुलगुरू कालिदास का काव्यसौन्दर्य अनुपम है । कालिदास का प्राकृतिक चित्रण सहज सरस सुकोमल एवं हृदयग्राही है । भवभूति का प्रकृति चित्रण पवित्रता एवं शालीनता में आदिकवि वाल्मीकि के निकट तक पहुँचता है । उनकी प्रकृति सागर की भाँति गम्भीर विशाल तथा उदार है, भवभूति मे स्त्रैणता नहीं है । भारवि का महाकाव्य ओजस्विता एवं अर्थगौरव से दीप्तिमान है । महाकवि माघ में सभी गुण विद्यमान होने पर भी लालित्य एवं पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना प्रधान है । महाकवि रत्नाकर और हर्ष दोनों ही श्रृंगार प्रधान कवि हैं । भारवि, माघ, हर्ष तथा रत्नाकर में पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना अत्यधिक है । प्रकृति चित्रण की दृष्टि से महाकवि मंखक को साधारणतया किसी कोटि विशेष में नहीं रखा जा सकता है । श्रृंगार भावना का इनमें भी अच्छा पुट प्राप्त होता है, पाण्डित्य प्रदर्शन से भी यह अछूते नहीं हैं । इन्होंने मौलिक कल्पनाओं के द्वारा ऊँची ऊँची उड़ान भरी है । "कर्णिकार मंख" इनकी काव्यार्जित उपाधि है इसी प्रकार कालिदास को "दीपशिखा कालिदास", भारवि को "आतपत्र भारवि" माघ को "घण्टा माघ" रत्नाकर को "ताल रत्नाकर" की उपाधि प्राप्त हुई । महाकवि मंखक की कल्पना सूक्ष्म एवं सजीव है । साधारणतया प्रस्तुत महाकाव्य श्रीकण्ठचरितम् में पूर्ण प्रकृति चित्रण प्राप्त होता है । कैलास[1] वसन्त,[2] वन–विहार,[3] दोलाक्रीडा,[4] कुसुमावचय [5] जलक्रीडा,[6]

---

1. श्रीकण्ठ0 सर्ग 4
2. श्रीकण्ठ0 सर्ग 6
3. श्रीकण्ठ0 सर्ग 7
4. श्रीकण्ठ0 सर्ग 7/54–66/
5. श्रीकण्ठ0 सर्ग 8
6. श्रीकण्ठ0 सर्ग 9

सन्ध्या.[1] चन्द्र,[2] समुद्र [3] तथा काश्मीर [4] वर्णन आलम्बन प्रधान प्राकृतिक वर्णन है ।

(क) **कश्मीर वर्णन :–**

श्रीमण्ठचरितम् में "देशवंशादिवर्णनम्" नामक तृतीय सर्ग के अन्तर्गत महाकवि मखक ने कश्मीर का मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है । कश्मीर प्रदेश के सतीसरोवर मण्डल का एवं वहाँ के पर्वतों का वर्णन करते हुए कवि कहता है – कि कश्मीर देश धनपति कुबेर के उत्तर दिशा का ललाट भूषण है । इस प्रदेश में "सतीसरोवर" नाम का मण्डल है । वह ब्रह्मा के विविध यज्ञों के अवभृथ स्नान का एक मात्र स्थान प्रतीत होता है । वह "सतीसरोवर" मण्डल हिमाच्छादित पर्वतों से आवेष्ठित होने से एवं दुग्धसागर से मानों उसकी प्रदक्षिणा की जा रही हो ऐसा आभासित होता है ।. हिम पर्वतों से आच्छादित होने से देश के मध्य में कश्मीर प्रदेश का स्थान दुर्जेय है ऐसा ध्वनित होता है ।[5] आगम के अनुसार कश्मीर देश में उत्पन्न सर्पो को गरूड़ का भय नही होता है क्योंकि यहाँ पर पर्वतों का बाहुल्य है इसलिए कवि उत्प्रेक्षा करता है कि यह प्रदेश सर्पो के कुलों को . अभय बनाता है ।[6]

महाकवि मड्.खक कश्मीर के कुंकुम पुष्पों एवं उन पुष्पों से सुवासित वायु का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कुंकुम पुष्पों की अधिकता से कश्मीर भूमि तीनों लोकों में शोभायमान है । ~~इससे तीनों लोकों में तिलक भूत लोकों में शोभायमान है~~ । इससे तीनों लोकों में तिलक भूत कश्मीर भूमि. सुवासित होती है ।[7] कश्मीर देश में कुंकुम पुष्पों के आधिक्य से एवं कुंकुमपुष्प युक्त वायु के द्वारा कामोद्दीपन होने से कामिनियों

---

1. श्रीकण्ठ0 सर्ग 10
2. श्रीकण्ठ0 सर्ग 11
3. श्रीकण्ठ0 सर्ग 12/36–55/
4. श्रीकण्ठ0 सर्ग 3
5. श्रीकण्ठ0 सर्ग 3/1,3
6. श्रीकण्ठ0 सर्ग 3/13
7. श्रीकण्ठ0 सर्ग 3/6

में मानग्रहण असम्भव ही हैं । क्योकि यह कुंकुम वायु रक्ताम्बर की तरह इधर उधर कुंकुम रज की पंक्तियों को बिखेरती हुई विरहिणियों की बाध्यता को संसूचित करती है । अतएव कुकुम वायु के प्रभाव की अधिकता से यहॉ की मानिनियॉ अपने मान को छोड़कर काम के वशीभूत हो जाती है ।[1] यहॉ के कुंकुम पुष्प जब वितस्ता नदी में गिरते हैं तो वह वितस्ता नदी कितनी शोभायमान होती है – कश्मीर देश में वितस्ता नदी प्रवाहित होती है इस नदी के तट पर कुंकुम पुष्प के वृक्ष हैं, इन वृक्षों के पुष्प नदी में गिरते हैं, इसलिए पुष्प सौरभ के लोलुप भ्रमर उसमें सौरभों को लूटते हैं । वे भ्रमर पंक्तियॉ वितस्ता नदी में स्नान करती हुई स्त्रियों की चोटी की तरह परिलक्षित होती है । इससे स्वर्गलोक की नदी की अपेक्षा वितस्ता नदी का पावनातिशयत्व द्योतित होता है ।[2] यूपदार आदि वृक्षों का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि इस सतीसरोवर मण्डल में यूपदार की अधिकता से कलि प्रदेश में इनका अर्गल भाव उपवर्णित है ।[3]

कश्मीर की स्त्रियों के रति विलास का वर्णन बहुत सूक्ष्म एवं मनोहारी है यहॉ की स्त्रियों के विलास को देखकर मुनिजन भी धैर्यच्युत हो जाते हैं क्योंकि रतिविलास में यहॉ की नारियां निपुण होती है, ऐसा ध्वनित होता है । यहॉ की कामिनियों के कुचों की कठिनता एवं पीनता तथा पुष्टत्व अवर्णनीय है इसलिए यहॉ की रमणियों का आलिंगन नायकों को अतिशय रसानुभूति प्रदान करता है ।[4] यहॉ विलासी कामिनियॉ रात्रि में अपने चन्द्रमुख से घूॅघट हटाकर अपने भवनों में निःश‌ड्‌क होकर विलास करती थी । उन कामिनियों के मुख की कान्ति कृष्ण पक्ष में भी पूर्व चन्द्रमा का भ्रम पैदा करती थी ।[5] यहॉ कवि ने कामोद्दीपन का उत्प्रेक्षात्मक वर्णन किया है -- कश्मीर

---

1. श्रीकण्ठ0 3/26
2. श्रीकण्ठ0 3/7
3. श्रीकण्ठ0 3/2
4. श्रीकण्ठ0 3/22
5. श्रीकण्ठ0 3/25

में इन्द्र के द्वारा किये गये विलास से निकले हुए रसायनों से कामदेव नित्य नूतन योवन को प्राप्त करता है । यहाँ माघ के महीने में हिमपात होता है । इससे कवि उत्प्रेक्षा करता है कि जैसे -- मानों कामदेव हिम्मपात के बहाने से जर्जरित सफेद केशों को छोड़कर पुनः यौवनत्व को प्राप्त करता है । इसलिए यहाँ के लोग हेमन्त ऋतु में काम के वशीभूत होकर नित्य ही स्त्रियों का भोग करते हैं । इससे हेमन्त ऋतु में काम का प्रभाव सूचित होता है ।[1] कश्मीर देश में उत्पन्न रमणियों के द्वारा कटाक्षपात मात्र से कामोत्पत्ति होती है । इसलिए इन कमिनियों की दृष्टि काम वधुओं के भर्तृहरण जन्य असह्य शोक कण्टक को हरती है । यहाँ पर कवि ने जो "अंगार -- शकटिका" (अंगीठी) का वर्णन किया है वह अनुपम एवं अतुलनीय है -- हेमन्त ऋतु मं अन्तःपुर के घरों में जलती हुई अग्नियुक्त शकटिका अत्यधिक शोभित होती है । इस अंगार शकटिका में बहुत से छिद्र होते हैं उन छिद्रों से जलती हुई अग्नि की ज्वालाऐं निकलती हैं । यहाँ कवि उत्प्रेक्षा करता है कि भगवान् शङ्कर ने अपने इसी अग्निमय नेत्र से कामदेव को भस्मीभूत कर दिया था । इसलिए कामदेव भी अत्यधिक अग्निमय नेत्रसमूहों से भगवान् शङ्कर को जीतने का प्रयास करता है ऐसा प्रतीत होता है । कश्मीर वासी हिम ऋतु में ठंड्क को दूर करने के लिए अंगीठी (अंगार शकटिका) का सेवन करते हैं । ठंड के दूर होने पर कामोद्दीपन होता ही है स्वतः सिद्ध है ।[2] शिशिर ऋतु का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि शिशिर ऋतु में विलासिनियों के मधुपान के स्थान मणिसमूहों से सुशोभित होते है । अपने धनुष को धारण किये हुए कामदेव के चित्त का भेदन करने में वे मयूख सर्वसमर्थ थे ।[3]

महाकवि मंखक के अनुसार कश्मीर एक धार्मिक स्थल है जहाँ पर याज्ञिक कार्य चलता रहता है और जहाँ कपटेश्वर भगवान् निवास करते हैं । उसी का सुन्दर वर्णन किया है -- कश्मीर के ब्राह्मण बालक अग्निशालाओं की तीन अग्नियों के धूम्रपुञ्ज के

---

1. श्रीकण्ठ0 3/8
2. श्रीकण्ठ0 3/29
3. श्रीकण्ठ0 3/5

स्पर्शमात्र से उत्कृष्ट अजिन धारण का पुण्य प्राप्त करते हैं । अग्निशाला से उठा हुआ तीनो अग्नियों का धूम्रपुञ्ज ब्राह्मण पुत्रो को निष्पाप बनाता है । तात्पर्य यह है कि उस समय कश्मीर देश में रात दिन तीनों वेदों में उक्त रीति के द्वारा यज्ञ कार्य चलता रहता था ।[1] तीनों लोको के पाप की पीड़ा से नितान्त खिन्न मन वाले "कपटेश्वर" नाम के महेश्वर यहॉ अपने नेत्राग्नि ज्वाला की शान्ति के लिए काष्ठमय शरीर को धारण करते हुए अपने को गूढ़ जल में डुबो दिया ।[2] भगवान् विष्णु भी इस भूमि को पवित्र बनाते हैं । भर्तृस्नेह की अधिकता से भगवती लक्ष्मी के द्वारा किये गये वशीकरण मन्त्र के प्रयोग से भगवान् विष्णु चिरकाल तक अनुभूत क्षीर समुद्र के सुख को छोड़कर चक्रधर के रूप में कश्मीर प्रदेश को पवित्रतर बनाते हैं ।[3]

महाकवि मड्.खक ने कश्मीर प्रदेश के "शारदापीठ" का वर्णन करते हुए मॉ सरस्वती की कृपा का वर्णन किया है – कश्मीर भूमि को प्राप्त कर भगवती वाग् देवी अपनी चरण कमलों की धूल से यहॉ के नागरिकों को सारस्वत दृष्टि से सम्पन्न करती हैं । कश्मीर में शारदापीठ है, इसलिए मॉ शारदा के चरण कमलों की सेवा से ही कश्मीरी लोग बिना प्रयास के अनेक शास्त्र में पारंगत दिखलाई पड़ते हैं ।[4] भगवती वाग् देवी की कृपा कटाक्ष से यहॉ के बालक भी अनायास विद्या को प्राप्त करते हैं ।[5]

उपर्युक्त कश्मीर प्रदेश में सरोवर, पर्वत, नदी, वृक्ष, ऋतु, धार्मिक स्थल एवं कश्मीर वासियों पर सरस्वती अनुकम्पा, तथा अंगार शकटिका इत्यादि का महाकवि

---

1. श्रीकण्ठ0 3/4
2. श्रीकण्ठ0 3/14
3. श्रीकण्ठ0 3/12
4. श्रीकण्ठ0 3/9
5. श्रीकण्ठ0 3/20

मड़्खक ने बहुत ही सूक्ष्म, सजीव तथा मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है। जो कि अनुपम एवं अतुलनीय है।

(ख) कैलास वर्णन :–

महाकवि मंखक ने कैलास पर्वत का आलम्बन प्रधान वर्णन बहुत ही मनोरम किया है। पवित्र अनुष्टुप छन्द में हिमाच्छादित कैलास पर्वत का वर्णन पाठक के हृदय मे पवित्र शुभ भावों का संचार करता है। कालिदास,[1] भारवि,[2] और माघ[3] के समान महाकवि मंखक ने भी कैलास पर्वत की पवित्र गुफाओं कन्दराओं का उल्लेख किया है। कवि कैलास की हिम स्फटिक धवलता से मन्त्र मुग्ध सा हो गया है। कैलास की दुग्धोपम ज्योत्स्ना --श्वेतता का वर्णन अनुपम एवं अतुलनीय है। महाकवि मंखक ने छोटे छोटे सूक्ष्म एवं सजीव चित्रों की श्रृंखला से ही कैलास पर्वत की भव्य श्रृंखलाओं को व्यंजित करने का प्रयत्न किया है। अनुष्टुप छन्द एवं प्रसादमयी भाषा द्वारा कैलास धवलिमा का पावन वर्णन प्रस्तुत किया है। वर्णन की यथार्थता यह है कि महाकवि मंखक ने कैलास से निकलती हुई किसी नदी का वर्णन नहीं किया है। वर्णन मे कैलास के पौराणिक महात्म्य का ही प्राधान्य है। कैलास पर्वत का आलम्बन रूप संश्लिष्ट चित्र द्रष्टव्य है। चन्द्रमा की सान्द्र किरणों – जैसे भासवाला तथा धनपति कुबेर की पत्नी के मधुर हास – सा कैलास पर्वत, शिवजी का निवास स्थल है। स्वच्छ स्फटिक शिखरों से मृग प्रतिबिम्बित यह कैलास तो ऐसा लगता है कि मानों ब्रह्मा ने जैसे इसे शशि – राशि से ही निर्मित किया हो।[4] कैलास की आकाश व्यापिनी शुभ्ररश्मियाँ ब्रह्मा के आसन पद्म के मृणालनाल की शोभा धारण करती हैं ब्रह्मा स्वर्ग में रहते हैं। स्वर्ग पृथ्वी से अपर स्थित है। स्वर्गस्थित ब्रह्मा के आसन कमल का मृणालनाल स्वभावतः

---

1. कुमारसम्भवम् – कालिदास 1/10,11–13/
2. किरातार्जुनीयम् – भारवि 5/5,11,23–28/
3. शिशुपाल0 – माघ 4/27,38,40,42,45,51,62,66–67
4. श्रीकण्ठ0 4/1–2
5. श्रीकण्ठ0 4/3--4

ही अध आगत होना चाहिए । मृणालनाल शुभ्र सरल होता है । रश्मियाँ भी शुभ्र सरल है । अतः वे ब्रह्मासन पद्मनाल ही है । शिवजी के मत्थे पर स्थित भी चन्द्र इस कैलास की दुग्धधवल रश्मियों के लाभ के कारण इन रश्मियों को ही क्षीरसागर समझकर स्वय को सचमुच क्षीरसागर मे ही स्थित समझता हुआ , क्षीर सागर में निवास करने की अपनी इच्छा को नहीं त्याग पाता – यद्यपि वह क्षीर सागर से दूर शिवजी के मस्तक पर रह रहा है । समुद्रमन्थन के समय चन्द्र भी समुद्र से ही निकला था ।[1]

अपनी चतुर्दिक प्रसरणशील रश्मियों के द्वारा कैलास पर्वत दिशा नायिकों के मस्तक पर कर्पूर के शुभ्र तिलक बिन्दु से लगाता प्रतीत होता है । अतएव प्रसारित रश्मिसमूह कर्पूर तिलक जैसा प्रतीत होता है । अपनी ऊँची ऊँची व्याप्त विशाल श्रृंगमालाओं के द्वारा पूर्ण श्वेतशोभाढ्य कैलास पर्वत पृथ्वी के भार को धारण करने में स्वयं को असमर्थ नहीं बताता अर्थात अपनी विशालता से पृथ्वी भार को धारण करने में अपने को पूर्णतया समर्थ पाता है, ऐसा वह कैलास पर्वत चारों ओर नवसुधा ज्योत्स्ना को प्रस्त्रवित करता रहता है । कैलास की शुभ्र किरणों के द्वारा वर्षाकालीन श्याममेघ की कालिमा आत्मसात कर लिए जाने के कारण वह वर्षा–मेघ शरदकालीन मेघ भाव को नहीं छोड़ता ।[2] वर्षा मेघ कैलास श्वेततावश शारदपयोद ही प्रतीत होता है । स्फटिकरश्मियों के परिमण्डल से घिरे हुए कैलास की गंगा श्वेत परिमण्डल रूपा प्रदक्षिणा करती हुई सी लगती है क्योकि वह श्वेतता में कैलास से हार जो गई है ।[3] कैलास प्रदेश में कैलास की स्फटिक शुभ्रता के कारण काली रात्रि दिन सी और दिन, शिव जी के कण्ठ की श्यामिका आभा से आभासित होकर रात्रि सा प्रतीत होता है । तुलनात्मक कृष्णश्वेत वर्णोत्कर्ष का अभूतपूर्व निबन्धन है ।[4]

---

1. श्रीकण्ठ0 4/3–4
2. श्रीकण्ठ0 4/5–7
3. श्रीकण्ठ0 4/10
4. श्रीकण्ठ0 4/12

हरिणलांछन चन्द्रमा की किरणों के समान कान्तिवाली अपनी स्वच्छ धवल रश्मियो रूपी यश. छटा को चारों ओर बिखेर कर कैलास अशष पर्वतो को राजा वाला बनाता है । श्वेताभा बिखर कर कैलास को सब पर्वतों का राजा बलात् पूर्वक मनवाये दे रही है । ताण्डव प्रसक्त शिव जी के चरणपात से उद्धत कैलास पर्वत के श्वेत रज कणों को प्रतिरात्रि आकाश तारों के रूप मे धारण करता है ।[1] यहाँ पर रजकण ही तारे हैं । दिशाओं में दूर तक प्रभापंखों को फैलाऐ हुए यह कैलास मानसरोवर मे बैठा हुआ विश्व लक्ष्मी की क्रीडा हस सा लगता है । कैलास मानसरोवर के निकट ही स्थित है । अत्युच्च स्फटिक श्रृंगमालाओं में यत्र–तत्र प्रविष्ट नवश्याम अम्बुदखण्ड कृष्णाक्षर–पंक्ति से प्रतीत होते हैं । अम्बुदसंकुलित स्फटिक शिलाएं कैलास की प्रशस्तिपट्टिकाएं सी शोभित होती हैं ।[2] कैलास की प्रभामाला द्यावा पृथ्वी की सीमान्त रेखा या माँग , दिशाओं का रेशमी अवगुण्ठन दिवकुंजर के भाल पर डालने का मुखपट, भर्ग की द्वितीय विभूति, मानसरोवर का फेन और सर्प की छोड़ी हुई केंचुल के समान शोभित होती है । स्वच्छ स्फटिक भित्तियों में प्रतिबिम्बित जगत् को धारण करते हुए लगता है कि मानो कैलास ने शिव जी से शिक्षा पाकर कल्पान्त के समय सम्पूर्ण जगत् को आचमन कर लिया हो । सूर्य – प्रतिबिम्बित पाण्डुशरीर को धारण करने वाला कैलास घनी इरा मंजरी के फूलों का बड़ा – सा गुच्छा प्रतीत होता है । स्फटिक शिलाओं में प्रतिबिम्बित कुमार गुह हा मयूर पातालवासी सर्पों को पकड़ने के लिए, पाताल को प्रस्थित होता हुआ सा प्रतीत होता है ।[3]

---

1. श्रीकण्ठ0 4/13–14
2. श्रीकण्ठ0 4/23–25
3. श्रीकण्ठ0 4/27–33
4. श्रीकण्ठ0 4/63–64

विश्वात्मा एवं अपने स्वामी शिव जी के दिगम्बरत्व जैन साधु वेश धारण करने पर, कैलास दिशा विदिशाओं में विस्तृत अपने किरण तन्तुओं के ताने बान से उन शिव जी के लिए श्वेताभवस्त्र बुनता सा प्रतीत होता है ।[1] कैलास अन्तरिक्ष में क्षीर सागर, हिमगिरि और कभी नीचे न गिरने वाला देवस्त्रोतस्विनी गंगा का प्रवाहपूर प्रतीत होता है । शशिज्योत्स्ना के प्रतिद्वन्दी प्रभाजाल को दिग्दिगन्तर मे विकीर्ण करता है चकोरियाँ इसकी आभारश्मियों को चन्द्ररश्मियाँ समझकर व्यर्थ ही पुनः पुनः उन्हें चाटने के लिए अपनी जिह्वाएं सक्रिय करती हैं । यह कैलास प्रभास्तोम चन्द्रभासों का द्विगुणितरूप, चन्द्रशेखर का अट्टहासानुप्रास , पार्वती की हस्ति सुधा की पुनरूक्ति तथा देवगंगा लहरी की पुनरावृत्ति प्रतीत होता है । ऐसे पर्वतराज कैलास के गुणों का गुणगान कौन कर सकता है ।[2]

दाहोपद्रव के अवसर पर कामदेव के द्वारा अपना अमूल्य कोष, किन्नरियों के रूप में, न्यासीकृत होकर आज भी जिस कैलास के पास कन्दराओं में सुरक्षित हैं ।[3] कोई किसी सच्चे समर्थ के पास ही अपना अमूल्य कोषादि न्यास रूप में रखता है । वह महाजन भी न्यासीकृत कोषादि को बड़े यत्न से किन्हीं निभृत स्थानों में छिपाकर रखता है । ऐसे गुप्त स्थान कन्दरा से बढ़कर कहीं हो सकते हैं । यही कारण है कि कैलास ने कामकोष किन्नरियों को अपनी कन्दराओं में छिपा रखा है । स्वभावतः किन्नरादि पर्वत गुफओं में निवास करते हैं । महाकवि मंखक की यह उत्प्रेक्षा बड़ी ही काल्पनिक है ।

शिखरों पर छाये हुऐ श्याममेघ, जो भ्रमरों से भी अधिक कृष्ण है, प्रज्जवलित औषधियों के उठते हुए काजलधूम से लगते हैं ।[4] औषधि–दीप नीचे और कज्जल मेघ

---

1. श्रीकण्ठ० 4/34
2. श्रीकण्ठ० 4/63–64
3. श्रीकण्ठ० 4/19
4. श्रीकण्ठ० 4/47

ऊपर हैं । वायु विलोड़ित बड़े बड़े कपालमाला जिन वृक्षा के उच्च शिखरों पर शाभित हैं जो चंचल करपत्रो में हरी रूद्राक्षमाला को धारण करते है और तटों के किनारे दीर्घकाल से तपोलीन जिनके शरीरों से दीर्घजटाएं अर्थात् उपशाखाऐं निकल कर भूमि को छू रही है । ऐसे वे तपस्या में दृढ़ता को प्राप्त कैलास पर्वत के वृक्षवर्ग कैसे अड़िग खडे रहते हैं । प्रत्युत् वे वायुवेगों को रजःपूरित कर देते हैं ।[1] जो कैलास निर्मलता में साधुओं के पवित्र हृदय के समान है । उस कैलास पर्वत में कहीं पर एक दो छोटे छोटे तमाल तरू प्रकाण्ड सुशोभित हो रहे हैं । श्वेताभा में यह कृष्ण तमाल ऐसे लगते है कि जैसे मानों यह कैलास की कुक्षि में चमकते हुए आपीत तम शकल हैं ।[2] अर्थात पारदर्शी कुक्षि में पीततम झलक रहा है । संश्लिष्ट चित्रांकन शैली में यह कैलास पर्वत का आलम्बन प्रधान वर्णन सर्वथा अलौकिक है । मानवीकरण तथा मानवभावनाओ का आरोपण भी कही कहीं आ अवश्य गया है, परन्तु वह अश्लीलता की कोटि से बहुत दूर है ।

शिव जी की नेत्राग्नि कैलास पर्वत की रत्नसानुओं में प्रतिफलित होकर भयंकर दावाग्नि का इन्द्रजाल सा उपस्थित करती हैं । इन्द्रजाल इसलिए कि भयंकर दावाग्नि तो प्रज्वलित हो रही है लेकिन कुछ जलता नहीं है ।[3] प्रज्वलित भंयकर सूर्य कान्तमय बड़ी बड़ी गुफाओं को धारण करने वाला कैलास दिन में भगवान् रूद्र द्वारा डाली गई वहिनमयी दृष्टि को धारण कर रहा है ।[4] व्योम को पार कर जाने मे सर्वप्रथम अत्यधिक ऊँचा समस्तदिशाओं को बलात् आलिंगन करने वाले अति विस्तृत ब्रह्माण्ड को खप्पर बना देने वाले अत्यन्त चौड़े और पाताल में व्याप्त होने वाले मूल पर्वत की आधार शिलाएं प्रभाजाल वाले कैलास की तुलना में आने का दुःसाहस तो सुमरू पर्वत भी नहीं करता ।[5]

---

1. श्रीकण्ठ0 4/56
2. श्रीकण्ठ0 4/58
3. श्रीकण्ठ0 4/16
4. श्रीकण्ठ0 4/36
5. श्रीकण्ठ0 4/62

इस प्रकार महाकवि मंखक ने दिव्य नायक भगवान शड्.कर का निवास स्थान कैलाश पर्वत का हृदयग्राही एवं मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है ।

(ग) **वसन्त वर्णन :–**

भगवान् शड्.कर के कैलाश पर्वत पर निवास करने के बाद एक समय ऋतुराज वसन्त उल्लसित थी । शिशिर ऋतु में पुष्पों के अभाव से भ्रमरों का अनशन व्रत चलता था । वसन्त ऋतु के आगमन पर प्रचुर मात्रा मे पुष्पों के उद्गम से मधुप कुल द्वारा उन पुष्पों के मकरन्द का पान मानों पूर्व से चले आ रहे अपने अनशन व्रत का पारायण किया हो और आज तक जिन मानिनियों का मानापनोदन असम्भव था और नायकों से वारम्बार प्रार्थित जो मानिनियाँ अद्यावधि अपने मान को नही छोड़ी वे भी खिले हुए पुष्प राग कोकिलों की कूज, भ्रमरों की झंकार आदि के द्वारामदन बाण से अत्यधिक आविद्ध होकर दक्षिण पवन के संस्पर्श से कम्पित शरीर वाली अपने–अपने नायकों का गाढ़ालिंगन किया ।[1] वसन्त ऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुऐं कामतन्त्र की ग्रन्थिमात्र को ही खोलने में असमर्थ होती हैं अर्थात् वसन्त ऋतु को छोड़कर कामशास्त्र का अवबोध अन्यत्र असम्भव है क्योंकि रसराज वसन्त ही काम सम्बन्धी अखण्ड पाण्डित्य को धारण करता है । अत्यधिक सौन्दर्यशाली होने से वसन्त ऋतु जितनी कामकथाओं का अन्तरंग है उतनी अन्य कोई भी ऋतुऐं नहीं हैं । ऐसा कवि की प्रौढ़ोक्ति से सिद्ध होता है ।[2] यह वसन्त ऋतु श्रृंगार रस के काव्यों के प्रणयन में समस्त उपकरणों को प्राप्त कर लिया है । चंचल पलाश ओष्ठपुट के द्वारा भ्रमर कुल के भ्रू विच्छेप से खिले हुए कमल दल की तरह निष्यन्द वाली ऑखों से और सभी विचित्रताओं से युक्त यह वसन्त ऋतु काम को उत्पन्न करता ही है ।[3]

---

1. श्रीकण्ठ0 6/1
2. श्रीकण्ठ0 6/4
3. श्रीकण्ठ0 6/5

सूर्य के उत्तरायण हो जाने से वसन्त ऋतु में दक्षिण दिशाओं से मलयपवन चलता है। वह मलय पवन काम जनित संताप को शान्त करता है। दक्षिण दिशा में मलयगिरि एव चन्दन वन भी है, इसलिए चन्दन सौरभ से आर्द्र मलय पवन कामजनित सन्ताप को शिथिल बनाता है।[1] मानिनियों के किञ्चिद उष्ण सन्ताप से वसन्त ऋतु म दिन क्रमश· वृद्धि को प्राप्त करता है तात्पर्य यह है कि वसन्त ऋतु में दिन के बड़े हांने के कारण विरह से मानिनियाँ अत्यधिक निःश्वास छोड़ती हैं। जैसे–जैसे मधुमास में विरहिनियों के जीवन आशा क्षीण होती जाती है वैसे ही इस वसन्त ऋतु में रात्रियाँ भी क्षीणता को प्राप्त करती हैं।[2] वसन्त रूपी सिंह को देखकर स्त्रियों का मान लौहमयी श्रृंखला को भेदकर पलायित हो जाता है सिंह के भय से गजों का पलायन लोक प्रसिद्ध है।[3] उडते हुए मकरन्दों से गीले किसलयों से कोकिलों की कूजों से एवं आम्र मञ्जरियों से काम के कण्ठगत होने से वसन्त ऋतु से पथिक समूह भीति की तरह हो जाता है।[4] विरहिणियों के पीड़ा द्वारा, माधव्यों द्वारा, विजय वैजन्ती द्वारा एवं अट्टहासों द्वारा तथा रात्रि में कोकिलों के निरन्तर कूजन से वनों का दृश्य अत्यधिक कामोद्दीपक होता है जो विरहिणियों के लिए असह्य हो जाता है।[5]

कनेर के पुष्प के वर्ण सौभाग्य एवं सुगन्धि के हीन होने से दृष्टि एवं नासिका के विवाद से इस महाकवि ने लोकोत्तर विछित्ति का आश्रय करके वर्णन किया है। श्रीकण्ठचरितम् के टीका कार कश्मीरवासी विद्वान् राजानक जोनराज ने अपनी व्याख्या की पाद टिप्पणी मे इसको अधिक स्पष्टता प्रदान की है। महाकवि मंखक की काव्यार्जित उपाधि "कर्णिकार मंखक"[6] हे। इसी प्रकार अर्पनी मौलिक कल्पना से युक्त काव्य निर्माण से कालिदास

---

1. श्रीकण्ठ0 6/6
2. श्रीकण्ठ0 6/7
3. श्रीकण्ठ0 6/8
4. श्रीकण्ठ0 6/11
5. श्रीकण्ठ0 6/12
6. "विवृष्वता सौरभरोरदोषं वन्दिव्रतं वर्णगुणैः स्पृशन्त्याः।
   विकस्वरे कस्य न कर्णिकारे श्रावेण दृष्टेर्ववृधे विवादः।।" श्रीकण्ठ0 6/13

को "दीपशिखा कालिदास"[1], भारवि को "आतपत्र भारवि"[2], माघ को "घण्टा माघ"[3], रत्नाकर को "ताल रत्नाकर"[4] आदि विशिष्ट उपाधियों से विभूषित किया गया ।

अध्यापन कर्म में निपुण नायिकाओं के द्वारा पढ़ाये जाने से जो कोकिल अद्यावधि कुछ भी अध्यापन करने मे असमर्थ थी वह भी इस समय वसन्त ऋतु में बिना अध्यापन के वापी में कुशलता को प्राप्त किया [5] । यहाँ कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानव काम का प्रभाव तीनों लोकों में व्याप्त है । अशोक पुष्प की रज से काम रूपी गज का मुख सिन्दूरित हो गया । अशोक पुष्प के रज के उद्दीपन से माननीयों का मान भङ्ग हो गया इसी प्रतिवस्तु उपमा अलंकार के प्रदर्शन व्याज से अन्तिम चरण में कवि यह स्पष्ट करता है कि जैसे उदय कालिक सूर्य अन्धकार को दूर कर् देता है उसी तरह से यह अशोक पुष्प की रज बालातप को प्राप्त कर माननीयों का मान भङ्ग करता है । यहाँ अन्धकार के द्वारा माननीयों के मान का निरूपण किया गया है और दोनों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव का समन्वय है । इसी प्रकार महाकवि कालिदास ने भी अपने शब्दों में वसन्त ऋतु का सुन्दर चित्रण किया है –

"पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः ।
स्फुरत्प्रबालोष्ठमनोहराभ्यः ।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापु
र्विनम्रशाखा भुजबन्धनानि ।।"[6]

महाकवि मंखक की उत्प्रेक्षा है कि वसन्त ऋतुओं में मानों तापातिशय से गिरते हुए तुषार जल के रूप से गिरती हुई शीतलता से कोकिल के शब्दों को बढ़ाती हुई भूमि

1. रघु0 – म0 कालिदास 6/67
2. किरात0 – म0 भारवि 5/39
3. शिशु0 – म0 माघ 4/20
4. हरविजय – म0 रत्नाकर 19/5
5. श्रीकण्ठ0 6/14
6. कुमारसम्भव – कालिदास 3/39

विरह की चिन्ता से पृथ्वी पर लिखती हुई विरहिणियों के रूदन का स्थान है ।[1] अकारण आमवृक्ष के ऊपर सौरवन के लोभ से भ्रमण करती हुई भ्रमर की पंक्ति पूर्णपान क लिए अपनी देह की ही कल्पना कर ली । तात्पर्य यह है कि उपकार करने वाले व्यक्ति के प्रति उपकृत व्यक्ति समस्त रूप से अपने देह को समर्पित कर देता है ।[2] ऋतुराज वसन्त कामदेव का नवीन अमात्य है । चंचल भ्रमर समूहों के भ्रकुटि की छटा से यह ऋतु चक्रवर्ती समस्त युवतियों का मान का खण्डन कर देता है जैसे कि नवीन सचिव अपने भ्रकुटि विक्षेप से समस्त लोको का मान खण्डन कर देता है, उसी प्रकार से यह वसन्त भी लागा के मान विनष्ट कर देता है ।[3] इसी प्रकार महाकवि भारवि ने स्वग्रन्थ में वसन्त ऋतु का सुन्दर चित्रण किया है । जो उत्प्रेक्षा , रूपक अलंकारों से परिपूर्ण है जैसे --

विकसितकुसुमाधरं हसन्तीं
कुरबकराजिवधूंविलोकयन्तम् ।
ददृशुरिव सुराड्.गना निषण्णं
सशरमनड्.गमशोकपल्ल्वेषु ।।[4]

अप्सरायें मानो यह दृश्य देख रही है कि अशोक के पत्तों पर कामदेव अपना बाण लिए बैठा है और वह विकसित पुष्परूपी अधरों से हॅसती हुई कुरबक पुष्प रूपी वधू को देख रहा है । एक ओर काम की कामुकता है तो दूसरी ओर वधुओं पर काम बाण निक्षेप है, इससे स्पष्ट होता है कि महाकवि मंखक के श्रीकण्ठचरितम् और महाकवि भारवि के किरातार्जुनीयम् की साम्यता है, दोनों महाकवियों ने वसन्त ऋतु का सुन्दर चित्रण किया है । वसन्त ऋतु में अड्.गनाऐं क्रीडा करती हैं इसीलिए झूला झूलने से ऊपर की

---

1. श्रीकण्ठ0 6/24
2. श्रीकण्ठ0 6/25
3. श्रीकण्ठ0 6/26
4. किरात0 भारवि 10/32

ओर जाती हुई स्त्रियाँ अप्सरा की तरह परिलक्षित होती है । अप्सरायें स्वर्ग में होती है स्त्रियों के क्रीड़ा से यह प्रतीत होता है कि कामदेव ने विश्वामित्र की तरह आकाश में दूसरी सृष्टि कर दी है । महर्षि विश्वामित्र ने त्रिशंकु के स्नेह से निश्चित रूप से आकाश में दूसरे स्वर्ग की रचना की । प्राचीन काल में स्त्रियों एवं अप्सराओं का भेद आकाश में संचरण मात्र से था । इस समय अप्सरायें क्रीड़ा करती हुई स्वर्ग को स्पर्श करती हुई प्रतीत हो रही हैं ।[1]

ऋतुराज वसन्त स्वाभाविक ही मादक होता है । रति सर्वस्व राजा काम के सेनापति तथा सान्धिविग्रहिक विदेशमन्त्री मलयपवन एवं भ्रमरादि वर्ण्यकेन्द्र होते हैं । महाकवि मंखक ने प्रसादगुण पूर्ण शैली में वसन्त ऋतु का क्या मनोहारी चित्रण किया है –

"वसन्त के मधुर शौर्य सम्भार का क्या कहना, उसने जड़ प्रकृति के पंचभूतों में भी चित्तविकार उत्पन्न कर दिये हैं । वायु स्वयं सुखमय हो रहा है, आकाश विमल है, जल सुरम्य हो रहे हैं, तेज तरूण हो रहा है और पृथ्वी नवशस्यश्यामलपरिधाना हो रही है । मदमस्त वसन्त राज ने राज्यपुरोहित उस द्विरेफ को बना रखा है जो धूसरलक्ष्मीक है, सदा मधु मद्य पराग में ही लीन रहता है । और प्रत्यक्ष ही पुष्पवती लताओं का सेवन किया करता है ।[2] इस प्रकार वसन्त ऋतु का आलम्बनात्मक वर्णन किया है ।

सम्राट रतिनाथ के द्वारा सूझ बूझ के साथ नियुक्त सुबुद्ध सेनापति ऋतुराज ने काम सचिवालय के विभिन्न विभागों को उन उन विभागों के उपयुक्ततम अधिकारी चन्दन,

---

1. श्रीकण्ठ0 6/56
2. श्रीकण्ठ0 6/37,38

मलयपवन, नक्षत्रराज, तरूण कोकिल, भ्रमर और अशोक चम्पकादि में बॉटकर समग्र जगत ही स्मरयोग्य बना दिया ।[1] यहाँ पर वसन्त का उद्दीपक भावापन्न वर्णन प्रस्तुत किया है ।

भनभनाते हुए कृष्णकलेवरभ्रमण से युक्त पीताभचम्पक गुच्छ कामदेव का कामानुशासन लिखने को उद्यत हैम मसीपात्र सा लगता था – सभ्रमरचम्पक सभी को सकाम बनाता था ।[2] अनूठी उत्प्रेक्षा और उद्दीपकभाव से युक्त वर्णन है । जिनके नवकिंशु करदपुट ईषत्स्फुरित हो रहे हैं, चंचलालिभावा जिनकी चपल भ्रूलताएं हैं, परन्तु विकसित अरविन्द जिनके निष्पन्ददृग् हैं वे ऐसे गम्भीर मुद्रावाले कवि श्री वसन्त निश्चय ही कोई श्रृंगार काव्य प्रणयनोद्यत से लग रहे हैं ।[3] वसन्त ऋतु का क्या श्रृंगार रस पूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया । आता हुआ मलयपवन, स्वचापग्रहणार्थ व्यग्रता से फैलाई गई दीर्घकाम भुजा सा शोभित हो रहा था । जिस प्रसरित पवनभुजा में सौगन्ध्य लोलुपसंकुलालिसमूह निविडमौर्वीचिह्न से लग रहे थे ।[4] अर्थात् कितनी निरपराधविरहिणिनियों का प्रतिघात इस भुजा के द्वारा हो चुका है ।

महाकवि मंखक ने वसन्तराज का उद्दीपकात्मक संश्लिष्ट चित्रण इस प्रकार प्रस्तुत किया है । कुरवक वृक्ष नवविकसित कलिकाओं के द्वारा आमन्त्रित भ्रमरों के द्वारा समाच्छन्न होकर मूर्ति रूप में शोभित हो रहा था । लगता था कि वे भ्रमर, भ्रमर न होकर आलिंगन करने वाली नायिका के स्तनाग्र का सन्क्रान्त कस्तूरिका लेप ही है । अतः कुरवक के सभ्रमर पुष्पगुच्छों ने भ्रमररूप में विद्यमान कुच कस्तूरिका के द्वारा स्पष्ट ही सिद्ध कर

---

1. श्रीकण्ठ0 6/50
2. श्रीकण्ठ0 6/51
3. श्रीकण्ठ0 6/4
4. श्रीकण्ठ0 6/66

दिया कि उसे किसी नवयौवना ने अवश्य आलिंगन किया है ।[1] महाकवि मंखक द्वारा छठवें सर्ग में प्रस्तुत वसन्त वर्णन सर्वथा पारम्परिक है ।

(घ) चन्द्र वर्णन :-

निश्चय ही तब रात्रि के द्वारा चन्द्रमा के रूप में कामदेव का कोषघट ही ऊपर स्थापित किया गया । क्योंकि उस घट के रक्षक कलंकसर्प ने तत्काल ही विरहिणियों को डस जो लिया ।[2] निखातधनकोषों पर सर्प बैठे रहते हैं । वे उस धन के ग्रहणकर्त्ता को काट खाते हैं । चन्द्रोद्दीपिता विरहिणियों की मूर्च्छा तथा मृति प्रभृति चन्द्रकलंक के सर्पत्व के साधक तथा सर्प चन्द्र के कामनिधानघटत्व के साधक हैं । उद्दीपनरूप में चन्द्र का सम्बन्धातिशयोक्ति प्रधान वर्णन है ।

हे चन्द्र ! निश्चय ही तुम्हारी किरणें नवकेतकखण्डों से बनाई गई हैं , क्योंकि शुभ्रज्योत्स्ना हमारे शरीरों को काटों के समान दुःख दे रही हैं ।[3] केतक में काँटे होते हैं और केतक रज शुभ्र होती है । समुद्रमन्थन के पश्चात् निश्चय ही यह चन्द्र के रूप में बडवाग्निभस्मपिण्ड ही निकला था । क्योंकि विरहिणी अश्रुओं से इसकी भी तृप्ति नहीं होती है ।[4] एकान्त में मुझे रिझाने के विचार से प्रियतम ने ठीक ही मेरे मुख को कमल कहा था । क्योंकि यह नायिका का मुख चन्द्रमा का सम्पर्क पाकर मलिन जो हो जाता है ।[5] भगवान् त्रिनेत्र ने व्यर्थ ही क्रुद्ध होकर कामदेव का निग्रह किया था । वह काम तो तुम चन्द्र के द्वारा पुनरपि अजरामर बना दिया गया है ।[6] दीन वह विरहिणी प्रतिरात्रि

---

1. श्रीकण्ठ0 6/53
2. श्रीकण्ठ0 10/45
3. श्रीकण्ठ0 11/57
4. श्रीकण्ठ0 11/58
5. श्रीकण्ठ0 11/60
6. श्रीकण्ठ0 11/63

चन्द्रकान्त मणिकुट्टिम में प्रतिबिम्बित हो, ज्योत्स्ना सम्पर्क से भयभीत होकर, पाताल में प्रवेश की इच्छा वाली सी प्रतीत होती है ।[1] पाताल में चन्द्रमा के अभाव से ज्योत्स्ना सम्पर्क न होगा । तब उसे दाह भी न होगी । महाकवि मंखक ने चन्द्र का उद्दीपक प्रधान वर्णन किया है ।

चन्द्राशीर्वादकुलक[2] में कवि ने 18 पद्यों में चन्द्र का आलम्बनात्मक भव्य एवं हृदयग्राही चित्रण किया है । संस्कृत साहित्य में यह वर्णन अनुपम एवं अतुलनीय है । जैसे – "जो नक्षत्रों का राजा है और प्रतिदिन पश्चिमदिशा का आश्रयण करता है । जो अत्यन्त विस्तृत मण्डल वाला है और सदा तमोनाश में ही प्रयत्नशील रहता है, जो कमलों का आयासकर्त्ता है और जो शश के द्वारा आवासित है, ऐसा वह विचित्र चरित्र शीतल रश्मि चन्द्र आपके ताप को दूर करे । श्लेषार्थ – जो ब्राह्मणों का राजा होकर भी नित्य मदिरासक्त रहता है, जो पद्मा को सदा ही दुःख देता है यद्यपि वह विष्णु के द्वारा अध्यासित है, ऐसा वह शिशिरकिरण विरोधाभासी है ।" [3]

कवि निबद्ध प्रौढ़ोक्तिसिद्ध चन्द्र का आलम्बन प्रधान वर्णन – गगन भूरूह का यह श्वेतपुष्प चन्द्र विजयी हो, मध्यकलंक तो मानो साक्षात भ्रमरपुंज ही है ।[4] कौन भगवान् शिव के शेखर चन्द्र की स्तुति नहीं करता, कि जिसकी सुधा के प्रभाव से मृतमुण्ड भी सप्रमाण हो उठता है ।[5] हे शिशिररूचि । आप जैसा अन्य कौन क्रीडा सागर है कि जिसके लिए उजालीरात्रियों में स्वयं सागर भी क्रीडा कन्दुक बन जाता है ।[6]

---

1. श्रीकण्ठ0 12/30
2. श्रीकण्ठ0 12/56–73
3. श्रीकण्ठ0 12/71
4. श्रीकण्ठ0 12/74
5. श्रीकण्ठ0 12/80
6. श्रीकण्ठ0 12/76

(ङ.) **सूर्यास्त वर्णन :-**

दिन भर विस्तृत नभ का अतिक्रमण करते-करते अत्यन्त शिथिल पादपल्लव होकर सूर्य सांयकाल, मधुर निर्झर नाद स्वागत से प्रह्वहित हो, विश्रामार्थ अस्ताचल को प्राप्त हुआ । उदीयमान चन्द्र के प्रभाव से द्रवित चन्द्रकान्त मणियों के जल के छिड़काव के कारण, अस्ताचल पर्वत पर सूर्य की रश्मियों की ऊष्मा शान्त हो गई ।[1]

पश्चिम सागर के लिए प्रस्थित सूर्य के साथ--साथ अपने पिता सागर से भेटने की अभिलाषुका लक्ष्मी ने स्वनिवास्-पद्म के पटलपट बन्द करके उसे छोड़ दिया ।[2] सूर्यास्त होने पर कमल स्वाभाविक ही संकुचित हो जाते हैं । जाने के लिए उद्यत प्रियपति को द्युतिपटांचल पकड़कर रोकने की इच्छावाली कमिलिनियाँ अन्त में संकुचित कर पटला-विकल हो गई ।[3] रविकर के सम्मुख अरविन्दनी ने अपना पद्‌मपाणि जो धारण किया सो मानो उसने स्ववल्लभ सूर्य से पुनः प्रत्यावर्तन का सूचक धर्म हस्त संकेत ही ग्रहण किया था । मानो यात्री हाथ उठाकर स्वप्रिय को धैर्य देता और पुनः लौटने की प्रतिज्ञा करता है । नेत्रकमलनिमीलन से विक्षुब्ध महाराज दिवस अपनी सूर्य पद्‌मरागमणि पीठिका के पादकिरण भग्न हो जाने के कारण निराश्रय हो गये ।[4]

आदिवसान्त स्वप्रियतमा सकण्टका पद्‌मिनी के साथ राग-विराग में विक्षतकर सूर्य दैवगतिवश आकाश से पश्चिम सागर में गिरते समय कुछ भी पकड़ कर स्वरक्षा में सर्वथा असमर्थ रहा क्योंकि उसके कर विक्षत जो थे ।[5]

महाकवि मंखक ने सूर्यास्त का आलम्बनात्मक वर्णन किया है । संस्कृत कवि परम्परा के अनुकूल कितनी भव्य समासोक्तियाँ हैं ।

---

1. श्रीकण्ठ0 10/1,2
2. श्रीकण्ठ0 10/3
3. श्रीकण्ठ0 10/5
4. श्रीकण्ठ0 10/7,8
5. श्रीकण्ठ0 10/15

(च) **सागर वर्णन :-**

विमान से यात्रा करने वाले व्यक्तियों की स्त्रियो के कुचों पर, ज्वार से उठी लहरों के द्वारा समुद्र शतशः मणि - मुक्ताएं उछाल देता है । वे मणि मुक्ताएं उन कामिनियों के गले में बिना प्रयत्न ही हारलता की शोभा धारण करती हैं ।[1]

सप्तर्षिमण्डल तक उठी हुई समुद्र की लहरों के पद्मरागानुरंजित जल को सप्तर्षियो ने, मदिरावशिष्ट समझकर , सन्ध्या के समय के आचमन के लिए अत्यन्त आवश्यक होते हुए भी स्पर्श तक नहीं किया ।[2] समुद्र-मन्थन से मदिरा निकली थी । इसी मदिरा का अवशिष्ट ही समुद्रजल को ऋषियों ने समझा इसीलिए अधर्म मान कर स्पर्श तक नहीं किया ।

उत्तुंग लहरों के द्वारा लाए गये पद्मराग मणियों के अरूणवर्ण से अनुरंजित हो शुक्रबुधादि नक्षत्र भी मंगल का ही भ्रम पुष्ट करते थे । यद्यपि वे स्वभावतः श्वेत ज्योति हैं । मंगलनक्षत्र रक्तवर्ण होता है । अन्तःसुप्त भगवान् विष्णु के नाभिकमल की गन्ध वाली लहरों के आकाश में छा जाने पर, सन्तानकबल्लिपुष्पों को भी छोड़कर भँवरे उन लहरों पर झपट पड़े ।[3]

बडवाग्निज्वालाओं से युक्ताग्रभागवाली लहरें, सोते हुए हरि के पलंग के निकट रखे हुए दीपकों के दीपक-दण्ड सी लगती थी ।[4] उत्तुंगचंचल लहरों पर स्थित जलपरियाँ अपने पतियों के साथ-साथ ही अयत्नपूर्वक दोला क्रीडा सुख को प्राप्त हुई ।[5] विमानों

---

1. श्रीकण्ठ0 12/36
2. श्रीकण्ठ0 12/38
3. श्रीकण्ठ० 12/40,41
4. श्रीकण्ठ0 12/43
5. श्रीकण्ठ0 12/49

के द्वारा व्यापार करने वाले व्यापारियों की स्त्रियों के मुखों में अनेकों चन्द्रमण्डलों का भ्रम करके समुद्र ने किन विमानो के अन्दर स्वतरंगों को नहीं फेका ।[1] सर्वत्र ही उड़ते हुए विमानों के अन्दर तरंग जल भर गया ।

महाकवि मंखक ने उपर्युक्त समुद्र का आलम्बनात्मक वर्णन किया है ।

(छ) **तम वर्णन :–**

क्या यह काल गणनापति का हैमसूर्यमषीपात्र उलट गया है कि जिसमें से निकलकर यह तममषी विश्व को सर्वथा श्याम बना रही है ।[2] बुझती हुई अर्थात् सूर्यास्त के कारण सूर्यकान्ताग्नि का धूमपुंज सा यह अन्धकार समूह चक्रवाकों की आँखों मे अश्रुओं का सृजन कर रहा है ।[3] वास्तव में रात्रि के आगमन के कारण चक्रवाक दुःखित हो अश्रुपात करते हैं ।

उष्णकर की रश्मियों के पी जाने अर्थात् अन्धकार के द्वारा निगल लिए जाने के कारण उष्ण सा होकर अन्धकार ने, भ्रमरों के रूप में, खिले हुए कुमुदों के उदरों मे ताप शान्ति के निमित्त करवटे अदली–बदली ।[4]

महाकवि मंखक ने उपर्युक्त आलम्बन प्रधान तम का वर्णन किया है ।

द्यावापृथिवी को जीतने की इच्छा वाले रतिपति की सेना की धूलि के रूप में यह अन्धकार सर्वत्र छा गया । क्योकि सभी प्राणियों के द्वारा उसी के भय से ही

---

1. श्रीकण्ठ0 12/51
2. श्रीकण्ठ0 10/19
3. श्रीकण्ठ0 10/21
4. श्रीकण्ठ0 10/31

निद्रा के ब्याज से आँखे बन्द कर ली गई ।[1] यह अन्धकार का उद्दीपक वर्णन है

(ज) **प्रभात वर्णन :–**

महाकवि मंखक ने प्रस्तुत महाकाव्य में सोलहवें सर्ग के अन्तर्गत प्रभात वर्णन किया है – निशा नायक चन्द्र के अस्त हो जाने के बाद जगत जननी माता पार्वती वन्दिनियों के साथ भगवान शिव को प्रसन्न करने के लिए प्रभात कालोचित राग से प्रभात गान किया है । हे रूद्र ! तुम निद्रा को छोड़ो, अन्धकार के दूर हो जाने पर आपके कण्ठ की कान्ति चारों दिशाओं में स्फुरित होती है अर्थात् चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर तुम्हारा चूड़ा चन्द्र ही इस समय शोभित होता है ।[2] यह चन्द्रमा जल के फेन की तरह समुद्र में निमग्न हो जाता है । सूर्य की प्रभा भी अभी नही उदित होती इसीलिए संकेत स्थल से अभिसारिकाओं का वापस आने का यह समय है । वे उत्कण्ठा वाली अभिसारिकायें वापस आने के समय में एक भी पद रखने में असमर्थ थी ।[3] हे नाथ ! चन्द्रमा कान्तिहीन हो गया है, इसलिए समुद्र भी तरंग हीन हो गया है, विरह के वशीभूत चक्रवाक गर्म साँस को छोड़ रहा है, सूर्य कान्त की मणियाँ कान्ति को विस्तारित कर रही हैं । उदयाचल से गर्म किरणें निकल रही हैं प्रभात हो गया है इसलिए आप भी दृष्टि विक्षेप कीजिये । कमल युक्त सरोवर में रागयुक्त पुष्प संकुचित हो गये हैं उनके उदर में भ्रमर समूह गुञ्जार कर रहे हैं । अतएव निद्रा का समय नहीं है ।[4]

सूर्य की ज्वाला समूहों से नीराजित ग्रहों का चक्रवर्ती सम्राट यह दिनकर उदित हो गया है, चन्द्र अस्ताचल पर्वत में डूब चुका है ।[5] महाकवि मंखक के समान माघ ने भी प्रभातवर्णन का सुन्दर चित्रण किया है –

---

1. श्रीकण्ठ0 10/30
2. श्रीकण्ठ0 16/1
3. श्रीकण्ठ0 16/3
4. श्रीकण्ठ0 16/7
5. श्रीकण्ठ0 16/9,10

"उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जा

वहिमरूचौ हिमधाम्नियातिचास्तम् ।

वहति गिरिरय विलम्बिघण्टा

द्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ।।"[1]

महाकवि माघ ने रैवतक पर्वत के एक ओर सूर्योदय और दूसरी ओर चन्द्रास्त को देखकर महाकाय हाथी के दोनों ओर लटकते हुए दो विशाल घण्टों की कल्पना की है । महाकवि मंखक ने प्रभात वर्णन में कल्पना की ऊँची उड़ान भरी है । भगवान् सूर्य के उदित हो जाने पर उनके सातों अश्वों के उच्छ्वास से आकाश में स्थित वे तारे तिरोहित हो गये जो स्त्रियों के द्वारा परित्यक्त कुसुम ही आकाश में तारों की तरह शोभित थे । इस समय भगवान् के उदित हो जाने पर उनके सातों अश्वों के उच्छ्वास से आकाश मे स्थित वे तारे तिरोहित हो गये हैं । उषा काल में पूर्व दिशा में जो रक्त वर्ण दिखाई पड़ता है उसके प्रति कवि की यह उत्प्रेक्षा है कि रात्रि कामिनियाँ निश्चित रूप से आकाश में मदिरापान की थी क्योंकि मदिरासेवन के लिए जिन उपकरणो की आवश्यकता होती है वे सभी आकाश में विद्यमान थी । चन्द्रमा पान पात्र का स्थान था, तारा पंक्तियाँ पुष्प शैय्या थी, रात्रि भामिनी थी, इसलिए प्रभात है । यह अरूणिमा मदराग ही थी ऐसा समझना चाहिए ।[2] यह सिद्धान्त है कि सूर्य के उदय होने पर कुमुदिनी संकुचित हो जाती है । इसकी उत्प्रेक्षा करते हुए कवि कहता है कि गौरी नाथ ! सामने दिखलाई पड़ने वाली कुमुदिनी सूर्य की नववधू है, ऐसा माना जाता है जैसे सखियों से घिरी हुई कोई नवोढ़ा पति के द्वारा आलिंगन पर लज्जित होती है वैसे सूर्य रूपी पति के किरण रूपी दीर्घ हस्त से आलिंगित यह कुमुदिनी भ्रमर के योग होने पर ही संकुचित होती है ।[3] खिले हुए कमल पुष्प के पराग को इधर उधर बिखेरते हुए पवन मन्दगति से

---

1. श्रीकण्ठ0 4/20
2. श्रीकण्ठ0 16/14
3. श्रीकण्ठ0 16/2

बह रहा है । उत्प्रेक्षा के द्वारा वहाँ हेतु का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि कमल पुष्प के मध्य मे स्थित भ्रमरों के मधुर झंकार को सुनने के लिए गीतात्म मुग्धक मृग मन्द गति वाले हो गये ।[1] हे नाथ ! इस समय निद्रा का परित्याग करें । आपके नेत्रों में सूर्य, सोम, अग्नि रूप तीन धाम निवास करते हैं अतः अपने तीनों नेत्रों के विकास से इन्द्र प्रमुख देवों पर अनुग्रह करें क्योंकि वे देवता आपके नेत्रोन्मीलन के लिए अञ्जलिबद्ध आपकी स्तुति कर रहे हैं । इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु , कार्तिकेय, वरूण , कुबेर, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि सभी देवता भगवान् शङ्कर की निद्रा परित्याग की कामना कर रहे हैं । महाकवि मंखक ने इसी आधार पर विविध उपमानों एवं उत्प्रेक्षाओं द्वारा प्रभात काल का सुन्दर वर्णन किया है ।

शुभ्र फेनपिण्ड के समान चन्द्रमा धीरे–धीरे समुद्र में डूँब गया । अभी उष्णरश्मि के आलोक से प्राची दिशा अनुरंजित नहीं हो पायी है । अब केवल क्षण मात्र के लिए ही अन्धकार शेष है । यही चंचल नेत्र अभिसारिकाओं के लिए स्वप्रियों के गृहों से प्रतिनिवर्तन का उचित काल है ।[2] उन्हें तत्काल स्वगृहों को वापस आ जाना चाहिए ।

समुद्र में जल निस्तरंग हो रहा है क्योंकि चन्द्र प्रभाव घट गया है और चन्द्रमा आकाश में डूब रहा है । चक्रवाक के आनन में, वियोग रात्रि के समाप्त हो जाने के कारण, उष्णनिःश्वास पवन भी समाप्त हो रहा है । परन्तु सूर्यकान्तमणियों में वहिन तथा उदयाचल पर सूर्य तथा दृष्टिपथ में द्यावापृथिवी प्रकाशित हो रहे हैं । हे त्रिनयन ! आपकी यह आठों मूर्तियाँ निश्चय ही भिन्न भिन्न हैं – क्योंकि जल, चन्द्र औरपवन तो निमीलित तथा अग्नि, सूर्य एवं द्यावापृथिवी उन्मीलित हो रही हैं ।[3] सूर्यकान्तज्वाला

---

1. श्रीकण्ठ0 16/24
2. श्रीकण्ठ0 16/3
3. श्रीकण्ठ0 16/5

मालाओं के द्वारा नीराजना किया जाता हुआ यह ग्रहराजसूर्य उदय को प्राप्त हो रहा है और रात्रि में जो चन्द्र सुन्दरियों की मुखद्युति का चोर बना था, वह चन्द्र इस समय अन्धेरी कन्दराओं में छिप रहा है ।[1] यह शिक्षाप्रद है कि सज्जन सदैव सम्मान पाता है और चोर स्वयं ही लज्जा के वशीभूत होकर डूब मरता है ।

यह प्रभापति सूर्य उदयगिरि की चोटी पर पहुँचने के लिए अपने रथ को अनन्य सदृशवेग से चला रहा है । उसके रथचक्रो के वेग से गिरने वाले पत्थरों की घड़घड़ाहट को ही तो सुनकर कमलकुल उद्बुद्ध हो उठता है ।[2] अपने प्रियतम सूर्य की सहायता करने के लिए निश्चय ही कमलिनी वर्ग, अपने मुखों को उद्घाटित कर तम को पी जाने का प्रक्रम कर रहा है । यह निःशंकभाव से उनमें प्रवेश करते हुए, भ्रमर शतशः पीत उस तम की ही तो राशियाँ दीख रही हैं ।[3]

उपर्युक्त प्रभात का शुद्धालम्बनात्मक वर्णन हुआ है । ब्रह्मा, विष्णु, गणेश आदि सभी देवता शङ्कर के भ्रूविक्षेप की कामना से उनके चरण चंचरीक हो गये । ऐसा विविध उपमानों एवं उत्प्रेक्षाओं से वर्णन किया गया है ।

(झ) **जलक्रीडा वर्णन :-**

अचलराजकन्या पार्वती के साथ-साथ स्वयं भगवान् ने जलकेलिकुतूहल से पूर्ण हो, आकर मानसरोवर के पुलिन को सुशोभित किया । नेत्राग्नि ज्वालाओं के प्रतिफलन से पीतजलवाले मानसर को, जो जलक्रीडा के लिए सजाये हुए सुमेरू पर्वत के सदृश शोभित था , चूड़ाचन्द्र को धारण करते हुए भगवान् ने पार्वती के साथ निमज्जन करके पवित्रता प्रदान की । उस सरोवर की प्रसन्नता का द्योतक विपुल शुभ्रफेन छा गया ।

---

1. श्रीकण्ठ0 16/9
2. श्रीकण्ठ0 16/13
3. श्रीकण्ठ0 16/20

उस शुभ्रफेन पुष्पोत्कर को तरंगबाहुओं से बिखेर कर उसने शिवजी की पूजा की तथा हरितवर्णा लहरियों के हरिन्मणिकंकणों को भेट के रूप में पार्वती को सादर अर्पित किया।[1] मंखक ने नवम् सर्ग के अन्तर्गत जलक्रीडा वर्णन प्रस्तुत किया।

(ज) **दोलाक्रीडा वर्णन :-**

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" के सप्तम् सर्ग में दोलाक्रीडा वर्णन आया है। उसमें भगवान् कैलाशाधिपति शिव माँ पार्वती के साथ कैलाश पर्वत की वसन्त ऋतु की शोभा को देखने के लिए गये। शङ्कर के मस्तक पर स्थित तीसरे नेत्र की कान्ति से यह चन्द्रचूड़ बगीचे की वृक्ष पंक्ति को पल्लवाङ्कुरण से युक्त कर दिया शिखरस्थ चन्द्रमा की दीप्ति से वे पुष्पों से भी संयुक्त हो गये। अग्नि की कान्ति रक्त होती है, चन्द्रमा की रश्मियाँ श्वेत होती हैं। इसलिए दो प्रकार की रश्मियों से दोनों प्रकार के कार्य की निष्पत्ति उत्प्रेक्षा मुख से कवि यहाँ वर्णन करता है। रक्त के संयोग से पल्लवत्व को प्राप्त हुई एवं श्वेत के संयोग से पुष्पत्व को प्राप्त किया।[2] भगवान् शिव के तीनों नेत्रों के एवं गौरी देवी के सौम्य दृष्टिपात से कामदेव के हृदय में भय एवं अभय की सन्धि उत्पन्न हुई अर्थात् अशोक पर वास करने वाला कामदेव भगवान् शङ्कर के दृष्टिपात से डरा हुआ एवं माँ गौरी के दृष्टिपात से निड़र सा हो गया।[3]

भगवान् चन्द्रचूड़ के वसन्तवर्णन से प्रसन्न भगवती पार्वती अपने मनोविनोद के लिए दोलाक्रीडा की अभिलाषा नन्दी के माध्यम से भगवान शिव से निवेदित करती हैं।[4] भगवान् शंकर माता पार्वती के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार करके कहते हैं कि

---

1. श्रीकण्ठ0 9/45, 50, 51
2. श्रीकण्ठ0 7/2
3. श्रीकण्ठ0 7/3
4. श्रीकण्ठ0 7/5

हे चन्द्रमुखी पार्वती ! नन्दी जो कहता है वह तो सर्वथा प्रसङ्ग के अनुकूल है । इस समय आप अपने दोलाक्रीडा से मेरे नेत्रों को अमृत पान कराइये जब तक मै आप की दालाक्रीडा का अवलोकन नहीं कर लेता हूँ । तब तक अपने नेत्रों के उपवास की ही कल्पना करता हूँ ।[1] इसके बाद भगवान् शंकर के इस प्रकार के अनुकूल प्रस्ताव को स्वीकार कर रोमांच शरीर वाली भगवती पार्वती आनन्दपूर्वक दोला पर आरूढ़ हो गई ।[2] जैसे बादल रहित आकाश विद्युत कान्तियों से अत्यधिक शोभा को धारण करता है उसी प्रकार स्वर्ण वर्ण वाली भगवती पार्वती दोलारोहण से आकाश अत्यधिक उद्दीपित हो रहा है ।[3] भगवती पार्वती शरीर सौन्दर्य लोकोत्तर है इसलिए दोलाधिरूढ़ पार्वती के ऊपर नीचे जाने से ऐसा परिलक्षित होता है कि समस्त दिशाओं को व्याप्त करती हुई कोई लोकोत्तर लावण्य सागर आकाश में व्याप्त हो गया ।[4] दोला के ऊपर जाने के समय भगवती पार्वती के मुख चन्द्र से पराजित होकर यह रजनीकर चन्द्र पर्वत पुत्री के नूपुर ध्वनि के द्वारा श्वेत हंस की तरह हो गया ।[5] दोला पर चढ़ने के समय आनन्द से उड़ते हुए उत्तरीय से झंकार करते हुए रसनाओं से मञ्जीर की ध्वनियों से यह पार्वती कामदेव के तीनों लोकों के विजय वैजयन्ती की तरह अत्यधिक शोभित हुई ।[6]

---

1. श्रीकण्ठ0 7/53--55
2. श्रीकण्ठ0 7/61
3. श्रीकण्ठ0 7/62
4. श्रीकण्ठ0 7/63
5. श्रीकण्ठ0 7/64
6. श्रीकण्ठ0 7/66

षष्ठ अध्याय

अलङ्.कार निरूपण

अलड़्.कार निरूपण

(क) संस्कृत काव्यशास्त्र में अलड़्.कार :–

संस्कृत काव्यशास्त्र में अलड़्.कारों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । काव्य--शास्त्र के लिए प्रचलित अपर नाम "अलड़्.कारशास्त्र" भी अलड़्.कारों के महत्त्व को सिद्ध करता है । आचार्य राजशेखर ने इसे वेद का सातवाँ अड़्.ग मानते हुए कहा है कि अलड़्.कार वेद के अर्थ का उपकारक होता है तथा अलड़्.कारों के अभाव में वेदार्थ का बोध नहीं हो सकता है ।[1] "अलड़्.कार" शब्द "अलम्" अव्यय "कृ" धातु और घञ् प्रत्यय के योग से बना है । "अलड़्.क्रियतेऽनेनेत्यलड़्.कार" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा शब्दार्थ का अलड़्.करण हो, वह अलड़्.कार है । आचार्य रूद्रट ने कवि प्रतिभा से उदभूत कथनविशेष को ही अलड़्.कार माना है ।[2] कथन के विविध ढंग हैं, अतः अलड़्.कार भी अनेक हो सकते हैं । आचार्य आनन्दवर्द्धन वाणी की अनन्त शैलियों को अलड़्.कार मानते हुए उसकी सड़्.ख्या भी अनन्त मानते हैं [3]

सर्वप्रथम अलड़्.कारों का विवरण "अग्निपुराण" एवं "नाट्यशास्त्र" में मिलता है परन्तु इन ग्रन्थों में रस की अपेक्षा अलड़्.कारों को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है । अग्निपुराण तथा नाट्यशास्त्र के पश्चात् सर्वप्रथम अलड़्.कारों का व्यवस्थित विवेचन भामह के काव्यालड़्.कार में प्राप्त होता है । आचार्य भामह को अलड़्.कार सम्प्रदाय का प्रधान प्रतिनिधि माना जाता है । अलड़्.कार सम्प्रदाय से तात्पर्य उस सिद्धान्त से है जिसमें रस एवं ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना के पूर्व अलड़्.कारों को ही काव्य का जीवन अथवा प्राण माना जाता था । इस सम्प्रदाय के अनुसार अलड़्.कार ही काव्य में सर्वाधिक

---

1. उपकारत्वात् अलड़्.कारः सप्तममड़्.गमिति यायावरीयः । ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानात् वेदार्थानवगतिः । – का० मी० – राजशेखर
2. अभिधान–प्रकार–विशेषा एवं चालड़्.काराः । -- काव्यालड़्.कार – रूद्रट
3. अनन्ता हि वाग्विकल्पाः । तत्प्रकारा एवं चालड़्.काराः । – ध्वन्यालोक

सौन्दर्य की वस्तु है और रस आदि सब अलड्.कारों में ही अन्तर्भूत हैं । इस सम्प्रदाय के अन्य आचार्य हैं – दण्डी, रूद्रट , उद्भट, जयदेव एवं अप्पयदीक्षित आदि । रूद्रट ने अलड्.कारो के साथ ही रस का भी समान रूप से विवेचन किया है । पूर्वोक्त अन्य आचार्यों ने रस, भाव, गुण, आदि का न्यूनाधिक रूप से निरूपण अवश्य किया है किन्तु प्रधानता अलड्.कारों को ही दी है । आचार्य जयदेव के मतानुसार अलड्.कार रहित काव्य की कल्पना उष्णत्वविहीन अग्नि के समान है ।[1]

अलड्.कार सम्प्रदाय से भिन्न अन्य सम्प्रदायों में अलड्.कारों की स्थिति इससे भिन्न है । रीति सम्प्रदाय की स्थापना करने वाले आचार्य वामन ने गुणों को काव्यशोभा का उत्पादक बताकर अलड्.कारों को केवल उन शोभा का अभिवर्द्धक माना है ।[2] वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक कुन्तक समस्त अलड्.कारों को केवल वक्रोक्ति का ही विविध रूप मानते है ।[3] आचार्य विश्वनाथ ने अलड्.कारों को शब्दार्थ का अस्थिर कर्म माना है ।[4] ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्द्धन की दृष्टि में काव्य में अलड्.कारों का स्थान अत्यन्त गौण है । उनके मतानुसार अलड्.कारों की विवक्षा रसपरत्वेन ही होनी चाहिए ।[5] ध्वनिकार के अनुयायी आचार्य मम्मट ने अलड्.कारों को काव्य का केवल उत्कर्षाधायक तत्त्व माना है और उन्हें अपरिहार्य धर्म मानने का निषेध किया है ।[6]

(ख) विभिन्न काव्य–सम्प्रदायों में अलड्.कारों की स्थिति :–

अलड्.कारों का स्परूप एवं काव्य में उनके महत्त्व को जानने के लिए काव्यशास्त्र

---

1. अड्.गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलड्.कृती ।
   असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ।। – चन्द्रालोक 1/8
2. अ. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः । काव्यालड्.कारसूत्र 3/1/1
   ब. तदतिशयहेतवस्त्वलड्.काराः । वहीं – 3/1/2
3. वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा ।
   यत्रालड्.कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ।। वक्रोक्तिजीवित 1/20
4. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
   रसादीनुपकुर्वन्तोऽलड्.कारास्तेऽड्.गदादिवत् ।। सा0द0 10/1
5. विवक्षा तत्परत्वेन नाड्.गित्वेन कदाचन । ध्वन्यालोक पृ0280
6. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽड्.गद्वारेण जातुचित् ।
   हारादिवद् लड्.कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।। का0प्र08/67

के विभिन्न सम्प्रदायों मे अलङ्.कारों की स्थिति पर विचार करना अपेक्षित है । अग्निपुराण में वाग्वैदग्ध्यप्रधान होने पर भी काव्य का प्राण रस को ही स्वीकार किया गया ।[1] परन्तु एक अन्य स्थान पर अलङ्.कार रहित सरस्वती को विधवा कहा गया है ।[2] अन्यत्र प्रकारान्तर से काव्य में गुण की स्थिति भी अनिवार्य बताई गई है ।[3] निष्कर्षतः अग्नि पुराण के अनुसार रस, अलङ्.कार एवं गुण तीनों ही काव्य के लिए आवश्यक है ।

रस सूत्र के प्रणेता आचार्य भरतमुनि ने रस के साथ ही गुण और अलङ्.कार का भी विवेचन किया है । इन्होंने रस को ही प्रधानता दी है । भरतमुनि के मतानुसार रस के अभाव में कोई भी अर्थ प्रवृत्त नहीं होता ।[4] उनकी दृष्टि में काव्य में अलङ्.कारों का स्थान अन्यन्त गौण है, यह इस बात से सिद्ध होता है कि उन्होंने मात्र चार अलङ्.कारों को ही मान्यता दी है – 1– उपमा, 2– रूपक, 3– दीपक एवं 4– यमक । अतएव आचार्य भरतमुनि रस को ही काव्य का अपरिहार्य तत्त्व मानते हैं, अलङ्.कार को नहीं । आचार्य विश्वनाथ भी रस को ही काव्य की आत्मा मानते है ।[5] वे अलङ्.कार शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म मानते हैं जो अङ्.गद् (बाजूबन्द) आदि आभूषणों की

---

1. वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् । अग्निपुराण 337/33
2. अर्थालङ्.कार रहिता विधवेव सरस्वती । वहीं 344/2
3. अलङ्.कृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत् । वहीं 346/1
   वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारयते परम् ।।
4. न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते । नाट्यशास्त्र
5. वाक्यं रसात्मकं काव्यम् । सा0द0 1/3

भाँति काव्य के शरीर भूत शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाते हैं एवं काव्य की आत्मा रस के अभिव्यञ्जन मे सहायक होते हैं ।[1] परन्तु इससे पूर्व ही चतुर्थ परिच्छेद मे उन्होंने अलड्.कारध्वनि और वस्तुध्वनि की सत्ता को स्वीकार किया है ।[2] अलड्.कारों का विस्तृत विवेचन भी किया है । किन्तु उन्होंने अलड्.कारों को काव्य के लक्षण में कोई स्थान नही दिया और केवल रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहा । विश्वनाथ के मतानुसार गुण, अलड्.कार और रीतियाँ काव्य की उत्कृष्टता के कारण होते हैं ।[3]

अतएव रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत अलड्.कारों के अस्तित्व को स्वीकार तो किया गया है परन्तु अलड्.कारों को महत्त्व न देकर रस को ही काव्य का प्रधान तत्त्व स्वीकार किया गया है ।

रस सम्प्रदाय के पश्चात् दूसरा स्थान अलड्.कार सम्प्रदाय का है । अलड्.कार सम्प्रदाय के प्रवर्तक भामह माने जाते हैं । उनके प्रसिद्ध टीकाकार "भामहविवरण" के निर्माता उद्भट और तत्पश्चात् दण्डी, रूद्रट, प्रतीहारेन्दुराज एवं जयदेव आदि विविध आचार्य अलड्.कारवादी आचार्य माने जाते हैं । इस सम्प्रदाय के अनुयायी रस की सत्ता को मानते हैं परन्तु उसे प्रधानता नहीं देते हैं । इन आचार्यों के अनुसार काव्य का प्राणभूत जीवन धायक तत्त्व अलड्.कार ही है । वे अलड्.कार रहित काव्य की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं । आचार्य भामह ने काव्य में रसों की उपस्थिति को अनिवार्य मानते हुए भी रसों का अन्तर्भाव रस्वद्लड्.कार [4] में तथा भावों का अन्तर्भाव प्रेयालड्.कार में करके रसादि की अपेक्षा अलड्.कारों को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है । उद्भट

---

1. शब्दार्थयोरस्थिराः ये धर्माः शो भातिशायिनः ।
   रसादीनुपकुर्वन्तोऽलड्.कारास्तेऽड्.गदाद्वित् ।। सा0द0 10/1
2. वस्त्वलड्.कार रूपत्वाच्छब्दशक्त्युद्भवो द्विधा । वहीं 4/7
3. उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः ।। वहीं 1/3
4. रसवद् दर्शितस्पष्टश्रड्.गारादि रसं यथा । काव्यालड्.कार - भामह 3/6

ने रस तथा भाव आदि विषयों को अलड़्कारों के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है । उनके विषय में अलड़्कारसर्वस्वकार रूय्यक का कथन है कि उद्भट ने गुण एवं अलड़्कारों को प्राय साम्य ही बतलाया है ।[1] आचार्य दण्डी ने अलड़्कारों को रस का पोषक कहा है ।[2] परन्तु भामह के पदचिह्नों पर चलते हुए उन्होंने रस, भाव आदि को रस्वद्लड़्कार एवं प्रेयालड़्कार में समाविष्ट कर दिया है ।[3] रूद्रट ने अलड़्कारों को शब्दार्थ की शोभा का हेतु माना है । अन्य अलड़्कारवादी आचार्यों की भाँति वे भी अलड़्कारों को प्रमुख तत्त्व मानते है । अलड़्कार सम्प्रदाय के प्रबल समर्थक जयदेव अलड़्कारविहीन रचना को काव्य नहीं स्वीकार करते हैं । उन्होंने अलड़्कार को हारादि के समान बताकर उन्हें काव्य के शरीर भूत शब्दार्थ का उत्कर्षाधायक तत्त्व कहा है,[4] परन्तु आचार्य मम्मट ने जो काव्यलक्षण दिया "तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलड़्कृती पुनः क्वापि " इसमें "अनलड़्कृती" पद पर जयदेव को विशेष आपत्ति हुई । जयदेव कहते हैं कि जो अलड़्कारविहीन शब्द एंव अर्थ को भी काव्य मानते हैं वे उष्णताविहीन अग्नि की सत्ता को क्यों नहीं मानते ।[5] इस प्रकार अलड़्कार सम्प्रदाय के आचार्य काव्य में अलड़्कारो को ही प्रधान मानते हैं, तथा रस एवं भाव आदि की स्वतन्त्र सत्ता न मानकर रसवदादि अलड़्कारों में उनका अन्तर्भाव कर देते हैं । आचार्य रूय्यक का मत है कि अलड़्कार युक्त काव्य ही प्रधान होता है ऐसा प्राचीन मत है –

"तदेवमलड़्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ।"[6]

---

1. उद्भटादिभिस्तु गुणालड़्काराणां प्रायशः साम्यमेव सुचितम् । अलड़्कार सर्वस्व
2. कामं सर्वोऽप्यलड़्कारो रसमर्थे निषिञ्चिति । काव्यादर्श 1/62
3. मधुरे रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थिति : । वहीं 3/51
4. हारादिवद्लड़्कारः सन्निवेशो मनोहरः । चन्द्रालोक 5/1
5. अड़्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलड़्कृती ।
   असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ।। वहीं 1/8
6. अलड़्कारसर्वस्व -- भूमिका भागे द्रष्टव्य

अलड़्.कार सम्प्रदाय के पश्चात् रीतिसम्प्रदाय का स्थान है । रीतिसम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन हैं । उन्होंने काव्य में अलड़्.कार को महत्त्व ने देकर रीति को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है । वे रीति को काव्य का प्राणभूत तत्त्व मानते है । रीति का विवेचन करते हुए उन्होंने विशिष्ट प्रकार की पदरचना को "रीति" कहा है उस "विशेष" की व्याख्या करते हुए कहा कि रचना में माधुर्य आदि गुणो का समावेश ही उसकी विशेषता है ।[1] और यह विशेषता ही रीति है । अत रीतिवादी सिद्धान्त म गुण एवं रीति का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसीलिए रीतिसम्प्रदाय को गुणसम्प्रदाय भी कहा जाता है । वामन ने गुण और अलड़्.कारों का भेद बतलाते हुए अलड़्.कारों की अपेक्षा गुणों को विशेष महत्त्व प्रदान किया है । उनके मतानुसार गुण काव्यशोभा के उत्पादक होते है ।[2] और अलड़्.कार केवल उस काव्य शोभा के अभिवर्द्धक होते है ।[3] एतदर्थ काव्य में गुणों का स्थान अलड़्.कारों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं । आचार्य वामन ने गुणों के दो भेद किये हैं -- शब्दगुण और अर्थगुण । शब्दगुण में चमत्कार वर्णयोजना पर आश्रित रहता है । अर्थगुण का क्षेत्र विशाल है । इसमें रस का भी समावेश हो जाता है । अर्थगत रीति के अन्तर्गत ओज, माधुर्य, श्लेष एवं कान्ति में काव्य सौन्दर्य के सभी तत्त्व अन्तर्निहित हो जाते हैं । अतएव रीति में अलड़्.कारों की तुलना में काव्य का आन्तरिक सौन्दर्य अधिक है ।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य कुन्तक है । वक्रोक्ति सम्प्रदाय में वक्रोक्ति की प्रधानता स्थापित की गई है । यद्यपि आचार्य दण्डी और भामह के समय से वक्रोक्ति को महत्त्व दिया जाता रहा है । दण्डी ने भी वक्रोक्ति के महत्त्व

---

1. रीतिरात्मा काव्यस्य । विशिष्टपद रचना रीतिः । विशेषोगुणात्मा ।
   – काव्यालड़्.कार सूत्र 1/2/6–8
2. काव्यशोभाया: कर्तारो धर्माः गुणाः । काव्यालड़्.कारसूत्रे 3/1/1
3. तदतिशयहेतवस्त्वलड़्.काराः । वहीं 3/1/2

को स्वीकार किया ।[1] भामह ने वक्रोक्ति एवं अतिशयाक्ति को पर्याय मानकर इसे समस्त अलड़्कारो की जीवनदायिनी बतलाया है । वामन, रूद्रट आदि आचार्यो ने भी वक्रोक्ति को एक अलड़्कार ही स्वीकार किया है । परन्तु वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने स्वप्रतिभा के बल से वक्रोक्ति के एक नवीन स्वरूप की स्थापना की । उन्होंने चातुर्यपूर्ण भड़्गमा से किये गये कथन को वक्रोक्ति कहा है ।[2] तत्पश्चात् वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए उन्होने कहा है कि प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र प्रकार का कथन ही वक्रोक्ति है ।[3] अतएव वक्रोक्ति का अभिप्राय है -- कवि कौशल पर आश्रित सामान्य से विलक्षण प्रकार का कथन ।[4] वक्रोक्ति सम्प्रदाय के अनुसार ध्वनि का अन्तर्भाव वक्रोक्ति में ही हो जाता है । अलड़्कारवादियों द्वारा मान्य रसवदलड़्कारों का उन्होंने निराकरण किया है ।[5] उनके मतानुसार रस्वत् , प्रेयस इत्यादि अलड़्कार नहीं अपितु अलड़्कार्य हैं । इस सम्प्रदाय में माधुर्यादि गुणों एवं अलड़्कारों का भी वक्रोक्ति में ही अन्तर्भाव किया गया है ।[6] आचार्य रूय्यक ने वक्रोक्ति कार कुन्तक के दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए कहा है

"उपचारवक्रताभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः ।"

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही एक मात्र अलड़्कार कहा है और दण्डी द्वारा स्वीकृत स्वभावोक्ति की अलड़्कारता का खण्डन किया है । वे कहते हैं कि यदि

---

1. भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाड़्मयम् । काव्यादर्श 2/363
2. वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभड़्गीभणितिरूच्यते । वक्रोक्तिजीवित 1/10
3. वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणीविचित्रैवाभिधा । वहीं वृत्ति
4. वैदग्ध्यं कविकर्मकौशलं तस्य भड़्गी विच्छित्तिः । वहीं वृत्ति
5. अलड़्कारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् ।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थसड़्गतेरपि ॥ वहीं 3/11
6. वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा ।
यत्रालड़्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥ वहीं 1/20

स्वभावोक्ति भी अलड्.कार है तो फिर अलड्.कार्यरूप से कौन सी दूसरी वस्तु शेष रह जाती है ।[1] और जिन अलड्.कारों को उन्होंने स्वीकार किया है, उन्हें भी "भणितिवैचित्र्य के कारण ही स्वीकार किया है , अतएव वे भी वक्रोक्ति में ही अन्तभूर्त हैं उन्होंने ऐसा अनेक अलड्.कारों का निषेध कर दिया जो अलड्.कार्य रूप में दिखाई पड़ते हैं तथा अनेक ऐसे अलड्.कारों का त्याग कर दिया जो चमत्कार उत्पन्न करने में अक्षम हैं । चमत्कार विहीन अलड्.कारों में यथासंख्य, हेतु, सूक्ष्म, लेश और सन्देह हैं । इनमें भणितिवैचित्र्य का अभाव होने से कोई कान्ति नहीं होती ।[2] वक्रोक्ति सिद्धान्त में प्रकारान्तर से रस को भी महत्त्वपूर्ण माना गया है जबकि अलड्.कारवाद में रस का स्थान अत्यन्त गौण है, अलड्.कारों के अभाव में काव्य की कल्पना करना भी दुष्कर है । अतएव वक्रोक्तिसम्प्रदाय में अलड्.कारो को वह गौरव नहीं प्राप्त है जो अलड्.कार सम्प्रदाय में उन्हें प्राप्त होता है ।

संस्कृतकाव्यशास्त्र में एक अलग ही ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना हुई । ध्वनि सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य आनन्दवर्द्धन हैं, परन्तु 'ध्वनि' अथवा प्रतीयमानार्थ की उद्भावना उनसे पूर्व हो चुकी थी जैसा कि ध्वनिकार ने स्वयं ही कहा है -- 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः' । ध्वनिकार से पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी पर्यायोक्त, समासोक्ति आदि अलड्.कारों के निरूपण में एक प्रतीयमानार्थ को स्वीकार किया था । परन्तु उनसे पूर्व ध्वनि का प्रबल विरोध भी होता रहा था । आचार्य आनन्दवर्धन ने तीन प्रकार के विरोधियों की कल्पना की – एक अभाववादी, दूसरे लक्षणा में ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाले और तीसरे वे जो ध्वनि का अनुभव तो करते हैं किन्तु उसकी व्याख्या असम्भव मानते हैं । उन्होंने इन सभी विरोधों का निराकरण करके स्वप्रतिभा के बल पर ध्वनिसिद्धान्त

---

1. अलड्.कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलड्.कृतिः ।
   अलड्.कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ।। वहीं 1/8

2. भणितिवैचित्र्यविरहान्न काच्चिदत्र कान्तिविद्यते । – वक्रोक्तिजीवित 3/43

की प्रेरणा वैयाकरणों के स्फोटसिद्धान्त से मिली है । ध्वनि का व्याख्या करते हुए 'सूरिभि. कथितः' में 'सूरिभिः' पद से उनका अभिप्राय वैयाकरणों से है क्योंकि वैयाकरण ही पहले विद्वान हैं और व्याकरण ही सब विद्याओं का मूल है । वे श्रूयमाण वर्णों में ध्वनि का व्यवहार करते हैं ।[1]

ध्वनि का स्परूप बतलाते हुए आचार्य आनन्दर्वर्द्धन ने कहा है कि जहाँ अर्थ स्वयं और शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके उस प्रतीयमानार्थ को प्रकाशित करते है, उस काव्यविशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है ।[2] प्रतीयमानार्थ को उन्होंने ऐसी विलक्षण वस्तु बताया है जो रमणियों के प्रसिद्ध मुख, नेत्रादि शरीर के अवयवों से भिन्न उनके लावण्य के समान महाकवियों की वाणी में भासित होता है और प्रसिद्ध वाच्यार्य से भिन्न होता है ।[3]

ध्वनिकार ने अलङ्.कारों को कितना महत्त्व दिया है, और ध्वनि सम्प्रदाय के अन्तर्गत अलङ्.कारों का क्या स्थान है इसकी विवेचना ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में विस्तारपूर्वक मिलती है । वे अलङ्.कारों को कटकादि के समान मानते हैं जो प्रधान भूत रस के अङ्.गरूप शब्द और अर्थ में रहने वाले धर्म हैं ।[4] उनके मतानुसार ध्वन्यात्मभूत श्रृङ्.गार में शब्दालङ्.कारों का अधिक प्रयोग अनुचित है । वे कहते हैं कि अङ्.गी रूप से विद्यमान श्रृङ्.गार के सभी प्रभेदों में प्रयत्नप्र्र्वक निरन्तर उपनिबद्ध अनुप्रास रस का अभिव्यञ्जक नहीं होता ।[5] तथा शक्ति होते हुए भी ध्वन्यात्मक श्रृङ्.गार में एवं विशेष

---

1. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् ।
ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति । ध्वन्यालोकवृत्तिभाग 1/13
2. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो ।
व्यङ्.क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरितिसूरिभिः कथितः ।। वही 1/13
3. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्.नासु ।। वहीं 1/4
4. अङ्.गाश्रितास्त्वलङ्.कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ।। ध्वन्यालोक 2/6
5. श्रृङ्.गारस्याङ्.गिनों यत्नादेकरूपानुबन्धवान् ।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ।। वहीं 2/14

रूप से विप्रलम्भ श्रृड्.गार में यमकादि का निबन्धन कवि के प्रमादित्व को ही सूचित करता है ।[1] अलड्.कारों के प्रयोग की कसौटी निर्धारित करते हुए वे कहते हैं कि जिस अलड्.कार की रचना रस से आक्षिप्तरूप में बिना किसी अन्य प्रयत्न के हो सके, वही अलड्.कार मान्य है ।[2] और वही मुख्यरूप से रस का अड्.ग भी होता है । इस प्रकार ध्वनि के परिप्रेक्ष्य में अलड्.कार सदैव अड्.गरूप में ही होने चाहिए अड्.गी अथवा प्रधान रूप में नहीं । अड्.गरूप रूपक आदि अलड्.कार वर्ग ध्वन्यात्मक श्रृड्.गार में यदि सोच समझ कर उचित रूप में प्रयुक्त किये गये हैं तो वे वास्तविक अलड्.कारता को प्राप्त होते हैं ।[3] इस प्रकार रस की तुलना में अलड्.कारों की हीनता को द्योतित करते हुए आचार्य आनन्दवर्द्धन कहते हैं रूपक आदि की विवक्षा सदैव रस को प्रधान मानकर ही हो । ये किसी भी स्थिति में प्रधान रूप में न हो, उचित समय पर इनका ग्रहण एवं त्याग होना चाहिए , काव्य में आद्योपान्त इनके निर्वाह की इच्छा नहीं करना चाहिए और यदि कहीं अनायास ही आद्यन्त अलड्.कारों का निर्वाह हो जाये तो भी उन्हें अड्.गरूप में ही होना चाहिए । रूपकादि अलड्.कारों के अड्.गत्व का यही साधन है ।[4] ध्वनिकार के मत में यदि काव्य में अलड्.कारों का प्रयोग किया जाये तो उन्हें उपर्युक्त रीति से ही होना चाहिए , अन्यथा वह काव्य निम्नकोटि का होगा ।

जिन अभाववादियों ने अलड्.कारादि में ध्वनि के अन्तर्भाव की बात कही है उनका भी ध्वनिकार ने समुचित रूप से खण्डन किया है । वे कहते हैं कि केवल वाच्य वाचक भाव का आश्रय लेने वाले गुणालड्.कारप्रस्थान में व्यड्.ग्यव्यञ्जक भाव के आश्रय

---

1. ध्वन्यात्मभूते श्रृड्.गारे यमकादिनिबन्धनम् ।
   शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ।। वही 2/15
2. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
   अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलड्.कारो ध्वनौ मतः ।। वही 2/16
3. ध्वन्यात्मभूते श्रृड्.गारे समीक्ष्य विनिवेशितः ।
   रूपकादिरलड्.कारवर्ग एति यथार्थताम् ।। वही 2/17
4. विवक्षा तत्परत्वेन नाड्.गित्वेन कदाचन । काले च ग्रहणत्यागौ निर्वहणैषिता ।।
   निर्व्यूढावपि चाड्.गत्वे यत्नेन प्रत्यपेक्षणम् । रूपकादिरलड्.कारवर्गस्याड्.गत्वसाधनम् ।।
   ध्वन्यालोक 2/18.19

से व्यवस्थित होने वाली ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता ।[1] यदि पूर्वपक्षी हठपूर्वक यह कहे कि जिन अलड़्कारों में प्रतीयमानार्थ की विशदतापूर्वक प्रतीति नहीं होती है वहाँ भले ही ध्वनि का अन्तर्भाव न माना जाये परन्तु जिन समासोक्ति , आक्षेप, पर्यायोक्त आदि में प्रतीयमानार्थ की अनुभूति होती है उनमें ध्वनि का अन्तर्भाव अवश्य मानना चाहिए इसका खण्डन करते हुए आचार्य आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि इसी सम्भावना के निराकरण के लिए कारिका में 'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' कहा गया है अर्थात् जहाँ अर्थ स्वयं को एवं शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण बनाकर दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है वही ध्वनि होती है । अतएव इस स्थिति में जबकि शब्दालड़्कार शब्द पर आश्रित है एव अर्थालड़्कार अर्थ पर आश्रित हैं तो उन दोनों को गौण बना देने वाली व्यड़्ग्यप्रधान ध्वनि का वाच्यप्रधान अलड़्कारों मे कैसे अन्तर्भाव हो सकता है ।

इस प्रकार ध्वनि प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्द्धन ध्वनि को काव्य का प्रधान तत्त्व अर्थात् आत्मा मानते हैं । वे अलड़्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव कदापि स्वीकार नही करते हैं और रसपूर्ण काव्य में अलड़्कारों की स्थिति रस के अड़्ग के रूप में ही स्वीकार करते हैं । यमक आदि प्रयत्नसाध्य शब्दालड़्कार रस प्रतीति में बाधक होने के कारण उनकी दृष्टि में अत्यन्त हीन हैं ।

आचार्य मम्मट ध्वनि सिद्धान्त के प्रबल समर्थक हैं उन्होंने काव्य में अलड़्कारों की उपस्थिति को अधिक महत्त्व नहीं दिया है । उन्होंने काव्य का लक्षण देते हुए 'अनलड़्कृती पुनः क्वापि पद के द्वारा काव्य में अलड़्कारों की अनिवार्यता का खण्डन किया है । उनका मत है कि काव्य में अलड़्कारों की स्फुट प्रतीति न होने पर भी काव्यत्व को कोई क्षति नही पहुँचती है ।[2] वे अलड़्कार को शब्द और अर्थ का धर्म मानते

---

1. "वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यड़्ग्यव्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः ।" वहीं 1/13

2. क्वचित्तु स्फुटालड़्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः । का0 प्र0 1/4

है जो विद्यमान रस के अड्.गरूप में होते हैं एवं रस का कभी–कभी उपकार करते है ।[1] मम्मट की दृष्टि में अलड्.कारों का स्वरूप गुणों से भिन्न है । गुण नियम से रस के साथ रहते हें और रस का उपकार करते हैं क्योंकि वे काव्य की आत्मा रस के धर्म है परन्तु अलड्.कार काव्य के शरीरभूत शब्द एवं अर्थ के धर्म हैं और रस के साक्षात् उपकारक भी नही हैं । वे रसव्यञ्जना के उपकरण रूप शब्दार्थ में उत्कर्ष स्थापित करते हैं । इस प्रकार शब्दार्थ शोभा बढ़ाते हुए काव्य की आत्मा रस के भी परम्परया उपकारक होते हैं । चित्रकाव्य में तो ये अलड्.कार उक्ति वैचित्र्यमात्र दिखलाकर रह जाते हैं तथा कहीं कहीं रस के विद्यमान होने पर भी उसका उपकार नहीं करते हैं । आचार्य मम्मट उत्तमकाव्य की कसौटी ध्वनि को ही मानते हैं ।[2] और रस सदैव व्यड्.ग्य ही हुआ करते हैं अतएव वाच्यप्रधान अलड्.कारों की स्फुटता श्रेष्ठ काव्य के लिए अपेक्षित नहीं हैं । परन्तु मम्मट ने अलड्.कारों की पूर्ण उपेक्षा भी नही की है । उन्होंने "अवरकाव्य" को भी मान्यता दी है । जिसमें शब्दालड्.कार की प्रधानता होती है और यदि उसमें रसादि होते भी हैं तो वे कवि के विवक्षित नहीं होते है । अतएव ध्वनि सम्प्रदाय में अलड्.कारों का स्थान अत्यन्त गौण है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अलड्.कार सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य सभी काव्यसम्प्रदायों में अलड्.कारों के अस्तित्व को स्वीकार तो किय गया है और उन्हें चारूत्व का हेतु भी माना है परन्तु रस एवं भाव की अपेक्षा उन्हें काव्य में गौण स्थान दिया गया है । अलड्.कार सम्प्रदाय में अलड्.कारों को ही काव्य का सर्वप्रमुख तत्त्व माना गया है और अलड्.कार विहीन रचना के काव्यत्व को ही ठुकरा दिया गया है । वस्तुतः जिस रचना से चारूत्व की प्रतीति होती है वही सहृदयों को आकर्षित करती है । यह चारूत्वप्रतीति

---

1. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽड्.गद्वारेण जातुचित् ।
   हारादिवदलड्.कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।। वही 8/67

2. इदमुत्तममतिशायिनि व्यड्.ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः । का0 प्र0 कारिका 4

केवल अलड्.कारों से ही नही होती है बल्कि रस, भाव, रीति तथा वृत्ति आदि भी अतिशय चारूत्व के हेतु हैं । संस्कृत–साहित्य में ऐसे अनेक पद्य प्राप्त होते हैं जिनमें न तो किसी प्रकार का प्रतीयमानार्थ है और न कोई अलड्.कार है, फिर भी उनमें काव्यत्व कूट–कूट कर भरा है । आचार्य मम्मट ने स्फुट अलड्.कार से रहित रचना के रूप में "यः कौमारहरः स एव हि वरः " इत्यादि पद्य उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया है जिसमे किसी अलड्.कार की स्पष्ट रूप से प्रतीति नहीं होती है परन्तु फिर भी यह उत्तम काव्य की कोटि में आता है । अतः काव्य में अलड्.कारों की अनिवार्यता किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती है ।

यहाँ पर यह भी ध्यातव्य है कि जिस प्रकार कुरूपा के शरीर पर हार आदि आभूषण उसके सौन्दर्य की वृद्धि न करके केवल दृष्टि चमत्कार ही पैदा करते हैं उसी प्रकार नीरस काव्य में अलड्.कार उक्ति चमत्कारमात्र दिखलाकर रह जाते है ।[1] संस्कृत साहित्य मे पाण्डित्य प्रदर्शन प्रेमी कवियों की रचनाओ में ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं । जिनमें रस, भाव आदि का स्थान गौण है किन्तु यमक, श्लेष, और चित्र आदि अलड्.कारों का सायास प्रयोग किया गया है । जिससे न केवल उन काव्यों का सहज सौन्दर्य नष्ट हुआ है बल्कि वे अत्यन्त दुरूह भी हो गये हैं ।

(ग) **अलड्.कारों का विभाजन :-**

शब्द एवं अर्थ के आधार पर अलड्.कारों का विभाजन तीन वर्गों में किया गया है – 1. शब्दालड्.कार 2. अर्थालड्.कार एवं 3. उभयालड्.कार ।

शब्दालड्.कार का आधार "शब्द" है, अतः शब्द विशेष की उपस्थिति में ही इन अलड्.कारों की सत्ता होती है और उस शब्द विशेष को हटा देने पर या उसका समानार्थक

---

1. यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः । का0प्र0

शब्द रख देने पर इन अलड़्कारों की सत्ता नहीं रहती । अतः शब्दालड़्कारों में "शब्द परिवृत्यसहत्व" होता है । आचार्य विश्वनाथ और मम्मट ने शब्दालड़्कार के अन्तर्गत इन अलड़्कारो को रखा है – वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र तथा पुनरूक्तवदाभास । काव्य प्रकाश के टीकाकार सोमेश्वर का भी यही मत है ।[1]

अर्थालड़्कार अर्थ पर आधारित होते हैं क्योंकि जिन शब्दो के माध्यम से वे अलड़्कार व्यक्त होते हैं उनके स्थान पर यदि उनके समानार्थक शब्द रख दिये जाये तो भी इन अलंकारों की सत्ता बनी रहती है , अतः अर्थालंकारों में 'शब्दपरिवृत्तिसहत्व' होता है । इस वर्ग के अंतर्गत उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा , अर्थान्तरन्यास, अर्थश्लेष, सन्देह, निदर्शना इत्यादि अनेक अलंकार आते हैं ।

उभयालंकार शब्द और अर्थ दोनो पर आधारित होते हैं । संकर एवं संसृष्टि अलंकार इस वर्ग में हैं । कुछ आचार्यों ने पुनरूक्त वदाभास को भी अभयालंकार माना है ।[2]

आचार्य मम्मट ने अलड़्कारों के इस विभाजन का आधार अन्वय एवं व्यतिरेक को माना है । उनका कहना है कि दोष, गुण, और अलड़्कारों की शब्दगत, अर्थगत् या उभयगत होने की जो व्यवस्था है, उसमें अन्वय और व्यतिरेक ही कारण हैं । इसलिए जो अलंकार जिस शब्द, अर्थ या शब्दयुगल के अन्वय एवं व्यतिरेक का अनुसरण करता है वह उसका ही अलंकार है ।[3]

---

1. वक्रोक्तिरप्यनुप्रासो यमकं श्लेष चित्रके ।
   पुनरूक्तवदाभासः शब्दालड़्कृतयस्तुषट् ।। -- सड़्केतटीकायाम्
2. क तथा शब्दार्थयोरयम् । – का0 प्र0 9/86
   ख शब्दपरिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यामस्योभयालड़्कारत्वम् । सा0द0 10/2
3. "काव्ये दोषगुणालड़्काराणां शब्दार्थोभयगतत्वेन व्यवस्थायामन्वयव्यतिरेकारेव – वप्रभवतः, निमित्तान्तरस्याभावात् । ततश्च योऽलड़्कारो यदीयान्वय व्यति -- रेकावनुविधत्ते स तदलड़्कारौ व्यवस्थात्यते इति । का0प्र0 9/85

रूद्रट का अलड्.कार – विभाजन :–

आचार्यरूद्रट ने यद्यपि शब्दालड्.कार एवं अर्थालड्.कार की व्यवस्था दी है । उन्होंने शब्दालड्.कार के अन्तर्गत केवल पॉच अलंकार ही माने हैं – 1. वक्रोक्ति, 2. अनुप्रास, 3. यमक, 4. श्लेष एवं 5. चित्र ।[1] 'पुनरूक्तवदाभास' नामक अलड्.कार को इन्होंने मान्यता नहीं दी है । अर्थालड्.कारों का अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से वर्गीकरण करना रूद्रट की अपूर्व देन है । इन्होंने अर्थालड्.कारों को चार वर्गों में विभाजित किया है -- 1. औपम्यवर्ग, 2. वास्तववर्ग, 3. अतिशयवर्ग तथा 4. श्लेषवर्ग । वास्तववर्ग के अन्तर्गत सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, पर्याय आदि अलंकार हैं । औपम्यवर्ग में उपमा, रूपक, समासोक्ति, अपहनुति एवं अर्थान्तरन्यास अलड्.कार हैं । अतिशय वर्ग के अन्तर्गत पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण आदि हैं और अर्थश्लेष के अन्तर्गत अविशेष, विरोध, अधिक, वक्रश्लेष, व्याजश्लेष, उक्तिश्लेष आदि अलड्.कार हैं ।

(घ) अलड्.कारों की संख्या :–

काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने अलड्.कारों की अलग--अलग संख्या मानी है । आचार्य भरतमुनि के अनुसार केवल चार अलंकार प्राप्त होते हैं – उपमा, रूपक, दीपक और यमक ।[2] आचार्य वामन ने इकतीस और दण्डी ने सैंतीस, भामह ने उनतालीस एवं उद्भट ने चालीस अलंकारों का निरूपण किया है । आचार्य रूद्रट ने बासठ अलंकारों का विवेचन किया है जिसमें से उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा वर्णित मात्र सत्ताइस अलंकार ही लिए हैं और शेष पैंतीस अलंकारों की कल्पना उन्होंने स्वतन्त्ररूप से की है । मम्मट ने सरसठ अलंकारों का वर्णन किया है । उन्होंने विनोक्ति, सम और अतद्गुण नामक नवीन अलंकारों की कल्पना की है । विश्वनाथ ने सतहत्तर और मंखक के गुरू आचार्य रूय्यक ने बयासी अलंकार माने

---

1. वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम् । काव्यालड्.कार 2/13
   शब्दस्यालड्.काराः .... ।।
2. उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा ।
   अलड्.कारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः ।। नाट्यशास्त्र 17/43

है । जयदेव ने सौ अलंकारो का वर्णन किया है । अप्पयदीक्षित के कुवलयानन्द मे अलकारो की सख्या एक सौ चौबीस स्वीकार की गई ।

(ड.) **प्रस्तुत महाकाव्य में अलड्.कारों का स्वरूप :–**

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य काव्य की तीन कोटियों में से अधमकोटि के अन्तर्गत आता है । यह अलंकार प्रधान काव्य है । रस के परिपोषक, व्यंजक, व्यंग्य तथा चित्ररूप आदि सभी प्रकारो से इस ग्रन्थ में अलंकारों का सुन्दर निबन्धन हुआ है । इन्होंने महाकवि भारवि एव माघ आदि की तरह यमक अलड्.कार का प्रचुर प्रयोग नहीं किया है । महाकवि मंखक ने यमक का प्रयोग नगण्य सा किया है । थोडा – बहुत अनुप्रास अलंकार का भी प्रयोग किया है ।

अर्थालकारों में उत्प्रेक्षा और समासोक्ति मंखक को विशेष रूप में प्रिय हैं । कही–कहीं श्लिष्ट सांगरूपक भी कवि ने बान्धे हैं । सूक्ष्मातिसूक्ष्म उत्प्रेक्षाओं से कवि की कल्पना की सूक्ष्मता का परिचय मिलता है । श्लिष्ट सांग रूपक व अन्य अलंकारों के प्रचुर प्रयोग के कारण "श्रीकण्ठचरितम" कुछ जटिल भी हो गया है ।

(च) **शब्दालड्.कार**

1. **वक्रोक्ति अलड्.कार :–**

आचार्य रूद्रट ने सर्वप्रथम अपने काव्यालंकार में वक्रोक्ति की चर्चा की है । उन्होंने श्लेष -- वक्रोक्ति तथा काकु वक्रोक्ति का पृथक पृथक उल्लेख करते हुए कहा है कि 'वक्ता द्वारा भिन्न अर्थ में कही गयी बात की , उत्तर देने वाला व्यक्ति पदों को विभक्त कर जहॉ अविवक्षित अर्थ में व्याख्या करे वह श्लेष वक्रोक्ति है ।[1] तथा स्पष्टरूप से उच्चारण

---

1. वक्त्रा तदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः ।
   वचनं यत्पदभड्.गैज्ञर्यासा श्लेषवक्रोक्ति ।। काव्यालड्.कार 2/14

किये गये स्वर के वैशिष्ट्य के कारण जहाँ दूसरे अर्थ की स्फुट प्रतीति होती है उसे काकुवक्रोक्ति कहते हैं ।[1]

रूद्रट द्वारा वर्णित श्लेष वक्रोक्ति के स्वरूप से स्पष्ट है कि वे केवल सभंगश्लेष की वक्रोक्ति को ही मानते हैं, अभंगश्लेष की वक्रोक्ति को नहीं मानते हैं । आचार्य मम्मट के अनुसार वक्ता द्वारा किसी अभिप्राय से कहा गया वाक्य यदि अन्य व्यक्ति अर्थात् श्राता के द्वारा श्लेष या काकुरूप ध्वनि विकार के हेतु से अन्य अर्थ में कल्पित कर लिया जाता है तो वह वक्रोक्ति अलंकार है ।[2] आचार्य मम्मट ने यहाँ पर श्लेष वक्रोक्ति के लिए "श्लष" शब्द का प्रयोग किया है । श्लेष सभंग और अभंग दोनो प्रकार का होता है, अतएव मम्मट को सभंग तथा अभंग दोनों ही प्रकार की श्लेषवक्रोक्ति मान्य है । अलंकार सर्वस्वकार रूय्यक ने भी वक्रोक्ति का वही स्वरूप माना है जो मम्मट को अभिप्रेत है किन्तु उन्होंने श्लेष वक्रोक्ति को अभंगरूप, सभंगरूप, एवं उभयरूप से तीन प्रकार का बतलाया है ।[3] वक्रोक्ति के लक्षण के विषय में आचार्य विश्वनाथ का मत भी मम्मट के मत के अनुरूप ही है ।[4]

प्रस्तुत श्रीकण्ठचरितम् महाकाव्य में वक्रोक्ति का प्रयोग मात्र एक दो जगह हुआ है ।

---

1. विस्पष्टं क्रियमाणादक्लिष्टा स्वर विशेषतो भवति ।
   अर्थान्तर प्रतीतिर्यत्रासौ काकुवक्रोक्तिः ।। वही 2/16
2. यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
   श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा । का0 प्र0 9/78
3. क अन्यथोक्तस्य वाक्यस्य काकुश्लेषाभ्यामन्यथा योजनं वक्रोक्तिः -। अलड्.कारसर्वस्व सूत्र 78
   ख तत्र श्लेषोऽभड्.गत्वेनोभयमयत्वेन त्रिविधिः । वहीं
4. अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि ।
   अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा । सा0द0 10/9

उदाहरण :-

1. विधुः स्वयं सायकताम्श्रियेष विधुश्च तस्याथ पुरोनिलिल्ये ।
अस्तानि ताभ्यां न कथं पुराणि विध्वस्ततासंस्तवमाप्नुवन्तु ।। [1]

स्वयं विधु अर्थात विष्णु ने बाणता स्वीकार की और दूसरा विधु अर्थात चन्द्र उस बाण के अग्रभाग में लीन हो गया । उन दोनों से अस्त होकर वे पुरत्रय भला विध्वस्त क्यों न हो जायें । यहाँ पर पहले 'विधु' का अर्थ 'विष्णु' और दूसरे 'विधु' का अर्थ 'चन्द्र' लगाया गया है । और इस पद का भङ्ग भी नहीं हुआ है इसलिए यह अभङ्ग श्लेष हुआ । विष्णु और चन्द्र रूपी शस्त्रों द्वारा वे पुरत्रय भला विध्वस्त क्यों न हो जाय अर्थात् अवश्य पुरत्रय नष्ट हो जायेंगे अतएव काकु वक्रोक्ति है । प्रस्तुत उदाहरण में अभङ्गश्लेष मूलक काकुवक्रोक्ति है ।

2. विशिख कुसुम वृष्टिभिः पुरः कश्चिदनो अंचितचर्चमर्चताम् ।
मिहिरसुतपुरप्रवेशने व्यतनुत विध्नहतिधनुष्मताम् ।। [2]

बाण पुष्पो की वर्षा से पूजित होकर गणेश जी ने दैत्यों के यमपुर प्रवेश की बाधा को दूर कर दिया अर्थात् मार डाला । यहाँ पर कवि ने आशापूर्ण भाव से कहा है कि गणेश जी पूजा अर्चना प्राप्त करके दैत्यों के यमपुर प्रवेश की बाधा को दूर कर दिया परन्तु यह आशा नहीं है । इसी वाक्य को भिन्न कण्ठ ध्वनि से कहा गया । दैत्यों के यमपुर प्रवेश की बाधा दूर कर दी, इसका अर्थ है उन असुरों को मार डाला इसलिए यह काकुवक्रोक्ति का उदाहरण है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 20/47
2. श्रीकण्ठ0 23/61

2 **अनुप्रास अलड्.कार :-**

अनुप्रास का उल्लेख सर्वप्रथम अग्निपुराण में मिलता है । यहाँ पद और वाक्य मे वर्णों की आवृत्ति को अनुप्रास कहा गया है ।[1] भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में इस अलड्.कार का वर्णन ही नहीं किया है । उद्भट ने 'सरूपव्यञ्जनन्यास' को अनुप्रास माना है ।[2] भामह ने समान रूप वाले वर्णो के विन्यास को अनुप्रास कहा है ।[3] आचार्य वामन ने भी अनुप्रास को वर्णसाम्यरूप माना है । इनके मत में वर्णानुप्रास वह अच्छा होता है जा अधिक उत्कृष्ट नही होता ।[4] आचार्य दण्डी के अनुसार पादों एव पदों में वर्णों की एसी आवृत्ति जिससे प्रथमोक्त वर्ण का सस्कार जाग सके, अनुप्रास कहलाती है । पादों या पदों में अदूरता होने पर ही ऐसा होता है ।[5] रूद्रट के मतानुसार एक , दो या तीन व्यञ्जनों के अन्तर पर स्वर के विसदृश होने पर भी व्यञ्जन की अनेक बार आवृत्ति अनुप्रास कहलाती है ।[6] आचार्य मम्मट ने वर्णो की समानता को अनुप्रास कहा है ।[7] "वर्णसाम्य" से उनका अभिप्राय वही है जिसे रूद्रट ने अनुप्रास की परिभाषा में बताया है अर्थात् स्वरों के असमान होने पर भी व्यञ्जनों की समानता ।[8] आचार्य विश्वनाथ के स्वर की विषमता रहने पर भी शब्द के साम्य को अनुप्रास कहते हैं ।[9] इस प्रकार यद्यपि अधिकाँश आचार्यों ने अनुप्रास

---

1. स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पदवाक्ययोः । अग्निपुराण 343/1
2. सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।
   पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ।।– काव्यालड्.कार सारसड्.ग्रह पृ0 5
3. सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते । – काव्यालड्.कार 2/5
4. शेषः सरूपोऽनुप्रासः । अनुल्बणो वर्णानुप्रासः श्रेयान् । – काव्यालड्.कार सूत्र 4/1/8,9
5. वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च ।
   पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता ।। -- काव्यादर्श 1/55
6. एकद्वित्रान्तरितं व्यञ्जनमविवक्षितस्वरं बहुशः ।
   आवर्त्यते निरन्तरमथवा यदसावनुप्रासः ।। – काव्यालड्.कार 2/18
7. वर्णसाम्यमनुप्रासः । – का0 प्र0 10/79
8. स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनसदृशत्वं वर्णसाम्यम् ।। वहीं वृत्ति भाग 10/79
9. अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् । – सा0द0 10/3

के लिए वर्णसाम्य को आवश्यक बतलाया है किन्तु वर्णसाम्य स तात्पर्य उनका विशेष तात्पर्य व्यञ्जनसाम्य ही है , स्वरो का साम्य नहीं। उद्भटतथा रूद्रट ने स्पष्ट रूप स व्यञ्जनसाम्य या व्यञ्जनों की आवृत्ति की बात कही है।

अनुप्रास के भेद :–

काव्यशास्त्रीय विद्वानों ने अनुप्रास के अनेक भेद बताये हैं -- 1. ग्राम्यानुप्रास 2. लाटानुप्रास। उन्होंने इन दोनों भेदों का स्वरूप नहीं बताया है, केवल नामोल्लेख करके उदाहरण दे दिया है।[1] रूद्रट के द्वारा दी गई परिभाषा से स्पष्ट है कि वे अनुप्रास को केवल वृत्तयनुप्रासात्मक ही मानते हैं। आचार्य मम्मट ने अनुप्रास के तीन भेद बताये हे -- 1. छेकानुप्रास 2. वृत्त्यनुप्रास 3. लाटानुप्रास। उनके अनुसार अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति छेकानुप्रास है।[2] तथा एक या अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति वृत्त्यनुप्रास है।[3] लाटानुप्रास शब्दगत अनुप्रास है तथा इसमें शब्द और अर्थ के अभिन्न होने पर भी तात्पर्यमात्र का भेद होता है।[4] मम्मट ने लाटानुप्रास के कुल पॉच भेद माने है। सर्वप्रथम उसके दो भेद किये -- 1. पदगत लाटानुप्रास 2. समासगत लाटानुप्रास। इनमें से पदगत लाटानुप्रास दो प्रकार का है – अनेकपदगत तथा एकपदगत। समासगत लाटानुप्रास तीन प्रकार का है -- एक समासगत् भिन्न समासगत और समास – असमासगत।[5] आचार्य

---

1. ग्राम्यानुप्रासमन्यत्तु मन्यन्ते सुधियोऽपरे।
   स लोलमालानीलालिकुलाकुलगलो बलः ।।
   लाटीयमप्यनुप्रास मिहेच्छन्त्यपरे यथा ।। काव्यालङ्कार 2/6–8
2. सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः। का0प्र0 10/79
3. एकस्यात्यसकृत्परः। वहीं
4. शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः। का0प्र0 10/81
5. पदानां सः पदस्यापि वृत्तावन्यत्र तत्र वा।
   नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च तदेवं पञ्चधा मतः ।। वहीं 10/81,82

विश्वनाथ ने अनुप्रास के पाँच भेद बताये हैं – 1. छेकानुप्रास 2. वृत्त्यनुप्रास 3. श्रुत्य–अनुप्रास 4. अन्त्यानुप्रास 5. लाटानुप्रास । इस प्रकार विश्वनाथ ने मम्मट के मतानुसार तीन भेदों अर्थात् छेक वृत्ति, और लाट के अतिरिक्त श्रुत्यनुप्रास एवं अन्त्यानुप्रास को भी अपने ग्रन्थ में मान्यता दी । श्रुत्यनुप्रास में तालु आदि किसी एक ही उच्चारण स्थान से उच्चरित व्यजनों का सादृश्य होता है ।[1] तथा अन्त्यानुप्रास वहाँ होता है जब प्रथम स्वर के साथ यथावस्थ व्यञ्जनो की आवृत्ति पद अथवा पाद के अन्त में होती है ।[2]

प्रस्तुत महाकाव्य श्रीकण्ठचरितम् में छेकानुप्रास इस प्रकार है --

<u>उदाहरण :-</u>

तास्तन्वङ्.गय. परिसरलसत्प्राणनाथाङ्.कपाली
लीलालोलालसतरवपुर्लेखमुल्लेखवत्यः ।
क्षैव्यव्यावल्गनतरलितापाङ्.गरङ्.गत्कटाक्षा
मध्येसीधु प्रतिमितमिति स्वैरमेणाङ्.कमूचुः ।।[3]

प्रस्तुत श्लोक में अनेक व्यञ्जनों का एक बार सादृश्य होने से छेकानुप्रास है इस पद्य का अभिप्राय है – निकटस्थ स्वप्रियजनों के आलिंगनवश विह्वल शरीर की शोभा को धारण करने वाली तथा मद्य के प्रलापों से मध्य--मध्य में चंचल चक्षुकोर कटाक्षों से शोभित वे स्त्रियां चषक में प्रतिबिम्बित चन्द्र से इस प्रकार बोली ।

निद्रां रूद्र दरिद्रतां नय दृशां ध्वान्ते प्रशान्ते श्रिताः
पश्यैताः परभागलाभमधुना त्वत्कण्ठपीठीरूचः ।

---

1. उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके ।
 सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ।। सा0द0 10/5

2. व्यञ्जनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु ।
 आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत् ।।-- सा0द0 10/6

3. श्रीकण्ठ0 14/63

कि चान्यद्यदसौ सुधांशुरूदधावासूत्रितान्तर्जल –

स्त्वच्चूडाजडतेजसस्तदुपमा द्वैराज्यमुत्सृज्यते ।।[1]

प्रस्तुत श्लोक मे निद्रां, रूद्र, दरिद्रतां, ध्वान्ते, प्रशान्ते, में अनेक व्यञ्जनों का सादृश्य होने से अनुप्रास अलड्.कार है ।

श्रीकण्ठचरितम् के पन्द्रहवे सर्ग में 19वें श्लोक में पदानुप्रास और 22व श्लाक में वर्णानुप्रास प्राप्त हैं ।

(3) यमक अलड्.कार :–

शब्दालड्.कारों में यमक अलड्.कार अत्यन्त प्राचीन है । काव्यशास्त्र के प्राय सभी आचार्यों ने इस अलड्.कार का वर्णन किया है । यमक शब्द का अर्थ है – "यमौ द्वौ समजातौ तत्प्रतिकृति यमकम्" अर्थात् दो जुड़वाँ शिशुओं (यम) की प्रतिकृति । 'इवे प्रतिकृतौ' 5/3/96 इस पाणिनिसूत्र के अनुसार उपमान के अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से "कन्" (क) प्रत्यय होता है यदि उपमेय प्रतिकृति हो । इस सूत्र के अनुसार उपमान के रूप में वर्तमान "यम" प्रातिपदिक से "कन्" प्रत्यय लगकर "यमक" शब्द बनता है । कोश के अनुसार एक साथ पैदा हुए दो जुड़वाँ शिशुओं को संस्कृत भाषा में "यम" कहा जाता है । अतः यम (जुड़वॉ बच्चों) को उपमान मानकर इस सूत्र 'इवे'प्रतिकृतौ' से "कन्" प्रत्यय लगकर "यमक" शब्द निष्पन्न होता है अर्थात् यमक ऐसा अलड्.कार है जो यम (जुडवॉ शिशुओं) के समान है ।

यमक अलड्.कार का स्वरूप :–

काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने यमक अलड्.कार के जो लक्षण प्रस्तुत किये हैं उनके आधार पर उसे तीन वर्गों में बॉटा जा सकता है । पहले वर्ग में शब्दों अथवा वर्णों की

---

1. श्रीकण्ठ0 16/2

आवृत्ति को 'यमक' कहा गया है । दूसरे वर्ग में आवृत्तवर्णा की भिन्नार्थकता को भी आवश्यक बतलाया गया है । और तीसरे वर्ग के अनुसार यदि आवृत्तवर्ण सार्थक है तो उन्हें भिन्नार्थक होना चाहिए ।

पहले वर्ग का प्रतिनिधित्व भरतमुनि करते हैं । उन्होने शब्दावृत्ति को यमक कहा है ।[1] परन्तु शब्दों की आवृत्ति तो लाटानुप्रास में भी होती है । अतएव यमक के इस लक्षण से यमक और लाटानुप्रास मे क्या भेद है यह पता ही नहीं चलता है । दण्डी,[2] जयदेव, विद्याधर, रूय्यक एवं विद्यानाथ इत्यादि आलङ्कारियों ने भी वर्णसमूह की आवृत्ति को ही यमक कहा है । दण्डी ने इतना अवश्य कहा कि शब्दों की आवृत्ति व्यवहित भी हो सकती है और अव्यवहित भी । इस वर्ग में यमक का लक्षण अपूर्ण है ।

यमक लक्षण के दूसरे वर्ग का प्रतिनिधि ग्रन्थ अग्निपुराण है । अग्निपुराण के अनुसार 'अनेकवर्णावृत्ति में आवृत्तवर्णों के अर्थ भिन्न भिन्न होते हैं तथा ऐसी आवृत्ति यमक कहलाती है ।[3] रूद्रट,[4] भामह[5] एवं वामन,[6] आदि इसी मत का समर्थन करते हुए भिन्नार्थक वर्णों की आवृत्ति को यमक मानते हैं । इस वर्ग ने यमक का जो लक्षण दिया है । उससे यमक का लाटानुप्रास से भेद स्पष्ट हो जाता है क्योंकि लाटानुप्रास में

---

1. शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम् ।– नाट्यशास्त्र 17/60
2. अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिवर्णसंहतेः ।
   यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ।। काव्यादर्श 3/1
3. अनेकवर्णावृत्तिर्या भिन्नार्थप्रतिपादिका ।
   यमकं सा ...." अग्निपुराण 343/11,12
4. तुल्यश्रुति क्रमाणामन्यार्थानां मिथस्तु वर्णनाम् ।
   पुनरावृत्तिर्यमकं प्रायश्छन्दांसिविषयोऽस्य ।। काव्यालङ्कार 3/1
5. तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधयैः परस्परम् ।
   वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते ।। –भामह प्रणीत काव्यालङ्कार 2/17
6. पदमनेकार्थमक्षरं वा वृत्तं स्थाननियमे यमकम् । काव्यालङ्कार सूत्रं 4/1/1

आवृत्त वर्णसमूहों के अर्थ में भेद नहीं होता है, केवल तात्पर्य में भेद होता है जबकि यमक में अर्थ की भिन्नता होती है । परन्तु फिर भी यह सन्देह बना रहता है कि आवृत्त वर्णसमूह सदैव सार्थक ही होने चाहिए या निरर्थक वर्णसमूह की आवृत्ति मे भी यमक हो सकता है ।

इस शड़्.का का समाधान तृतीय वर्ग में मिलता है जहाँ यमक के स्वरूप का निरूपण सम्यक प्रकार से किया गया है । सर्वप्रथम आचार्य मम्मट ने यमक अलड़्.कार का सर्वाड़्.गीण लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि "अर्थ होने पर भिन्न भिन्न अर्थ वाले वर्ण समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति "यमक" है ।[1] इस लक्षण से यह स्पष्ट है कि आवृत्त होने वाला वर्णसमुदाय यदि अर्थवान् है तो उसे भिन्नार्थक होना चाहिए, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि आवृत्तवर्ण एक स्थान पर या दोनों स्थानों पर सार्थक ही हों । हेमचन्द्र[2] और विश्वनाथ[3] ने भी मम्मट का अनुसरण करते हुए यमक का यही लक्षण दिया है । उक्त परिभाषा में यदि केवल इतना ही कहा गया होता कि 'भिन्नार्थक' शब्दों की आवृत्ति यमक है जैसा कि द्वितीय वर्ग के आलड़्.कारियों ने कहा है , तब यमक वहीं पर होता जहाँ दोनों शब्द सार्थक किन्तु भिन्न भिन्न अर्थ वाले होते । परन्तु यमक वहाँ पर भी होता है जहाँ पर एक शब्द सार्थक और दूसरा निरर्थक होता है । उदाहरणार्थ -- "समरसमरसोऽयम्" इस वाक्य का अर्थ है – ' यह राजा समर मे समरस है । यहाँ पर प्रथम "समर" शब्द तो सार्थक है किन्तु दूसरा 'समर' शब्द निरर्थक है क्योकि वह 'समरस' शब्द का एक अंग है । इसी प्रकार ऐसे स्थल में भी यमक होता है जहाँ दोनों शब्द निरर्थक हों । इन्हीं विशेषताओं को अन्तर्भूत करने के लिए मम्मट आदि आचार्यों ने यमक की परिभाषा में 'अर्थ होने पर' 'अर्थेसति, सत्यर्थे'

---

1. अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णनां सा पुनः श्रुतिः ।
   यमकं ....।। का0प्र0 कारिका8/3
2. सत्यर्थेऽन्यार्थानां वर्णानां श्रुतिक्रमैक्ये यमकम् । काव्यानुशासनपञ्चमऽध्याय
3. सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहते ।
   क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ।। सा0द0 10/8

यह अंश जोड़ा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि आवृत्त शब्दों का अर्थ विद्यमान हो तो वह भिन्न होना चाहिए परन्तु यदि अर्थ न हो तो भी यमक होगा ही। तृतीय वर्ग के इन आचार्यों ने यमक के सम्बन्ध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात कही है कि वर्णों की आवृत्ति उसी क्रम से होनी चाहिए भिन्न क्रम से नही। पूर्ववर्ती आचार्यों में वामन और रूद्रट ने भी स्थान नियम अथवा क्रम की बात कही है किन्तु इन दोनों आचार्यों ने निरर्थक वर्णों की आवृत्ति के विषय में कुछ नहीं कहा है अतएव इनके द्वारा दिये गये लक्षण यमक की समुचित व्याख्या नहीं करते हैं। मम्मट आदि आचार्यो द्वारा दी गई यमक परिभाषायें ही यमक अलङ्कार का सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत करती हैं।

यमक अलङ्कार के भेद :-

आचार्य भरतमुनि ने यमक के दस भेद बताये हैं।

1. पादान्त यमक 2. काञ्ची यमक, 3. समुद्ग यमक 4. विक्रान्त यमक 5 चक्रवालयमक 6. संदष्टयमक , 7. पादादियमक, 8. आम्रेडित यमक, 9. चतुर्व्यवसित यमक तथा 10. मालायमक। भरतमुनि ने इन भेदों का कोई आधार न बताकर स्वतन्त्ररूप से इनका वर्णन किया है। तथा इन्हें नाटकाश्रित यमक का भेद कहा है।[1] भामह ने यमक के पाँच भेद माने हैं - 1. आदि यमक, 2. मध्यान्त यमक, 3. पादाभ्यास यमक, 4. आवलीयमक एवं समस्तपाद यमक भरतमुनि द्वारा निर्दिष्ट दस भेदों का भामह ने इन्हीं पाँच में अन्तर्भाव बतलाया है। रूद्रट ने यमक की विस्तारपूर्वक विवेचना प्रस्तुत की है , इन्हीं का अनुसरण करते

---

1. पादान्तयमकश्चैव काञ्चीयमकमेव च।
समुद्गयमकञ्चैव विक्रान्तयमकन्तथा॥
यमकं चक्रवालञ्च संदष्टयमकं तथा।
पादादियमकञ्चैव तथा म्रेडितमेव च॥
चतुर्व्यवसितञ्चैव मालायमकमेव च।
एतद्दशविधं ज्ञेयं यमकं नाटकाश्रयम्॥ - नाट्यशास्त्र 17/61-63

हुए आचार्य मम्मट ने भी सक्षेप में यमक के भेदो का निरूपण किया है । इनके अनुसार सर्वप्रथम यमक के दो भेद हैं – 1. पादावृत्ति 2. पादभागावृत्ति ।[1] ये दोनो भद रूद्रट के समस्तपादगत और एकदेशगत भेदों के ही नामान्तर हैं । पादावृत्ति के ग्यारह भेद माने है जो कि रूद्रट के द्वारा वर्णित समस्तपादगत यमक के ग्यारह भेदो के ही समान है परन्तु मम्मट ने इन ग्यारह भेदों को मुख आदि कोई अलग नाम नहीं दिया गया है । पादभागावृत्ति के सम्बन्ध में मम्मट ने कहा है कि पाद को दो भागों मे विभक्त कर के प्रथमादि के पादादिभाग द्वितीयादि के पादादि भागों में तथा अन्तिम भाग में आवृत्त होने पर बीस भेद होंगे । पाद के तीन खण्ड करने पर तीस भेद और चार खण्ड करने पर चालीस भेद होंगे ।[2] अतएव मम्मट ने यमक के भेदप्रपञ्चों को काव्य के रसास्वादन में एक गॉठ के समान मानते हुए इसके भेदों के लक्षण नहीं किये हैं ।

<u>उदाहरण :–</u>

इति रतिपरिणेतुरन्तरङ्गीं कुसुममये समये वहत्यभिख्याम् ।
स्फटिकशिखरिणः श्रियं दिदृक्षुर्निरगमदद्रिसुतासखः सदेवः ।।[3]

प्रस्तुत श्लोक में यमक अलंकार हैं । यहॉ पर कुसुममये समये मे पुनरावृत्ति हुई है । इस पद्य का अर्थ है काम के अनुकूल शोभा को वसन्त के धारण करने पर कैलाश की शोभा देखने के लिए भगवान् शिवजी पार्वती के साथ निकल पड़े ।

4. **<u>श्लेष अलङ्कार :–</u>**

'श्लेष' शब्द 'शिलष' धातु से बना है जिसका अर्थ है – चिपका हुआ

---

1. पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम् ।। का0प्र0 कारिका 83
2. "द्विधा विभक्ते पादे प्रथमादिपादादिभागः पूर्ववद् द्वितीया ।
दिपादादिभागेषु, अन्तभागोऽन्तभागेष्विति विंशतिर्भेदाः ।
त्रिखण्डे त्रिंशत् चतुःखण्डे चत्वारिंशत् ।"
3. श्रीकण्ठ 0 7/1

इस अलड्.कार मे ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जिनमें एक से अधिक अर्थ चिपके रहते है। श्लेष का अलड्.कार के रूप में सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया है। इनसे पूर्ववर्ती भरत ने श्लेष की गणना "गुण" में की थी। आचार्य भामह ने श्लेष के लक्षण में उपमान एवं उपमेय की तादात्म्यसिद्धि पर विचार करते हुए कहा कि गुण् क्रिया तथा नाम के द्वारा उपमान का उपमेय के साथ अभेद -- स्थापन ही श्लेषालड्.कार है।[1] किन्तु उपमान उपमेय की अभेद कल्पना तो रूपक अलड्.कार में भी होती है, अतः उसके निराकरण के लिए भामह कहते हैं श्लेष में उपमान तथा उपमेय का एक साथ प्रयोग अभीष्ट होता है।[2] अर्थात् उपमान--उपमेय के धर्म का कथन एक ही शब्द द्वारा होता हे जबकि रूपक में पृथक्-पृथक् शब्दों द्वारा उन दोनों का कथन होता है। भामह ने श्लेष का आधार शब्द और अर्थ दोनो को माना है किन्तु इस अलड्.कार का विवेचन अर्थालड्.कार के अन्तर्गत किया है। वे श्लेष को स्वतन्त्र अलड्.कार मानकर कुछ अर्थालड्.कार का निर्देशक मानते है। आचार्य दण्डी ने श्लेष के लक्षण में उपमानोपमेयभाव का उल्लेख नहीं किया है। इन्होंने एक रूप से स्थित वाक्य के द्वारा अनेकार्थप्रतिपादन में श्लेष माना है तथा उसके दो भेद किये हैं -- अभिन्नपद और भिन्नपद।[3] दण्डी ने अर्थद्वयप्रतीति--जनक श्लेष को प्रधानतया अर्थसापेक्ष देखकर केवल अर्थालड्.कार ही माना है। उद्भट के अनुसार एक प्रयत्नोच्चार्यमाण तथा उसकी छाया धारण करने वाले शब्दों के भिन्नस्वरितादि गुणबन्ध को श्लेष कहा जाता है। वे यह भी कहते हैं कि जहॉ श्लेष का अवसर होता है वहॉ अन्य अर्थालड्.कारों की प्रतिभा अवश्य उत्पन्न होती है, अतः यदि श्लेष

---

1. "उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते।
   गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तदभिधीयते।। काव्यालड्.कार 3/14

2. "लक्षणं रूपकेऽपीदं लक्ष्यते काममत्र तु।
   इष्टःप्रयोगो युगपदुपमानोपमेययोः।।" वही 3/15

3. श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः।
   तदभिन्नपदं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा।। काव्यादर्श 2/310

के अवसर में अन्य अलङ्.कार प्राप्त हो तो वे अन्य अलङ्.कार वहाँ लागू नही होते क्योंकि दूसरे अलङ्.कारों को श्लेषातिरिक्त विषयों में लागू होने का अवसर मिल जाता है । इस प्रकार अर्थश्लेष और शब्द श्लेष दोनो की विशिष्ट प्रतीति होती है ।[1] आचार्य वामन ने इस विषय में कोई नया तथ्य न देकर भामह के मत का ही समर्थन किया है ।[2]

रूद्रट ने श्लेष का विवेचन दो स्थानों पर किया है । शब्द श्लेष का वर्णन शब्दालङ्.कार के प्रकरण में तथा अर्थश्लेष का वर्णन अर्थालङ्.कार प्रकरण में है किन्तु इन्होंने शब्दालङ्.कार तथा अर्थालङ्.कार के विभाजक तत्त्व के विषय में कुछ नहीं कहा शब्द श्लेष की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं कि अर्थ बताने में समर्थ, श्लिष्ट, अक्लिष्ट तथा विविध पदों की सन्धि से युक्त, एक ही प्रयत्न से उच्चारणीय अनेक वाक्यों की जहाँ रचना की जाती है उसे श्लेष कहते हैं ।[3] उन्होंने इसके आठ भेद माने हैं । वर्ण, पद, लिङ्.ग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन इनके भेद से यह आठ प्रकार का होता है ।[4] अर्थश्लेष का लक्षण देते हुए कहते हैं कि जहाँ अनेकार्थक पदों द्वारा रचा गया एक वाक्य अनेक अर्थों की प्रतीति कराता है वह अर्थश्लेष है ।[5] इन्होंने अर्थालङ्.कार का विभाजन चार वर्गों में किया है जिनमें से चौथा वर्ग श्लेष वर्ग है । इसी श्लेषवर्ग

---

1. एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव विभ्रताम् ।
   स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते ।।
   अलङ्.कारान्तगतां प्रतिभां जनयत्पदैः ।
   द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत्प्रतीयताम् ।। काव्यालङ्.कारसार सङ्.ग्रह 4/9–10

2.क स च धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेषः । काव्यालङ्.कार सूत्र 4/3/7

ख उपमानोपमेयस्य धर्मेषु गुणक्रियाशब्दरूपेषु स तत्त्वारोपः । वहीं वृत्ति भाग 4/3/7

3. वक्तुं समर्थमर्थं सुश्लिष्टांक्लिष्ट विविधपद सन्धि ।
   युगपदनेकं वाक्यं यत्र विधीयते स श्लेषः ।। काव्यालङ्.कार 4/1

4. वर्णपदलिङ्.ग भाषा प्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानाम् ।
   अत्रायं मतिमदभिर्विधीयमानोऽष्टधा भवति ।। तत्रैव 4/2

5. यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन् ।
   अर्थे कुरूते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः ।। तत्रैव 10/2

को अर्थश्लेष मानकर इसके अन्तर्गत दस अर्थालङ्कारों का वर्णन किया है ।[1] इनके द्वारा दिये गये श्लेष के उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभङ्ग श्लेष को शब्दश्लेष और अभङ्गश्लेष को अर्थश्लेष कहते हैं ।

आचार्य मम्मट के समय तक श्लेष अलङ्कार का स्वरूप निश्चित हो गया । उन्होंने स्पष्टरूप से शब्दश्लेष को शब्दालङ्कार तथा अर्थश्लेष को अर्थालङ्कार माना है । उनके अनुसार 'अर्थभेद के कारण भिन्न-भिन्न होकर भी जहाँ शब्द एक उच्चारण का विषय होते हुए श्लिष्ट (एक रूप) प्रतीत होते हैं वह श्लेष अलङ्कार हैं ।[2] यह शब्द श्लेष का लक्षण है । अर्थश्लेष को परिभाषित करते हुए मम्मट कहते हैं कि अर्थश्लेष वह है जहाँ एक ही वाक्य में अनेक अर्थ प्रकट हों अर्थात् एक ही अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के जहाँ अनेक अर्थ हो जायें ।[3] रूय्यक ने उद्भट के विवेचन के आधार पर शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष दोनों को अर्थालङ्कार माना है ।[4]

आचार्य मम्मट ने उद्भट् रूय्यक प्रभृति आचार्यों के पूर्वोक्त मत का प्रबल युक्तियों द्वारा खण्डन किया है । वे कहते हैं कि गुण, दोष तथा अलङ्कार आदि की शब्द निष्ठता या अर्थनिष्ठता की कसौटी केवल अन्वय व्यतिरेक ही है । यदि किसी शब्द विशेष के रहने पर ही किसी गुण, दोष या अलङ्कार की सत्ता रहती है तथा उस शब्द को बदल कर उसी के समानार्थी दूसरे शब्द को रख देने से उस दोष, गुण, अलङ्कार की सत्ता न रहे तो निश्चित रूप से वह दोष, गुण या अलङ्कार केवल उस "शब्द" के ही आश्रित

---

1. अविशेषविरोधाधिक वक्रव्याजोक्त्यसंभवावयवाः ।
   तत्त्वविरोधाभासाविति भेदास्तस्य शुद्धस्य ।। तत्रैव 10/2
2. वच्यभेदेन भिन्न यद् युगपद् भाषणस्पृशः ।
   श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषो .... ।। का0प्र0 कारिका – 84
3. श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत् । का0प्र0 कारिका 96
4. "शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति द्विविधोऽप्यर्थालङ्कारमध्ये --
   परिगणितोऽन्यैरिति" -- का0 प्र0 वृत्ति भाग 85

है अतः उस दोष, गुण या अलड्.कार को शब्दनिष्ठ माना जायेगा । इसी प्रकार जहाँ किसी शब्द विशेष को हटाकर उसके समानार्थी शब्द का प्रयोग करने पर भी उस दोष, गुण तथा अलड्.कार की सत्ता पूर्ववत् बनी रहती है वहाँ उन अलड्.कारादि को शब्दनिष्ठ न मानकर अर्थनिष्ठ माना जायेगा और उनकी गणना अर्थालड्.कारादि में की जायेगी ।[1] वामनादि द्वारा शब्दश्लेष को भी अर्थालड्.कार मानने पर आपत्ति करते हुए मम्मट कहते हैं कि शब्दश्लेष को आप नाम से तो शब्दश्लेष कहते हैं और अर्थालड्.कारों मे गिनते हैं यह कैसा सिद्धान्त है ?[2]

रूय्यक ने उद्भट के पदचिह्नो पर चलते हुए श्लेष को अन्य अलड्.कारों का बाधक माना है । उनका तर्क है कि श्लेष का ऐसा कोई स्थल नहीं है जिसमें केवल श्लेष माना जा सके । इसलिए जहाँ अन्य अलड्.कारों के साथ श्लेष उपस्थित हो वहाँ अन्य अलड्.कार श्लेष से बाधित मानने पड़ते हैं तथा श्लेष स्थल में उनके अस्तित्व का आभासमात्र स्वीकार करना पड़ता है ।[3] आचार्य मम्मट ने रूय्यक आदि के इस मत का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है । उनके मत में श्लेष भी अन्य अलड्.कारों से रहित स्वतन्त्ररूप से रह सकता है । उदाहरणस्वरूप वे एक श्लोक प्रस्तुत करते जिसमें उपमा आदि से रहित श्लेष की स्वतन्त्र स्थिति है ।[4]

देव ! त्वमेव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम् ।
त्वं चामरमरूद्भूमिरेको लोकत्रयात्मकः ।।

---

1. इह दोष गुणालड्.काराणां शब्दार्थगतत्त्वेन यो विभागः सः अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते । तथाहि कष्टत्वादि गाढत्वाद्यनुप्रासादयः, व्यर्थत्वादिप्रोढ्याद्युपमादयः तद्भाव तद भावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते ।' का0प्र0 वृत्ति 85
2. शब्दश्लेष इति चोच्यते अर्थालड्.कारमध्ये च लक्ष्यते इति कोऽयम् नयः? तत्रैव वृत्तिभाग 85
3. "नास्ति विविक्तोऽस्य विषयः । अतएवालड्.कारान्तराणां बाधित्वात् प्रतिभानमात्रेणावस्थानम् ।
– अलड्.कार सर्वस्व सूत्र 35
4. 'श्लेषस्य चोग्रमाद्यलड्.कार विविक्तोऽस्ति विषयः । का0प्र0वृत्ति 85

मम्मट के अनुसार जहाँ उपमा, विरोधाभास इत्यादि अन्य अलड़्कारों के साथ श्लेष की स्थिति होती है वहाँ वे उपमा आदि अन्य अलड़्कार ही मुख्य होते हैं और वे श्लेष के गौणरूप से प्रतीतिमात्र के हेतु होते हैं ।[1] इस प्रकार श्लेष अन्य अलड़्कारों का बाधक नही है अपितु अन्य अलड़्कार ही श्लेष के बाधक हैं ।

आचार्य मम्मट ने अक्षर आदि के भेद से आठ प्रकार के श्लेष माने हैं – 1. वर्ण श्लेष या अक्षर श्लेष 2. पदश्लेष 3. लिड़्गश्लेष 4. भाषा श्लेष 5. प्रकृतिश्लेष 6. प्रत्ययश्लेष 7. विभक्तिश्लेष 8. वचन श्लेष ।[2] ये आठ भेद सभड़्गश्लेष के हैं तथा आचार्य रूद्रट द्वारा बतलाये गये शब्द श्लेष के आठ भेदों के समान ही है । प्रकृति, प्रत्यय आदि का भेद न होने पर 'अभड़्गश्लेषरूप' श्लेष का नवम् भेद भी मम्मट ने स्वीकार किया है ।[3]

श्लेष के ये सभी नौ भेद मम्मट ने शब्दालड़्कार रूप श्लेष के माने हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य रूद्रट ने अभड़्गश्लेष को अर्थश्लेष माना है क्योकि उन्होंने अर्थश्लेष रूप श्लेष वर्ग के अन्तर्गत जिन दस अलड़्कारों के उदाहरण दिये हैं वे सब अभड़्गश्लेष के उदाहरण ही हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थ "श्रीकण्ठचरितम्" में महाकवि मंखक ने शब्दश्लेष का ही प्रयोग किया है –

---

1 'तदेवमादिषु वाक्येषु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरलड़्कारान्तरमेव।' का0प्र0 वृत्ति 85

2. "स च वर्णपदलिड़्गभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्ति वचनानां भेदाष्टधा ।' का0प्र0वृत्ति 84

3. भेदा भावात्प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत्

का0 प्र0 कारिका 85

भवतोज्झित एव विग्रहः सुमनोमार्गणपूरणैषिणा ।
तव नाथ तथाप्ययं कथं परबाधाय मुधैव दुर्ग्रहः ।।[1]

उक्त पद्य में शब्द श्लेष प्राप्त है ।

देवयाचकों की इच्छा तथा स्वपुष्पशरों को पूर्ण करने की इच्छा वाले आपके द्वारा स्वशरीर एवं अन्यों से विरोध तो पूर्व ही त्यागे जा चुके हैं । अब पुनः दूसरों को बाधा देने का आपका यह दुराग्रह कैसा है ।

द्विजाधिराजेन गवां प्रसादात्प्रतिक्षयं कारित भूमिसेकः ।
पान्थ प्रियाणामृतचक्रवर्ती नेत्रेष्ववग्राहमपाचकार ।।[2]

प्रस्तुत श्लोक में सभङ्.ग श्लेष है । वसन्त और चक्रवर्ती अभिधेय हैं । एक अर्थ है – वसन्त ऋतु चक्रवर्ती ने चन्द्र के द्वारा किरणों से भूमि को आप्लावित करवाकर, प्रोषित भर्तृकाओं की आँखों में बन्द वर्षा अर्थात् अश्रुप्रवाह को दूर कर दिया, उन्हे रूला दिया । दूसरा अर्थ – चक्रवर्ती राजा ने ब्राह्मण के द्वारा गायों के दूध से भूमि को आप्लावित करवाकर वर्षा के प्रतिबन्ध को दूर कर दिया ।

(छ) **शब्दालङ्.कार का प्रयोग एवं समीक्षा :–**

प्रस्तुत ग्रन्थ में महाकवि मङ्.खक ने शब्दालङ्.कारों का प्रयोग कम किया है। यमक अलङ्.कार मात्र एक स्थान में प्राप्त है । वक्रोक्ति अलङ्.कार का प्रयोग भी अत्यल्प किया है । अनुप्रास और श्लेष अलङ्.कार का सर्वाधिक प्रयोग किया है । श्लेष अलङ्.कार

---

1. श्रीकण्ठ0 12/21
2. श्रीकण्ठ0 6/23

का प्रयोग कवि ने अपने पाण्डित्यप्रदर्शन के लिए ही किया है । अनुप्रास अलङ्कार का कही कहीं सहज स्वाभाविक प्रयोग दृष्टि गोचर होता है । जिससे काव्य सहज सरस हो जाता है । "श्रीकण्ठचरितम्" में प्रयुक्त शब्दालङ्कार काव्यशाभा की वृद्धि तो करत ही है, काव्य मे उन अलङ्कारों का अपना अलग महत्त्व है । जबकि महाकवि मङ्खक ने अर्थालङ्कारों का प्रयोग अत्यधिक किया है । अर्थालङ्कार शब्दालङ्कारों की अपेक्षा अधिक आह्लादकारी तथा चित्ताकर्षक होते हैं इसलिए काव्य म शब्दालङ्कारां की अपेक्षा उनका महत्त्व अधिक होता है ।

(ज) <u>प्रस्तुत महाकाव्य में अर्थालङ्कार</u>

1. <u>उपमालङ्कार :-</u>

उपमा अलङ्कार सर्वाधिक प्राचीन है । ऋग्वेद मे उपमा के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं । 'उपमा' शब्द योगरूढ़ है । यह 'उप' उपसर्गपूर्वक माङ् (मा) धातु (माङ् गमाने) के योग से बना है जिसका अर्थ है – 'उप समीपं मीयते ऽनया इति उपमा' अर्थात् समीप से की गई माप या तुलना । इसमें दो पदार्थों की समीप से तुलना करके उनमें सादृश्य स्थापित किया जाता है । किन्तु यह सादृश्य या समानता चमत्कार जनक होनी चाहिए आचार्य वामन ने सौन्दर्य को ही अलङ्कार माना है ।[1] अतः हृदयग्राही सुन्दर सादृश्य को ही उपमा कहा जा सकता है । अनेक आचार्यों ने उपमा को कई अर्थालङ्कारों का मूल बताया है और अर्थालङ्कारों के प्रसंग में सबसे पहले उपमा का ही विवेचन किया है । आचार्य वामन ने सभी साधर्म्यमूलक अलंकारों को उपमा का ही प्रपञ्च कहा है ।[2] उनके अनुसार उत्कृष्ट गुण वाली जिस वस्तु से अन्य वस्तु सादृश्य को पहुँचायी जाती है वह उपमान

---

1. सौन्दर्यमलङ्कारः । काव्यालङ्कार सूत्र 1/1/2
2. प्रतिवस्तुप्रभृतिरूपमाप्रपञ्चः । काव्यालङ्कार सूत्र 4/3/1

कहलाती है और न्यूनगुण वाली जो वस्तु उपमित होती है वह उपमय कहलाती है ।[1] अतएव गुण की दृष्टि से उपमान उत्कृष्ट होता है तथा उपमेय हीन हाता है ।

आचार्य भरतमुनि ने उपमा के सम्बन्ध में लिखा है कि. काव्य बन्ध में सादृश्य के कारण गुण और आकृति के आश्रय से जो तुलना की जाती है उसे उपमा कहते हैं ।[2] इस प्रकार नाट्यशास्त्र मे गुणाकृति के आधार पर केवल सादृश्य को उपमा माना गया है आचार्य दण्डी ने नाट्यशास्त्र के आधार पर ही उपमा की परिभाषा देते हुए कहा कि जहाँ पर जिस किसी प्रकार से गुण एवं क्रिया आदि के द्वारा सादृश्य की प्रतीति हाती है उस उपमा कहते हैं ।[3] इस प्रकार दण्डी ने भी उपमा के क्षेत्र को अनशिचत ही रखा है ।

अग्निपुराण में सादृश्य अलङ्कार के अन्तर्गत उपमा का विवेचन किया गया है । इसके अनुसार जहाँ उपमान और उपमेय की समानता में अन्तर होते हुए भी उनकी सदृशता का उल्लेख होता है उसे उपमा कहते हैं । इसमें उपमान और उपमेय में किञ्चित सादृश्य के प्रदर्शन में ही लोकव्यवहार का प्रवर्तन किया जाता है ।[4] अग्निपुराण में उपमा का जो स्वरूप वर्णित है, लगभग वही स्वरूप परवर्ती आचार्यों ने थोडे बहुत अन्तर के साथ प्रस्तुत किया है । आचार्य भामह के अनुसार देश काल एवं क्रिया आदि के कारण भिन्न होने पर भी उपमेय का उपमान के साथ गुण लेश से जो साम्य होता है उसे उपमा कहते

---

1. उपमीयते सादृश्यमानीयते येनोप्कृष्टगुणेनान्यत् तदुपमानम् ।
   यदुपमीयते न्यूनगुणं तदुपमेयम् । – तत्रैव वृत्तौ 4/2/10
2. यत्किञ्चित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते ।
   उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ।। नाट्यशास्त्र 17/44
3. यथा कथञ्चित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते ।
   उपमा नाम सा ...." काव्यादर्शे 2/14
4. उपमा नाम सा यस्यामुपमानोपमेययोः ।
   सत्ता चान्तरसामान्ययोगित्वेऽपि विवक्षितम् ।।
   किञ्चिदादाय सारूप्यं लोकयात्ता प्रवर्तते । – अग्निपुराण 344/6.7

है ।[1] अतः भामह के मत में गुण लेश के साम्य से ही उपमा होती है । दो पदार्थ सभी प्रकार से समान नहीं हो सकते हैं । उपमेय में उपमान से दश, काल, क्रिया आदि के कारण भिन्नता होती है , अतः इन दोनों में थोड़ी सी भी समानता होने पर उपमा होती है । उद्भट ने भामह से प्रभावित होकर उपमा का लक्षण दिया है । उद्भट के अनुसार उपमा अलड्.कार में वह चेतोहारी सादृश्य उपमेय तथा उपमान के बीच होता है जिसके देश काल, जाति, गुण, क्रिया आदि परस्पर भिन्न होते हैं ।[2] इन्होंने 'चेतोहारित्व' या चमत्कार को उपमा के लिए आवश्यक बताकर एक नवीन विचार दिया । आचार्य वामन ने भी भामह के मत का अनुसरण करते हुए कहा कि गुण के लेश से उपमान के साथ उपमेय का साम्य उपमा है ।[3] आचार्य वामन के अनुसार उपमा में उपमान को अधिक गुणशाली तथा उपमेय को न्यूनगुण शाली होना चाहिए ।[4]

कुन्तक ने उद्भट की भाँति मनोहारित्व को उपमा के लिए आवश्यक बतलाया और वामन की भाँति उपमान को उत्कृष्टगुण वाला होना आवश्यक बतलाया ।[5]

आचार्य रूद्रट ने औपम्य–वर्ग के अन्तर्गत सबसे पहले उपमा का विवेचन किया है । इनके अनुसार उपमान और उपमेय में समान गुण, संस्थान आदि की जिस प्रकार उपमान में सिद्धि एवं प्रतीति होती है उसी प्रकार से उपमेय में सिद्ध होने पर उपमा होती है ।[6]

---

1. विरूद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः ।
   उपमेयस्य त्साम्यं गुणलेशेन सोपमा ।। काव्यालड्.कार 2/30
2. यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः
   मिथोविभिन्नका[illegible]दिशब्दयोरूपमा तु तत् ।। काव्यालड्.कार सारसंग्रह 1/15
3. उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा । काव्यालड्.कार सूत्र 4/2/1
4. उपमीयते येनोत्कृष्टगुणेनान्यत्तदुपमानम् । यदुपमीयते न्यूनगुणं तदुपमेयम्
   --काव्यालड्.कार सूत्रवृत्ति 4/2/1
5. विवक्षित परिस्पन्दमनोहारित्वसिद्धये ।
   वस्तुन केनचित् साम्यं तदुत्कर्षवतोपमा ।। वक्रोक्तिजीवित 3/28
6. उभयोः समानमेकं गुणादिसिद्धं भवेद्यथैकत्र ।
   अर्थेऽन्यत्र तथा तत्साध्यत इति सोपमा ।। काव्यालड्.कार 8/9

इस प्रकार रूद्रट ने उपमा के स्वरूप में गुणादिसिद्धि समान को महत्त्व प्रदान करके एक नवीन विचार दिया। यहाँ गुणादि का अभिप्राय गुण संस्थानादि है।

आचार्य मम्मट के समय तक उपमा का स्वरूप उपर्युक्त प्रकार से वर्णित हो चुका था। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों को एकत्र करके उपमा का लक्षण प्रस्तुत किया – उपमान तथा उपमेय का भेद होने पर उनमें साधर्म्य का वर्णन उपमा है।[1] यह लक्षण संक्षिप्त होते हुए भी अपने आप में पूर्ण है। इसमें भामह एवं उद्भट के विचारों का सार है। इसमें भामहोक्त 'देशकालक्रियादिविरोध' एवं उद्भट द्वारा वर्णित 'मिथोविभिन्नकालादि' का भाव 'भेद' शब्द में समन्वित है। मम्मट के मत में उपमान और उपमेय का ही साधर्म्य होता है, कार्य–कारण आदि का नहीं, इसलिए उनका ही समान धर्म से सम्बन्ध उपमा कहलाता है।[2] उपमा के इस लक्षण को "भेद" शब्द का ग्रहण उसे अनन्वय अलङ्कार से पृथक करने के लिए है।[3] आचार्य विश्वनाथ ने एक ही वाक्य में दो पदार्थो के वैधर्म्यरहित वाच्यसादृश्य को उपमा कहा है।[4] इस परिभाषा के द्वारा उन्होंने उपमा को रूपक, व्यतिरेक, उपमेयोपमा तथा अनन्वय अलङ्कार से पृथक सिद्ध किया है।[5] रूपक में साम्य वाच्य न होकर व्यङ्ग्य होता है, व्यतिरेक में साम्य के साथ साथ वैधर्म्य का कथन भी होता है, उपमेयोपमा में दो वाक्यों में साम्य का प्रतिपादन होता है और अनन्वय में साम्य एक ही वस्तु में वर्णित होता है। अतएव

---

1. साधर्म्यमुपमा भेदे ....। का0प्र0 कारिका 87
2. "उपमानोपमेययोरेव न तु कार्यकारणादिकयोः साधर्म्य भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा।" का0प्र0 कारिकावृत्ति भाग 87
3. भेदग्रहणमनन्वयव्यवच्छेदाय।" तत्रैव कारिका वृत्तौ 87
4. साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः। सा0द0 10/14
5. रूपकादिषु साम्यस्य व्यङ्ग्यत्वम् व्यतिरेके च वैधर्म्यस्याप्युक्तिः, उपमेयोपमायां वाक्यद्वयम्, अनन्वये त्वेकस्यैव साम्योक्तिरित्यस्या भेदः। तत्रैव 10/14

उपमा का स्वरूप इन सभी अलङ्कारों से भिन्न है । पण्डितराज जगन्नाथ ने वाक्य के अर्थ को सुशोभित करने वाले सुन्दर सादृश्य को उपमा कहा है ।[1] यहॉ सौन्दर्य से अभिप्राय चमत्कृत्याधायकत्व है ।[2] चमत्कृत्याधायकत्व की बात इनके पूर्व उद्भट और कुन्तक ने भी कही है ।

इस प्रकार इन सभी आचार्यों ने दो भिन्न वस्तुओं के समान गुणो क वर्णन को उपमा कहा तथा उपमा का मूल सादृश्य या साधर्म्य को माना है । सादृश्य एवं साधर्म्य में कोई भेद नहीं है किन्तु परवर्ती आचार्य इन दोनों में अन्तर मानते है । काव्य प्रकाश के टीकाकार नागेशभट्ट के अनुसार उपमान और उपमेय का परस्पर सादृश्य उनका एक धर्म विशेष है, जो उनके साधारण धर्म के कारण है ।[3] सादृश्य शब्द की व्युत्पत्ति है – 'समाना दृक (दर्शनं) ययोस्तौ.. सदृशौ तयोभविः सादृश्यम्' और "साधर्म्य" शब्द की व्युत्पत्ति है – 'समाना धर्मो ययोस्तौ सधर्मौ तयोर्भावः साधर्म्यं " । अतएव सादृश्य एवं साधर्म्य दोनों प्रतीतितत्त्व पर ही निर्भर हैं । विषयगत दृष्टि से प्रतीति होने वाला साम्य साधर्म्य है और विषयिगत दृष्टि से प्रतीत होने वाला साम्य सादृश्य है । वास्तव में विषयगत साधर्म्य ही विषयी को सादृश्य के रूप में प्रतीत होता है । प्रतीहारेन्दुराज ने कहा है कि समानधर्म सम्बन्धरूप साधर्म्य वस्तु को सादृश्य के द्वारा सहृदय तक पहुँचाता है ।[4] इस प्रकार साधर्म्य में ही सादृश्य अन्तर्भूत है तथा इन दोनों में कोई भेद नहीं है ।

उपमा अलङ्कार के चार अङ्ग हैं – उपमान् , उपमेय, साधारण धर्म और वाचक शब्द । जिसमें साधारण धर्म प्रसिद्ध हो अथवा जिससे उपमा दी जाये वह उपमान

---

1. सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालङ्कृतिः । रसगङ्गाधर पृ0 204
2. सौंदर्यं चमत्कृत्याधायकत्वम् – तत्रैव
3. "सादृश्यं च साधारण धर्मसम्बन्ध प्रयोज्यो धर्मविशेषः " उद्योत
4. उपमानोपमेययोः यत्साधर्म्यं समानो धर्मः तेन सम्बन्धो यः सा
   उपमानोपमेययोः सादृश्यद्वारेण सामीप्यपरिच्छेदहेतुत्वादुपमा ।
   – काव्यालङ्कारसारसंग्रह की प्रतीहारेन्दुराजकृत टीका का अंश

है और जिसमें साधारण धर्म का वर्णन करना हो वह उपमेय कहलाता है । उपमान एवं उपमेय में जो समान धर्म रहता है और जिसके कारण दोनों को उपमित किया जाता है, उसे साधारण धर्म कहते हैं । जिस शब्द से समानता की प्रतीति होती है वह वाचक शब्द कहलाता है । यथा – 'कमलमिव मुखं मनोज्ञम्" इस वाक्य में मुख की उपमा कमल से दी गई है । कमल की मनोज्ञता प्रसिद्ध है । मनोज्ञत्व धर्म के सम्बन्ध के कारण ही मुख की कमल से उपमा दी गई है अतएव यहाँ पर 'मनोज्ञत्व' साधारणधर्म है । वह कमल में प्रसिद्ध है और यहाँ कमल से ही उपमा दी जा रही है इसलिए "कमल" उपमान है । मुख में साधारणधर्मरूप मनोज्ञता का वर्णन होने से "मुख" उपमेय है । "इव" शब्द के द्वारा साधर्म्य की प्रतीति होने से "इव" उपमा वाचक है ।

उपमा के भेद :–

आचार्यों ने उपमा के अनेकानेक भेदों का निरूपण किया है । आचार्य भरत ने उपमा के पाँच भेदों का उल्लेख किया है – प्रशंसा, निन्दा, कल्पित, सादृशी एवं किञ्चित् सादृसी ।[1] उन पाँच भेदों का उल्लेख अग्निपुराण में भी मिलता है । इनके अतिरिक्त अग्निपुराण में धर्मोपमा, वस्तूपमा, परस्परोपमा इत्यादि अनेक उपमा – भेदों का निरूपण किया गया है ।[2] आचार्य दण्डी ने अग्निपुराण के आधार पर ही उपमा के वस्तुपमा, धर्मोपमा आदि अनेक भेद बताये हैं । रूद्रट ने उपमा के तीन प्रमुख भेद माने हैं – वाक्योपमा, समासोपमा और प्रत्ययोपमा । इनमें से वाक्योपमा के छः भेद तथा अन्य दोनों के एक एक प्रकार होते हैं ।[3]

---

1. नाट्यशास्त्र 17/49
2. अग्निपुराण 344/10–21
3. रूद्रट प्रणीत काव्यालङ्कार 8/4,5,17,23

उपमा के चार अङ्गों अर्थात् उपमान्, उपमेय, साधारण धर्म, और वाचक शब्द की दृष्टि से वामन, उद्भट, मम्मट एवं विश्वनाथ ने उपमा के दो मुख्य भेद माने हैं – पूर्णोपमा एवं लुप्तोपमा ।[1] जहाँ उपमा के चारों अंग उपस्थित होते हैं वहाँ पूर्णोपमा होती है और जहाँ इन चारों अंगों में से कोई एक भी लुप्त रहता है वहाँ लुप्तोपमा होती है । आचार्य मम्मट एवं विश्वनाथ ने पूर्णोपमा के छः भेद बताये हैं । पहले पूर्णोपमा के दो विभाग किये – श्रौती तथा आर्थी । फिर इन दोनों के तीन तीन विभाग किये – वाक्यगत, समासगत, एवं तद्धितगत । इस प्रकार कुल छः प्रकार की पूर्णोपमा इन दोनों आचार्यों ने बताई है ।[2] आचार्य मम्मट ने लुप्तोपमा के उन्नीस भेद बताये हैं । इस प्रकार छः प्रकार की पूर्णोपमा सहित मम्मट ने उपमा के पच्चीस भेद माने हैं ।[3] आचार्य विश्वनाथ ने इक्कीस प्रकार की लुप्तोपमा का निरूपण किया है, अतः छः प्रकार की पूर्णोपमा को मिलाकर उनके अनुसार कुल सत्ताइस प्रकार की उपमाऐं होती हैं ।[4]

प्रस्तुत ग्रन्थ में उपमा अलङ्कार के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

नर्मोक्तिमन्त्रमुखरः परिवेष्टयन्तीं
कंदर्पशेवधिसनाभिनितम्बबिम्बम् ।
कृष्णोरगीमिव ततो झटिति प्रियायाः
कस्मिन्मसाररसनास्रजमाचकर्ष ।।[5]

---

1. क काव्यालङ्कारसूत्र 4/2/4
   ख का0प्र0 10/87
2. क का0प्र0 10/87
   ख सा0द0 10/16,17
3. एवमेकोनविंशतिर्लुप्ताः पूर्णाभिः सह पञ्चविंशतिः ।
4. पूर्णा षड्विधा, लुप्ता चैकविंशतिविधेति मिलित्वा सप्त विंशति प्रकारोपमा । सा0द0 वृत्ति भाग 10/23
5. श्रीकण्ठ0 15/16

प्रस्तुत श्लोक में कृष्णोरगी उपमान है, मसाररशना उपमेय है, परिवेष्टयन्ती साधारण धर्म और इव यह उपमावाचक शब्द है। यह श्रौती उपमा का उदाहरण है

स किल्बिषं प्लुष्यतु वः शराग्निरूमापते रौर्व इव द्वितीयः
यो दानवस्मेरदृशां गणस्य बाष्पाम्बुपूरस्य न तृप्यति स्म ।।[1]

प्रस्तुत श्लोक में भी श्रौती उपमा प्राप्त है जो कि इस पद्य के अभिप्राय से स्पष्ट है द्वितीय बणवाग्नि सी वह शिव शराग्नि आपके पापों को भस्मसात करे जो दैत्य स्त्रियों के अश्रुसागर से कभी तृप्त नहीं होती थीं।

न्यस्तानि मन्मथरसालसमङ्.गनाभि –
र्यूनां तनूषु बभुरार्द्रनखक्षतानि ।
श्रृङ्.गारमत्तकरिणो गलिताः कवाट
सिन्दूरराजय इवालुलिता मदेन ।।[2]

उक्त पद्य में सिन्दूरराजय उपमान है, आर्द्रनखक्षतानि उपमेय है, रत्यता आर्द्रीभाव साधारणधर्म तथा इव उपमावाचक शब्द है अतः उपमा अलङ्.कार प्रस्तुत है।

आपीय स श्रुतिमुखेन सुधांसनाभि
तन्नन्दिनों वचनमिन्दुकलाकिरीटः ।
देवीमवोचत दिशन्ददशनांशुपूरै
र्भूयोऽप्युपोढहिमतामिव दिङ्.मुखेषु ।।[3]

---

1. श्रीकण्ठ0 1/6
2. श्रीकण्ठ0 15/30
3. श्रीकण्ठ0 7/53

प्रस्तुत श्लोक में उपमागत आर्थी अलड्.कार का सौन्दर्य द्रष्टव्य है । यहाँ शशिशेखर नन्दी के उन अमृत के सदृश वचनों को श्रवणपुटों से पान करके पार्वती जी प्रसन्न हुई ।

रमणी चरणं दधत्यशोके सहसोदस्तमपि प्रसून खण्डम् ।
तरूणारूणरत्ननूपुरांशुस्तबकच्छन्नतनौ चिराद बोधि ।।[1]

यहाँ पर उपमा ध्वनि अलड्.कार है । किसी रमणी ने पादप्रहार से समुत्पन्न अशोक गुच्छों को स्वनूपुर मणियों की अरूणाभा के कारण बड़ी देर से जाना ।

महाकवि मंखक ने कुछ अन्य श्लोकों में भी उपमागत सौन्दर्य प्रस्तुत किया है – सप्तम सर्ग के 53वें श्लोक में , अष्टम सर्ग में 12वें, 15वें, 56वें श्लोक में उपमा अलड्.कार हैं ।

2. **उत्प्रेक्षा अलड्.कार :–**

"उत्" एवं "प्र" उपसर्ग पूर्वक "ईक्ष" धातु से उत्प्रेक्षा शब्द निष्पन्न होता है । वामन झलकीकर के अनुसार "उत्कट प्रकृष्टस्योपमानस्य ईक्षा ज्ञानमुत्प्रेक्षापदार्थः " अर्थात् प्रकृष्ट उपमान की उत्कट ईक्षा उत्प्रेक्षा कहलाती है । प्रस्तुत में अप्रस्तुत की सम्भावना करना उत्प्रेक्षा अलड्.कार कहलाता है । कुछ आचार्यों ने उत्प्रेक्षा में अतिशयतत्व की प्रधानता मानी है तथा कुछ आचार्यों ने सम्भावनातत्व की प्रधानता मानी है । आचार्य भामह एवं वामन ने उत्प्रेक्षा में अतिशयतत्व का प्रधान्य माना है । भामह के मतानुसार जिसमें सादृश्य

---

1. श्रीकण्ठ0 8/26

अविवक्षित हो परन्तु उपमा का आंशिक योग हो और साथ ही अतिशय के द्वारा भिन्न वस्तु के गुण एवं क्रिया रूपी धर्मों का सम्बन्ध भिन्न वस्तु में बताया जाये, वहाँ उत्प्रेक्षा होती है ।[1] वामन के मत में जो वस्तु वैसी अतद्रूप नहीं है, उसके अतिशय के लिए अपने स्परूप से भिन्न स्वभाव के अध्यवसाय में उत्प्रेक्षा होती है ।[2] आचार्य रूद्रट ने उत्प्रेक्षा का विवेचन दो स्थानों पर किया है – औपम्यमूलक अलड्.कारों के अन्तर्गत इन्होंने तीन प्रकार की उत्प्रेक्षाऐं मानी हैं । प्रथम उत्प्रेक्षा वह होती है जहाँ पहले तो उपमान और उपमेय का अतिशय सादृश्य के कारण अभेद बताया जाये और फिर उपमान का सद्भाव सिद्ध मानकर उपमान के धर्मो को उपमेय में आरोपित किया जाय ।[3] द्वितीय उत्प्रेक्षा वह होती है जिसमें उपमानगत अन्य उपमान के सादृश्य पर उपमेयगत अन्य उपमेय की सम्भावना की जाती है ।[4] तृतीय उत्प्रेक्षा वह होती है जहाँ शोभनत्व, अशोभनत्व आदि गुणों से युक्त वास्तविक पदार्थ में उसी प्रकार के किसी अवास्तविक पदार्थ की युक्ति के आधार पर सम्भावना की जाती है ।[5] रूद्रटोक्त इन तीन उत्प्रेक्षाओं में से पहली उत्प्रेक्षा अतिशयमूलक एवं अभेदमूलक है । दूसरी तथा तीसरी उत्प्रेक्षाऐं सम्भावनामूलक हैं । अतिशयमूलक अलड्.कारों के अन्तर्गत वर्णित और चौथी प्रकार की उत्प्रेक्षा में अतिशय तत्व तथा सम्भावनातत्व दोनों का ही प्राधान्य है । रूद्रट के अनुसार चतुर्थ प्रकार की उत्प्रेक्षा वह है जहाँ अतशिय के कारण किसी पदार्थ में असम्भाव्य क्रिया आदि की सम्भावना की जाती है या किसी पदार्थ में असम्भूत क्रिया आदि को सम्भूत बताया जाता है ।[6]

---

1. अविवक्षितसामान्या किञ्चिच्चोपमया सह ।
   अतद्गुणक्रिया योगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ।। – भामहप्रणीतकाव्यालड्.कार 2/91
2. अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा । काव्यालड्.कारसूत्र 4/3/9
3. अतिसारूप्यादैक्यं विधाय सिद्धोपमानसद्भावम् ।
   आरोप्यते च तस्मिन्नतद्गुणादीति सोत्प्रेक्षा ।। रूद्रटप्रणीतकाव्यालड्.कार 8/832
4. सान्येत्युपमेयगतं यस्यां संभाव्यतेऽन्यदुपमेयम् ।
   उपमानप्रतिबद्धापरोपमानस्य तत्त्वेन् ।। रूद्रटप्रणीतकाव्यालड्.कार 8/34
5. यत्र विशिष्टे वस्तुनि सत्यसदारोप्यते समं तस्य ।
   वस्त्वन्तरमुपपत्त्या संभाव्यं सापरोत्प्रेक्षा ।। तत्रैव 8/36
6. यत्रातितथाभूते संभाव्येत क्रियाद्यसंभाव्यम् ।
   सम्भूतमतद्वति वा विज्ञेया सेयमुत्प्रेक्षा ।। काव्यालड्.कार 9/11

आचार्य मम्म्ट, अप्पय दीक्षित, विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ इत्यादि परवर्ती आचार्यों ने उत्प्रेक्षा में सम्भावनातत्व का प्रधान्य माना है । मम्मट के अनुसार प्रकृत अर्थात् उपमेय की उपमानरूप से सम्भावना करना उत्प्रेक्षा है ।[1] आचार्य विश्वनाथ के मत में भी किसी प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत के रूप में सम्भावना करने को उत्प्रेक्षा कहते हैं ।[2] पण्डित राज जगन्नाथ ने उत्प्रेक्षा के विषय में कहा है कि जिस पदार्थ का भेद जिस पदार्थ में यथार्थरूप से ज्ञात हो उस पदार्थ की उस पदार्थ के रूप में दोनों पदार्थों में रहने वाले किसी सुन्दर धर्म को मूल मानकर की जाने वाली सम्भावना अथवा जिस धर्म का अभाव जिस पदार्थ में यथार्थतया ज्ञात हो उस पदार्थ में उस धर्म से युक्त होने की ऐसी सम्भावना जो उस धर्म के साथ रहने वाले किसी सुन्दर धर्म को निमित्त मानकर की गई हो, उत्प्रेक्षा कहलाती है ।[3] अप्पय दीक्षित ने उत्प्रेक्षा का स्थान वहाँ बताया है जहाँ प्रकृत (उपमेय) अपने से भिन्न पदार्थ (उपमान) के धर्म के सम्बन्ध से तद्रूप से तर्कित किया जाता है ।[4]

उत्प्रेक्षा के स्वरूप में निर्दिष्ट अतिशयतत्व अभेदपर्यवसायी है तथा सम्भावना तत्व संशयपर्यवसायी है । अभेद पर्यवसायी तो रूपक अलङ्कार भी होता है और उत्प्रेक्षा रूपक से भिन्न है । अतः इस विषय अर्थात् अतिशय एवं सम्भावना में समन्वय की स्थापना हेतु यह कहा जा सकता है कि उत्प्रेक्षा अलङ्कार में चमत्कार का प्रारम्भ अभेद से होता है तथा पर्यवसान संशय में होता है । यद्यपि संशय में पर्यवसान ससन्देहालङ्कार में भी होता है परन्तु वहाँ सन्देह के दोनों पक्ष बराबर होते हैं जबकि उत्प्रेक्षा में सन्देह उपमान की ओर झुका रहता है , उपमान पक्ष में सन्देह प्रबल होता है । काव्य प्रकाश के टीकाकार

---

1. सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परेण यत् । का० प्र०10/92
2. भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्यपरात्मना । सा०द० 10/40
3. तद्भिन्नत्वेन तद्भाववत्त्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्वृत्तितत्समानाधिकरणा–न्यतरतत्द्धर्मसम्बन्ध निमित्तकं तत्वेन तद्वत्वेन वा सम्भावनमुत्प्रेक्षा ।
   – रसगङ्गाधर, पृ0374 – 275
4. अन्यधर्मसम्बन्धनिमित्वेनान्यस्यान्यतादात्म्यसम्भावनमुत्प्रेक्षा । कुवलयानन्द 32

बालबोधिनीकार वामन झलकीकर ने सम्भावना को उत्कटकोटि का सन्देह कहा है । जिस संशय की दो कोटियों के मध्य में एक कोटि उत्कट या उत्कृष्ट हो वह संशय ही सम्भावना है ।[1] अतः उत्प्रेक्षालड्.कार में एक ही आधार में उपमेय एवं उपमान का बोध होने पर भी उनमे उपमान की उत्कटरूप में प्रतीति होती है । अत. उत्प्रेक्षा में उपमान का प्राधान्य निर्विवाद है ।

उत्प्रेक्षा अलड्.कार उपमा और रूपक के बीच का अलड्.कार है उपमा में उपमेय और उपमान में पूर्वतः पार्थक्य होता है तथा रूपक में पूर्णतः एकता होती है परन्तु उत्प्रेक्षा में उपमेय में उपमान की सम्भावना किये जाने के कारण दोनों में न तो पूर्णरूप से भेद रहता है और न पूर्ण अभेद होता है ।

उत्प्रेक्षा अलड्.कार का उपमा से भेद प्रदर्शित करने के लिए वामन झलकीकर ने परमानन्द चक्रवर्ती के मत को उद्धृत करते हुए बालबोधिनी में लिखा है उपमा में उपमान लोकप्रसिद्ध होता है जबकि उत्प्रेक्षा में उपमान कविकल्पित होता है । उपमा में "इव" शब्द सादृश्य वाचक होता है परन्तु उत्प्रेक्षा में "इव" शब्द सम्भावनापरक होता है ।[2] अतः यदि उत्प्रेक्षा में "इव" का प्रयोग होता है तो उपमान निश्चित रूप से कवि कल्पित ही होगा । क्योंकि यदि "इव" के साथ लोक प्रसिद्ध वस्तु उपमान हो तो वहाँ उपमा हो जायेगी । उत्प्रेक्षा में "इव" शब्द का प्रयोग प्रायः क्रियापद के साथ होता है । उत्प्रेक्षा

---

1. सम्भावनं चोत्कटकोटिकः सन्देहः ।.....यस्मिन् संशये
   कोटिद्वयमध्ये एकस्याः कोटेः उत्कटत्वं (निश्चितप्रायत्वम्)
   स एव संशयः सम्भावना ।। बालबोधिनी पृ0 584

2. यत्रतुपमानतावच्छेदकविशिष्टमुपमानमप्रसिद्धम्, तत्रोत्प्रेक्षैव तदुक्तं चक्रवर्तिना –
   यदायमुपमानांशो लोकतः सिद्धिमृच्छति ।
   तदोपमैव येनेवशब्दः सादृश्यवाचकः ।।
   यदा पुनरयं लोकादसिद्धः कविकल्पितः ।
   तदोत्प्रेक्षैव येनेवशब्दः संभावनापरः ।। बालबोधिनी, पृ0 584

के वाचक अन्य शब्द हैं – मन्ये, शङ्.के, ध्रुवम्, प्रायः नूनम्, अवैमि, अहे, तर्कमामि, जाने, उत्प्रेक्षे इत्यादि जैसा कि आचार्य दण्डी ने भी कहा है ।[1] इन शब्दों का प्रयोग उपमा में नहीं होता है । अत जहॉ इन शब्दों का प्रयोग हो वहॉ स्पष्टरूप में उत्प्रेक्षा ही होती है ।

उत्प्रेक्षा के भेद :–

काव्यप्रकाश कार मम्मट के समय तक आचार्यों ने उत्प्रेक्षा के भेद प्रभेदों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया । दण्डी, भामह, वामन एवं मम्मट इस विषय में सर्वथा मौन हैं । उद्भट ने उत्प्रेक्षा के भाव एवं अभाव आदि कुछ भेदों का उल्लेख किया है । अलङ्.कार सर्वस्वकार रूय्यक ने उत्प्रेक्षा के अनेक भेदों का विवेचन किया है । सर्वस्वकार के उत्प्रेक्षा भेद विवेचन के आधार पर आचार्य विश्वनाथ ने उत्प्रेक्षा के भेदों का सुसम्बद्ध ढंग से वर्णन किया है । उनके अनुसार सर्वप्रथम उत्प्रेक्षा के दो भेद होते हैं – 1. वाच्योत्प्रेक्षा 2. प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । जहॉ "इव" आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्दों का प्रयोग होता है वहॉ वाच्योत्प्रेक्षा होती है और जहॉ "इव" आदि का प्रयोग नहीं होता वहॉ प्रतीय मानोत्प्रेक्षा होती है । इन दोनों में कहीं जाति उत्प्रेक्ष्य रहती है , कहीं गुण, कहीं क्रिया तथा कहीं द्रव्य उत्प्रेक्ष्य होता है । अतः उक्त दोनों भेदों के चार चार भेद हुए । इन आठों में कहीं भाव उत्प्रेक्ष्य रहता है कहीं अभाव , अतः फिर दो दो भेद होने से सोलह भेद हुए । इन सोलह भेदो में उत्प्रेक्षा का निमित्त कहीं गुण होता है और कहीं क्रिया , इस प्रकार कुल मिलाकर बत्तीस भेद हुए इन भेदों में से वाच्योत्प्रेक्षा के जो सोलह भेद हैं । उनमें द्रव्य को छोड़कर जाति, गुण और क्रियोत्प्रेक्षाओं के बारह भेदों मे से प्रत्येक के तीन भेद हैं – 1. स्वरूपोत्प्रेक्षा,

---

1. मन्ये शङ्.के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः ।
उत्प्रेक्षावाचकाः शब्द इव शब्दोऽपि तादृशः ।। काव्यादर्श 2/234

2. हेतुत्प्रेक्षा, 3. फलोत्प्रेक्षा ।[1] इस प्रकार इन बारह भेदों के छत्तीस भेद होते है । द्रव्य में केवल स्वरूप की ही उत्प्रेक्षा हो सकती है, हेतु या फल की नहीं, अत: उसके पूर्वोक्त चार भेद ही होते हैं । ये सब मिलाकर चालीस भेद हुए ।[2] इन चालीस भेदों मे से स्वरूपोत्प्रेक्षा के जो सोलह भेद हैं उनमें उत्प्रेक्षा का निमित्त (गुणक्रिया रूप) कहीं तो शब्द से ही उक्त होता है और कही आक्षेपलभ्य होता है । इस प्रकार स्वरूपोत्प्रेक्षा के बत्तीस भेद हो गये ।[3] पहले के चालीस भेदों में ये सोलह भेद और मिल जाने से वाच्योत्प्रेक्षा के छप्पन भेद हो गये । प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के पूर्वोक्त सोलह में से प्रत्येक में कही फल उत्प्रेक्षित होता है और कहीं हेतु,[4] इसलिए इसके बत्तीस भेद हुए ।[5] वाच्योत्प्रेक्षा के छप्पन भेद मिलाकर अट्ठासी भेद हो गये । इस समस्त अट्ठासी भेदों में कहीं विषय (प्रस्तुत पदार्थ) शब्दोक्त होता है और कहीं गम्यमान होता है , अतः फिर प्रत्येक के दो भेद होकर उत्प्रेक्षाओं के एक सौ छिहत्तर भेद होते हैं ।[6] परवर्ती आचार्यों ने भी इसी प्रकार उत्प्रेक्षा के अनेक भेद–प्रभेद माने हैं ।

---

1. सा0द0 10/40–43.
2. "द्रव्यस्य स्वरूपोत्प्रेक्षणमेव संभवतीति चत्वार इति मिलित्वा चत्वारिंशद् भेदाः ।" सा0द0 वृत्ति भाग 43
3. "उक्त्यनुक्त्यौर्निमित्तस्यद्विधा तत्र स्वरूपगाः ।
तेषु चत्वारिंशत्संख्याकेषु भेदेषु मध्ये ये स्वरूपगायाः षोड्श भेदास्ते उत्प्रेक्षानिमित्तस्योपादानानुपादानाभ्यां द्वात्रिंशद्भेदाः इति मिलित्वा षट्पञ्चाशतभेदा वाच्योत्प्रेक्षायाः ।" सा0 द0 वृत्ति भाग 43
4. प्रतीयमाना भेदाश्च प्रत्येकं फलहेतुगाः तत्रैव 44
5. "तदेवं द्वात्रिंशतप्रकारा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ।" तत्रैव वृत्ति भाग 44
6. उक्त्यनुक्त्योः प्रस्तुतस्य प्रत्येकं ता अपि द्विधा । तत्रैव 45

उत्प्रेक्षा के इन भेदों में से तीन भेद ही अधिक लोकप्रिय हुए – स्वरूपात्प्रेक्षा हेतुत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा । भेदों का अत्यधिक सूक्ष्मता के साथ विश्लेषण करने से एक तो अलड़्कारो का सौन्दर्य नष्ट होता है तथा दूसरे काव्य श्रवण से पाठक को यह बोध तो सहजरूप में हो जाता है कि इसमें उत्प्रेक्षा आदि अलड़्कार है परन्तु इन अलड़्कारो के सूक्ष्म भेद प्रभेदों की ओर न तो उसका ध्यान जाता है और न ही वह इसके लिए प्रयास करता है क्योंक काव्य का वास्तविक आनन्द उसमें विद्यमान रसादि की अनुभूति में है न कि अलड़्कारों का शास्त्रीय विवेचन करने में । इसीलिए भामह, मम्मट आदि आचार्यों ने उत्प्रेक्षा के भेदों की ओर ध्यान नहीं दिया है ।

महाकवि मंखक ने प्रस्तुत महाकाव्य में मुख्य रूप से उत्प्रेक्षा अलंकार प्रस्तुत किया है ।

उदाहरण :–

"बिम्बितैर्यो मृगैर्भाति स्फुट स्फाटिक सानुषु ।
कौतुकेन कृतो धात्रा राशिभिः शशिनामिव ।।"[1]

यहाँ पर अत्यन्त निर्मल स्फटिक की चट्टानों (चोटियों) पर प्रतिबिम्बित कुरड़्गो (हरिणों) के कारण जो बहुत ही अधिक भासित (सुशोभित) हो रहा है । ऐसा लग रहा है कि मानों वह (कैलास) अनेक चन्द्रों के समूह के द्वारा कौतूहलवश विधाता द्वारा विनिर्मित हो ।

यहाँ पर चन्द्रराशि द्वारा कैलास की विनिर्मित की संभावना की जा रही हैं अतएव उत्प्रेक्षा अलंकार की प्राप्ति हो रही है ।

---

1. श्री0च0 4/2

<u>उदाहरण :–</u>

"यदंशुस्त्रोतस: सङ्गादुत्तमाङ्गेऽपि धूर्जटे: ।
नेन्दु: क्षीरोदकल्लोलनिवासप्रीतिमुज्झति ।।"[1]

जिस कैलास के रश्मि निष्यन्द (चमकती हुई बर्फो की किरणों से उत्पन्न होता हुआ शीतल द्रव) के नाते चन्द्रमा भगवान शङ्कर के उत्तम अङ्ग (मस्तक) पर बैठा हुआ क्षीरोदधि (समुद्र) में निवास करने के आनन्द को एक भी क्षण छोड़ नही पा रहा है ।

यहाँ पर उत्प्रेक्षा अलंकार प्रयुक्त है । यह श्लोक यद्यपि कवि की भावना का साक्षात्कार करने पर अच्छा प्रतीत होता है , किन्तु समुद्र के जल की कड़वाहट एवं दुस्वाद का ध्यान करने पर, कैलास की शीतल हिमकणिकाओं में चन्द्र का तद्गत प्रीति व्यापार (समुद्रगत प्रीति व्यापार) स्मरण करना बहुत कुछ अनौचित्य की सृष्टि करता है । कवि की कल्पना यहाँ कुछ कृत्रिम एवं अव्यावहारिक हो जाती है । जिससे उसकी प्रतिभा के आभास का सा बोध होने लगता है ।

महाकवि मंखक ने उत्प्रेक्षा अलंकार का सुन्दर निदर्शन किया है जैसे –

"सर्वतोऽपि प्रनृत्यभ्दिर्यश्चकास्ति गभस्तिभि: ।
लिखन्मुखेष ककुभां कर्पूरस्थासकानिव ।।"[2]

प्रस्तुत श्लोक में सर्वत्र नृत्य करती हुई अपनी स्वच्छ शीतल कण रश्मियों से दिशाओं के मुखों में कर्पूर की तरह उज्जवल तिलकों की रचना करता हुआ सा वह कैलास भासित हो रहा है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 4/4
2. श्रीकण्ठ0 4/5

यहाँ पर तिलकालेख की संभावना चित्रित होने से उत्प्रेक्षा अलंकार है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध रचना में महाकवि मंखक ने निम्न श्लोको मे उत्प्रेक्षा अलंकार प्रस्तुत किया है ।

प्रथम सर्ग में 58वें, 10वें, 29वें, 33वें, 52वें, 53वें, 54वें श्लोक में, द्वितीय सर्ग में 18वें श्लोक में , तृतीय सर्ग में 3, 7, 13, 16वें श्लोक में, चतुर्थ सर्ग में 37वें श्लोक से लेकर 42वें श्लोक तक तथा 61वें श्लोक में, पञ्चम सर्ग में 17वें, 20वे श्लोक में, षष्ठ सर्ग में 3, 6, 27, 28, 43, 53, 63, 66 से लेकर 68वें तक उत्प्रेक्षा अलड्.कार द्रष्टव्य हैं , सप्तम सर्ग में 5, 8, 32वें श्लोक -में, अष्टम सर्ग में 19, 31वें श्लोक में, नवम सर्ग में 19वें श्लोक में, एकादश सर्ग में 42वें श्लोक में, द्वादश सर्ग मे 60वें श्लोक में चर्तुविंशति सर्ग में 41वें श्लोक में उत्प्रेक्षा अलड्.कार है । प्रस्तुत ग्रन्थ में महाकवि ने उत्प्रेक्षा अलड्.कार का सर्वाधिक प्रयोग किया है ।

3. **रूपक अलड्.कार :–**

रूपक सादृश्य मूलक अभेद प्रधान अलड्.कार है । अग्निपुराण में सादृश्य मूलक अलड्.कारों के अन्तर्गत रूपक का उल्लेख करते हुए उपमेय तथा उपमान में सादृश्य सम्बन्धी अभेद को रूपक कहा गया है ।[1] आचार्य भरतमुनि से लेकर विश्वनाथ तक प्रायः सभी आचार्यों ने रूपक अलड्.कार का यही स्वरूप बताया है । भरतमुनि के अनुसार अपने उपमान के रूप से निरूपित उपमेय का जो रूप है, वही रूपक है ।[2] भामह के मत

---

1. उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते ।
   गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः । अग्निपुराण 344/22
2. स्वविकल्पेन रचितं तुल्यावयवलक्षणम् ।
   किञ्चितसादृश्यसम्पन्नं यद्रूपं रूपकं तुतत् ।। नाट्यशास्त्र 16/56

में गुणों की समता को देखकर उपमेय का उपमान के साथ जो अभेद या ताद्रूप्य बताया जाता है, उसे रूपक कहा गया है ।[1] आचार्य वामन ने भी यही बात कही है ।[2] रूद्रट के अनुसार साम्य के आधार पर उपमान और उपमेय का जातिनिरपेक्ष अभेदरूपक कहलाता है । यत्र गुणानां साम्ये सत्यमुपमानोपमेययोरभिदा

अनिवक्षितसामान्या कल्प्यत इति रूपकं प्रथमम् ।।[3]

आचार्य मम्मट के मत में उपमान और उपमेय का अभेद ही रूपक है ।[4] अलङ्कारसर्वस्व के रचयिता रूय्यक के अनुसार अभेद की प्रधानता होने पर आरोप के होने किन्तु आरोप विषय के न छिपे होने पर रूपक होता है ।[5] विश्वनाथ ने निषेध रहित विषय (उपमेय) में रूपित अर्थात् उपमान के आरोप को रूपक माना है ।[6]

रूपक के विषय में उद्भट ने कहा है कि अभिधा द्वारा सम्बन्ध न हो सकने पर लक्षणा द्वारा पद का दूसरे पद से जो सम्बन्ध है वही रूपक है ।[7] इसी प्रकार कुन्तक तथा भोज ने भी रूपक के स्वरूप निरूपण में सादृश्यमूला गौणी लक्षणावृत्ति के महत्त्व

---

1. उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते ।
   गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ।। काव्यालङ्कार 2/21
2. उपमानोपमेयस्य गुण साम्यात् तत्त्वारापो रूपकम् ।। काव्यालङ्कार सूत्र, 4/3/6
3. काव्यालङ्कार रूद्रट प्रणीत 8/38
4. तद्रूपकमभेदो यः उपमानोपमेययोः । का0प्र0 कारिका 9
5. अभेदप्राधान्ये आरोपे आरोप विषयानपह्नवे रूपकम् ।
   अलङ्कारसर्वस्व सूत्र 16
6. रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे । सा0द0 10/28
7. श्रुत्या. सम्बन्धविरहात् यत्पदेन पदान्तरम् ।
   गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकम् तु तत ।।
   काव्यालङ्कार सार संग्रह 1/11

को स्वीकार किया है ।[1] वास्तव में रूपक का स्वरूप पूर्वोक्त सभी आचार्यो द्वारा बतलाया गया है उसके कारण रूपक अलड्.कार की प्रतीति लक्षणा नामक शब्द शक्ति के द्वारा ही होती है । अतः रूपक के लक्षण में लक्षणा का महत्त्व प्रतिपादित करना कोई विचित्र बात नहीं है ।

परवर्ती आचार्य शोभाकर मित्र का मानना है कि रूपक अलड्.कार केवल सादृश्य मूलक (गौणी) सारोपा लक्षणा में ही नहीं होता बल्कि सादृश्यतर सम्बन्ध से युक्त शुद्ध सारोपा लक्षणा में भी होता है । उनके अनुसार यदि सादृश्य सम्बन्ध से युक्त लक्षणा में रूपक हो सकता है तो अन्य सम्बन्धों में यह अलड्.कार क्यों नहीं हो सकता ।[2]

रूपक के भेद :-

रूपक अलड्.कार का वैज्ञानिक रीति से विभाजन सर्वप्रथम आचार्य मम्मट ने किया है । उन्होंने पहले रूपक के तीन भेद किये - 1. सांगरूपक, 2. निरंगरूपक, 3. परम्परित रूपक । सांगरूपक अनेक रूपकों का समुदाय होता है जिसमें एक प्रधान रूपक में अन्य रूपक भंग हुआ करते हैं । सांगरूपक दो प्रकार का है - समस्तवस्तुविषयक तथा एकदेशविवर्ती । जब समस्त आरोप्यमाण वस्तुऐं शब्दोपात्त होती है तो "समस्त वस्तु विषय" नामक सांगरूपक होता है तथा जिस रूपक में आरोप्यमाण वस्तुऐं कुछ शब्द प्रतिपाद्य तथा कुछ अर्थगम्य होते हैं । वह "एकदेशविवर्ती" सांगरूपक होता है ।[3]

1.क उपचारैकसर्वस्वं यत्र (वस्तु) साम्यं समुद्वहत ।
यदर्पयति रूपं स्वं वस्तु तद् रूपकं विदुः ।। वक्रोक्तिकाव्यजीवित 3/20

ख यदोपमानशब्दानां गौणवृत्तिव्यपाश्रयात् ।
उपमेये भवेद् वृत्तिस्तदा तद्रूपकं विदुः ।। सरस्वती कण्ठाभरण 4/24

2. सादृश्य सम्बन्ध निबन्धनाया अलंकृतित्वं यदि लक्षणायाः ।
साम्येऽपि सर्वस्वपरस्य हेतोः सम्बन्धभेदेऽपि तथैव युक्तम् ।। अलड्.काररत्नाकर पृ0 33

3.क समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा । का0प्र0कारिका 93

ख श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्ति तत् । तत्रैव कारिका 94

ग सांगमेतत् ....। तत्रैव कारिका 94

निरड़्.गरूपक वह होता है जहाँ अड़्.गाड़ि्.गभाव से रहित एक ही रूपक होता है । यह दो प्रकार का होता है -- 1. शुद्ध एवं 2. माला रूप । शुद्ध निरड़्.गरूपक वह होता है जहाँ एक उपमेय में एक ही उपमान का आरोप होता है तथा मालारूप निरड़्गरूपक उसे कहते हैं जहाँ एक उपमेय में अनेक उपमानों का आरोप होता है ।[1] परम्परित रूपक वहाँ होता है जहाँ मुख्य या अवश्य वर्णनीय आरोपण का निमित्तभूत अन्य किसी वस्तु का आरोप होता है ।[2] अर्थात जहाँ वर्णनीय में आरोप करने के लिए अन्य वस्तु का आरोप किया जाता है तथा इस अन्य वस्तु का आरोप मुख्य आरोप का कारण होता हे । परम्परित रूपक का साड़्.गरूपक से पर्याप्त भेद है क्योंकि साड़्.गरूपक में अड़्.गरूपक अड़्.गीरूपक के पोषक मात्र होते हैं, निमित्त नहीं होते क्योंकि उसके बिना भी रूपक हो सकता है परम्परित रूपक प्रथमतः दो प्रकार का होता है 1. श्लिष्ट तथा 2. अश्लिष्ट रूपक ।[3] इनमें से भी प्रत्येक 'शुद्ध' तथा मालारूप – दो दो प्रकार का होता है अतः परम्परितरूपक चार प्रकार का होता है । इस प्रकार साड़्.गरूपक के दो भेद (समस्त वस्तु विषय तथा एकदेशविवर्ती) निरड़्.गरूपक के दो भेद (शुद्ध तथा माला) एवं परम्परितरूपक के चार भेद कुल आठ प्रकार के रूपक भेदों का निरूपण मम्मट ने किया है ।

साहित्यदर्पणकार ने भी रूपक के यही आठ मुख्य भेद बताए हैं । इसके अतिरिक्त वे कहते हैं कि कहीं परम्परित रूपक भी एकदेश विवर्ती होता है । तथा कहीं साड़्.गरूपक में भी आरोप्य (उपमान) श्लिष्ट शब्द से कहे जाते हैं ।

1.क ....निरड़्.गन्तु शुद्धं माला तु पूर्ववत् ।। तत्रैव कारिका 94
ख मालोपमायामिवैकस्मिन बहव आरोपिताः । तत्रैव वृत्ति 94

2. नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्ययः ।
यत्परम्परितं ....।। तत्रैव कारिका 95

3. ....श्लिष्टे वाचके भेदभाजिवा ।। काव्यप्रकाशे कारिका 95

महाकवि मंखक ने प्रस्तुत महाकाव्य में रूपक अलकार का भी सुन्दर निदर्शन किया है ।

<u>उदाहरण :–</u>

1. कृष्णाड्.कं विभ्रदड्.कं जननमनुसरन्गाढमार्तण्डगर्भं
भित्वा तन्वन्विलासिष्वविरलपुलकोत्कम्पपात्रंशरीरम् ।
क्षुन्दन्नक्षीणपक्षाक्रमण परिणतेरन्तरिक्षान्तरालं
वध्याद्राजा द्विजानामविरतविरहक्ष्वेऽपीडाभरं वः ।।[1]

गरूड़ रूपी चन्द्रमा आपकी कठिन विरह निजपीडा को दूर करे जो गरूड़ तथा चन्द्रमा साथ साथ कृष्ण कलंक को धारण करता है जो दीप्त मार्तण्ड मण्डल से जन्म ग्रहण करता है जो भुजंग विलासियों को कँप कँपा देते हैं और जो पक्ष क्रम से आकाश में विचरण करते हैं ।

प्रस्तुत श्लोक में "श्लिष्ट रूपक" का प्रयोग हुआ है ।

<u>उदाहरण :–</u>

2. "मदसहचरगन्धनिर्धुतैलापरिमल एष विशेषतो जगन्ति ।
मदयति मलयानिलोऽतिवेलं मदनमदद्विपकर्णतालवायुः ।।[2]

प्रस्तुत श्लोक मे "रूपक शुद्ध" का निदर्शन है ।

कामदेव रूपी मतवाले हाथी के मदपवन के समान यह मलयानिल सुगन्धिपूरित हो समस्त लोको को विशेष रूप से मदमस्त बना रहा है । यहाँ मलयानिल मद्य से बढ़कर है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 12/65
2. श्रीकण्ठ0 7/21

रूपक के द्वारा व्यतिरेक ध्वनि है ।

उदाहरण :–

3. यस्योच्चैः कटचीनपिष्टपटली दिग्दाहजन्मा रूचि–
भ्रंश्यद्भिः करसीकरायित मथाकाण्डे च यस्योड्डभिः ।
तस्यानर्गलदुर्निमित्तकरिणः क्रूरत्वमाक्रामत –
श्चक्रे व्योमनि नूतनैः कदलिकालीलायितं केतुभिः ॥[1]

जिस अपशकुन हस्ती की दिग्दाहौतपन्न लालिमा ही गन्ड स्थल सिन्दूर लालिमा है । अकाल भ्रंशी तारे ही जिसके शुन्डा सीकर है उसके और भी क्रूरता धारण करने पर तो गिरते हुए केतु नक्षत्रों ने ध्वजयष्टियों का काम किया ।

प्रस्तुत श्लोक में महाकवि मंखक ने "रूपक संघ" का प्रयोग किया है ।

अन्य श्लोकों में रूपक का सुन्दर निदर्शन किया है ।

श्लोक सं0 4/74, 7/9,11,18,21,24,28,37,38,41
8/18,12,65,19,57, 24/20

4. **समासोक्ति अलड्.कार :–**

समासोक्ति का अर्थ है "संक्षेप में कथन" ।[2] समासोक्ति अलड्.कार में प्रस्तुत वृत्तान्त के द्वारा अप्रस्तुत वृत्तान्त का ज्ञान होने से संक्षेप में दो अर्थों का कथन होता है ।[3] सर्वप्रथम भामह ने इस अलड्.कार का विवेचन किया है । उनके अनुसार जब समान

---

1. श्रीकण्ठ0 19/56
2. संक्षेपवचनात समासोक्तिरित्याख्या । काव्यालड्.कारसूत्र वृत्तौ 4/3/3
3. संक्षेपेण उपमानोपमेय लक्षणार्थद्वितयाभिधानात् समासोक्ति
संक्षेपेणार्थद्वयोक्तिः । प्रदीप पृ0 478

विशेषणों के द्वारा प्रस्तुत अर्थ से अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति हो तो संक्षेप में उक्ति के कारण निर्दिष्ट होने से वहाँ समासोक्ति अलङ्.कार होगा ।[1] आचार्य दण्डी ने भी प्रकारान्तर से भामह के मत का ही समर्थन किया है ।[2] उद्भट ने समासोक्ति के विवेचन में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत अर्थ का स्पष्ट रूप से निर्देश करते हुए समासोक्ति का लक्षण दिया है ।[3] वामन के अनुसार उपमेय का कथन न होने पर समान वस्तु या उपमान का वर्णन समासोक्ति अलङ्.कार है ।[4] वामन के इस लक्षण से उपमान के कथन से उपमेय की प्रतीति के वर्णन में समासोक्ति का स्परूप नहीं स्पष्ट होता है जैसा कि परवर्ती आचार्यों ने इस अलङ्.कार का स्वरूप बतलाया है । रूद्रट ने भामह आदि का अनुसरण करते हुए सकल समान विशेषणों से युक्त उपमान के द्वारा ही उपमेय की प्रतीति में समासोक्ति अलङ्.कार माना है ।[5] आचार्य मम्मट ने समासोक्ति के लक्षण में 'श्लिष्ट विशेषणों ' का सन्निवेश करके नवीन विचार प्रस्तुत किया है । उन्होंने कहा कि श्लिष्ट विशेषणों के द्वारा प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति होना ही समासोक्ति है ।[6] इस प्रकार इनके अनुसार प्रस्तुत अर्थ के प्रतिपादक वाक्य के द्वारा श्लेषयुक्त विशेषणों के प्रभाव से, न कि विशेषय् की सामर्थ्य से जो अप्रस्तुत अर्थ का कथन या व्यञ्जना द्वारा अवबोधन है वह संक्षेप से दो अर्थों अर्थात् प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत का कथन करने के कारण समासोक्ति अलङ्.कार है ।[7] यद्यपि श्लेषलङ्.कार

---

1. यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योर्थस्तत्समानविशेषण :
   सा समासोक्तिरूद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा ।। काव्यालङ्.कार 2/79
2. वस्तुकिञ्चिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्य वस्तुनः ।
   उक्तिः संक्षेपरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते ।। काव्यादर्श 2/205
3. प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः ।
   अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरूदाहृता ।। काव्यालङ्.कार सारसंग्रह 2/10
4. अनुक्तौ समासोक्तिः । काव्यालङ्.कार सूत्र 4/312
   "उपमेयस्यानुक्तौ समानवस्तुन्यासः समासोक्तिः । काव्यालङ्.कारसूत्र वृत्ति
5. सकलसमानविशेषणमेकं यत्राभिधीयमानं सत् ।
   उपमानमेव गमयेदुपमेयं सा समासोक्तिः ।। काव्यालङ्.कार 8/67
6. परोक्तिभेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः । का0प्र0कारिका 97
7. प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्ट विशेषणमाहात्म्यात् न तु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि यत् अप्रकृतस्यार्थस्याभिधानं सा समासेन संक्षेपेणार्थद्वय कथनात् समासोक्तिः ।"
   का0 प्र0 वृत्ति भाग 97

में भी श्लिष्ट शब्द होते हैं और अनेक अर्थों की प्रतीति होती है किन्तु श्लेष में विशेष्य और विशेषण दोनों ही श्लिष्ट होते हैं जबकि समासोक्ति में केवल विशेषण श्लिष्ट होते है । इसके अतिरिक्त श्लेष में दोनों ही अर्थ वाच्य होते हैं किन्तु समासोक्ति म प्रस्तुत अर्थ वाच्य और अप्रस्तुत अर्थ व्यङ्ग्य होता है । इसका विषय ध्वनि से पृथक् है क्योंकि समासोक्ति मे जब अप्रस्तुत का प्रस्तुत के व्यवहार में आरोप किया जाता है तो उससे वाच्य अर्थ का उत्कर्ष ही बढ़ता है अतः व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य का अङ्ग होता है, इसलिए यहाँ ध्वनि नही कही जा सकती । एतदर्थ आचार्यों ने समासोक्ति को अपरागगुणी भूत व्यङ्ग्य माना है ।[1]

आचार्य विश्वनाथ ने समासोक्ति के लक्षण में विशेषण के साथ साथ कार्य एव लिंग साम्य पर भी बल दिया है । उनके अनुसार जिस वाक्य में प्रस्तुत और अप्रस्तुत में समान रूप से अन्वित होने वाले कार्य,लिङ्ग और विशेषणों से प्रस्तुत में अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप किया जाये, वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है ।[2] रूद्रट एवं मम्मट ने समासोक्ति के भेदो का निरूपण नहीं किया है ।

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" में "समासोक्ति" अलङ्कार के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं --

1. "नर्मोक्तिमन्त्रमुखरः परिवेष्टयन्तीं
कंदर्पशेवधिसनाभिनितम्बबिम्बम् ।
कृष्णोरगीमिव ततो झटिति प्रियायाः
कस्मिन्मसाररशनास्रजमाचकर्ष ।।" [3]

---

1. बालबोधिनी पृ0 6/3
2. सा0द0 10/56
3. श्रीकण्ठ0 15/16

नर्मोक्तिमन्त्र पढ़ने से धृष्ट किसी कामी ने, कामदेव के उत्तुंगकोष (धनागार) रूप नितम्ब को परिवेष्टित करने वाली कृष्णोरगी – सी मरकतरशना को शीघ्रता से खींच लिया ।

2. "चामीकराम्बुरूहकुड्.मल भूमिकासु
रूढं कुचद्वयमधीर विलोचनानाम् ।
अग्रादनड्.गरसनाटकनर्तनाय
द्राक्कंचुकं जवनिकाभमपाचकार ।।"[1]

चंचलनयनाओं के स्वरा कमलकलिकाओं से कुचद्वय, अनंगसरनाटक मे प्रथम लास्य के प्रयोग के लिए , कंचुकजवनिका को हटाकर रंगभूमि में आ गये ।

5. **अर्थान्तरन्यास अलड्.कार :–**

"अर्थान्तरन्यास" का अर्थ है – "अन्यः अर्थः इति अर्थान्तरम", तस्य न्यासः इति अर्थान्तरन्यासः" अर्थात् अन्य अर्थ का न्यास करना । इस अलड्.कार में प्रस्तुत अर्थ की पुष्टि के लिए अन्य अर्थ का न्यास किया जाता है । सर्वप्रथम भामह ने इस अलड्.कार का निरूपण करते हुए बताया कि पूर्व अर्थ से सम्बद्ध कथित अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ का वर्णन अर्थान्तरन्यास अलड्.कार है ।[2] वामन ने इसके स्वरूप को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा कि उक्त अर्थ की सिद्धि के लिए दूसरी वस्तु (अर्थ) को प्रस्तुत करना अर्थान्तरन्यास अलड्.कार है ।[3] इस अलड्.कार के लक्षण में सामान्य – विशेष भाव की बात सबसे पहले आचार्य रूद्रट ने कही हैं । उनके अनुसार जहाँ सामान्य अथवा विशेष

---

1. श्रीकण्ठ0 15/12
2. "उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदिता दृते ।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा ।।
काव्यालड्.कार 2/71
3. उक्तसिद्धयौ वस्तुनोऽर्थान्तरस्यैव न्यसेत्सोऽर्थन्तरन्यासः ।
काव्यालड्.कार सूत्र 4/3/21

अर्थ वाले धर्मी का कथन करके उसकी पुष्टि के लिए उसके समान धर्म वाले सामान्य अथवा विशेष अर्थ का उपन्यास किया जाता है , वहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्.कार होता है ।[1] आचार्य मम्मट ने रूद्रट के विवेचन के आधार पर ही इसके स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा कि "यदि साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के द्वारा सामान्य या विशेष वस्तु का उससे भिन्न (आर्थात् विशेष या सामान्य) के द्वारा समर्थन किया जाये तो वहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्.कार होता है ।[2] इस आधार पर इस अलङ्.कार के चार प्रकार हुए – 1. साधर्म्य द्वारा विशेष से सामान्य का समर्थन 2. साधर्म्य द्वारा सामान्य से विशेष का समर्थन 3. वैधर्म्य द्वारा विशेष से सामान्य का समर्थन । 4. वैधर्म्य द्वारा सामान्य से विशेष का समर्थन । परवर्ती आचार्यों में शोभाकर, जयदेव, विद्याधर , अप्पयदीक्षित, प0 जगन्नाथ, तथा विश्वेश्वर पण्डित ने मम्मट का अनुसरण करते हुए ही इस अलङ्.कार का विवेचन किया है । रूय्यक ने अर्थान्तरन्यास विवेचन में कारण और कार्य के समर्थन को भी समाविष्ट किया है । उनके अनुसार किसी निर्दिष्ट प्रकृत अर्थ का समर्थन सामान्य विशेष भाव या कार्यकारण भाव सम्बन्ध के द्वारा हो तो अर्थान्तरन्यास अलङ्.कार होता है ।[3] इस विवेचन के आधार पर उन्होंने इसके आठ भेद बताये हैं । सामान्य का विशेष के साथ तथा विशेष का सामान्य के साथ समर्थन में दो भेद हुए, इसी प्रकार कार्य का कारण के साथ तथा कारण का कार्य के साथ समर्थन होने पर दो भेद, इस प्रकार चार भेद हुए । ये चारों भेद या तो साधर्म्य के द्वारा होते हैं या वैधर्म्य के द्वारा, अतः कुल आठ भेद हुए । विद्यानाथ एवं विश्वनाथ ने रूय्यक के विवेचन के आधार पर इस अलङ्.कार का निरूपण करते हुए इसके आठ भेद माने हैं

---

1. काव्यालङ्.कार 8/79,82
2. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
   यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ।। का0प्र0 10/109
3. "सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः"
   अलङ्.कार सर्वस्व सूत्र 36

महाकवि मंखक ने प्रस्तुत महाकाव्य श्रीकण्ठचरितम् में अनेक स्थानों पर अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के सुन्दर प्रयोग किये हैं। इसके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

1. "रात्रिराज सुकुमारशरीरः कः सहेत तव नाम मयूखान् ।
स्पर्शमात्यसहसैव यदीयं चन्द्रकान्तदृषदोऽपि गलन्ति ॥"[1]

यहाँ "चन्द्र की किरणों को कौन कोमल शरीर सहन कर सकता है" इस सामान्य बात का समर्थन "उन किरणों का स्पर्श पाकर चन्द्रकान्तप्रस्तर तक द्रवित हो जाता" इस विशेष उदाहरण के द्वारा किया गया है। अतएव साधर्म्य के द्वारा यहाँ पर सामान्य का विशेष से समर्थन है। हे चन्द्र! कौन कोमल शरीर तुम्हारी किरणों को सहन कर सकता है उन किरणों का स्पर्श प्राप्त करके चन्द्रकान्त प्रस्तर तक सहज ही द्रवित हो चलते हैं।

2. "देवः सोऽथ त्रिभुवनगुरूर्वैकृतं घोरघोरं
तत्संजह्रे त्रिजगदगदंकारचारित्रमुद्रः ।
सन्तो नैसर्गिक मधुरिमोपोढवार्तामुहूर्त
नन्वहार्यां खलनिकृतये विक्रियामाद्रियन्ते ॥" [2]

यहाँ "लोकोपकारक शिव अपने भयानक स्वरूप का संयमन कर लिया" इस विशेष का समर्थन "सज्जन पुरूष दुष्टों को ठीक करने के लिए तात्कालिक साधारण कठोर रूप अपनाते हैं" सामान्य वाक्य से किया गया अतः यहाँ विशेष का सामान्य से समर्थन है, शिवजी ने तीनों लोकों का शोक हरने वाले अपने उस भयानक स्वरूप का पुनः संयमन कर लिया। नैसर्गिक रूप में सज्जन पुरूष दुष्टों को रास्ते पर लाने के लिए, तात्कालिक साधारण कठोरता को ही धारण करते हैं।

---

1. श्रीकण्ठ0 11/59
2. श्रीकण्ठ0 24/38

3. "वामभ्रुवां निबिडतुङ्गपयोधराग्रे
सत्यं स्वयं वसति पुष्पशरप्रतापः ।
तस्मिन्नुरः परिचिते हि तदा युवानो
बभ्रुश्चिरं वपुरूपोढदृढश्रमाम्भः ।।"[1]

प्रस्तुत उदाहरण में कारण का कार्य से समर्थन है । रमणियों के उतुंग स्तनाग्रों पर निश्चय ही काम निवास करता है । उनके सम्पर्क से तत्काल ही युवजन तीव्रतम स्वेद से भींग जाते हैं ।

4. "प्रेमाकुलं युवजनो वनजेक्षणानां
तं वीप्सयाधररसास्वमाचचाम ।
जीवाप्तये रतिपतेः पुनरूद्ववाम
यद्विभ्रमादमृतमाननपूर्णचन्द्रः ।।"[2]

यहाँ कार्य का कारण से समर्थन हुआ है अतएव अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है । युवकों ने हरिणाक्षियों का आतृप्ति अधरपान किया । पूर्णचन्द्रानन ने उसी अधरपान के दल से रतिदेव के पुनरूद्भव के लिए , अत्यधिक अमृत का अभिस्रवण किया । यहाँ कामोद्भवकार्य का अमृतस्रवण कारण है ।

6. **विरोध या विरोधाभास अलङ्कार :–**

अग्निपुराण में विरोधालङ्कार के विषय में कहा गया है कि परस्पर विरोधी पदार्थों का विरोधी रूप प्रदर्शित कर--उनमें युक्तिपूर्वक संगति स्थापित करना विरोध अलङ्कार

---

1. श्रीकण्ठ0 15/26
2. श्रीकण्ठ0 15/27

है ।[1] भामह के अनुसार विशेषता बताने के लिए गुण या क्रिया के विरूद्ध अन्य क्रिया के उल्लेख को विद्वानों ने "विरोध" कहा है ।[2] उद्‌भट ने इस अलड़्.कार के लक्षण के लिए भामह द्वारा दी गई पदावली को लगभग वैसा ही उतार दिया है । किन्तु इन्होंने उदाहरण के रूप में जो पद्य दिया है वह विरोध का उदाहरण न होकर "विषम" अलड़्.कार का उदाहरण है ।[3] आचार्य वामन ने विरोध का जो लक्षण दिया है वह इसके स्वरूप का स्पष्ट करने में समर्थ है किन्तु इन्होंने उदाहरण "विरोध" का न देकर असंगति का दे दिया है ।[4] रूद्रट ने विरोधालड़्.कार का उल्लेख दो स्थानों पर किया है -- एक अतिशयप्रकरण में तथा दूसरा श्लेष प्रकरण में । श्लेष प्रकरण में उन्होंने इसे "विरोध श्लेष" नाम दिया है । इसी प्रकरण में उन्होंने "विरोधाभास्" नामक एक स्वतन्त्र अलड़्.कार भी माना है । अतिशय प्रकरण में विरोध का स्वरूप बताते हुए रूद्रट ने कहा – जहाँ परस्पर सर्वथा विरूद्ध द्रव्य आदि का एक ही स्थान में तथा एक ही समय में अस्तित्व दिखलाया जाये वह विरोध नामक अलड़्.कार होता है ।[5] उन्होंने जाति, गुण, क्रिया, एवं द्रव्य के आधार पर इसके नौ भेद माने हैं -- जब यह विरोध सजातीय पदार्थों का अर्थात् जाति का जाति के साथ, द्रव्य का द्रव्य के साथ, गुण का गुण के साथ तथा क्रिया का क्रिया के साथ होता है । तब इसके

---

1. सड़्.गतीकरणं युक्त्या यदसंगच्छमानयोः ।
   विरोधपूर्वकत्वेन तद्विरोध इति स्मृतम् ।। अग्निपुराण 344/28,29
2. गुणस्य वा क्रियाया वा विरूद्धान्य क्रिया भिधा ।
   या विशेषाभिधानाय विरोधं तं विदुर्बुधाः ।। काव्यालड़्.कार 3/25

3.क गुणस्य वा क्रियाया वा विरूद्धान्यक्रियावचः ।
   यद्विशेषाभिधानाय विरोधं तं प्रचक्षते ।। काव्यालड़्.कारसारसंग्रह 5/6

  ख भवत्याः क्वायमाकारः क्वेदं तपसि पाट्वम ।

4.क विरूद्धाभासत्वं विरोधः । काव्यालड़्.कार सूत्र 4/3/12

  ख पीतं पानमिदं त्वयाद्य दयिते मत्तं ममेदं मनः ।

5. यस्मिन् द्रव्यादीनां परस्परं सर्वथा विरूद्धानाम् ।
   एकत्रावस्थानं समकालं भवति स विरोधः ।। काव्यालड़्.कार 9/30

चार भेद उन्हीं नामों से होते हैं । विजातियों में विरोध होने पर पाँच भेद होते हैं – जाति गुण, जाति क्रिया, गुण क्रिया, गुण द्रव्य तथा क्रिया द्रव्य के विरोध जाति और द्रव्य मे विरोध नहीं हो सकता । अतः विजातीयों के छः भेद नही हो सकते ।[1] इस प्रकार रूद्रट ने चार सजातीयों के तथा पाँच विजातीयों के कुल नौ प्रकार के विरोध माने है । मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों ने वास्तविक विरोध को ही विरोध अलड्.कार माना है । आचार्य मम्मट ने कहा है कि जहाँ विरोध न होने पर भी दो वस्तुओं का विरूद्धों के समान वर्णन किया जाता है वहाँ विरोध अलड्.कार होता है । अर्थात् वास्तव में विरोध न होने पर भी दो वस्तुओं का विरूद्धों के समान वर्णन करना विरोध या विरोधाभास अलड्.कार है ।[2] रूय्यक ने भी प्रकारान्तर से यही बात कही है । उन्होंने बताया कि विरूद्धता का आभास ही विरोधालड्.कार है । यदि उस विरूद्धता का समाधान न हो और अन्त तक विरोध बना रहे तो दोष होता है और यदि समाधान हो जाये तो विरोधाभास अलड्.कार होता है क्योंकि तब वह केवल आरम्भ में ही भासित होता है ।[3] परवर्ती आचार्यों के विवेचन में मम्मट रूय्यक का ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है उनसे भिन्न किसी नवीन तथ्य का उल्लेख इन आचार्यों ने नहीं किया है । मम्मट तथा रूय्यक दोनों ने ही विरोध के दस भेदों का उल्लेख किया है – जाति का विरोध जाति आदि चारों के साथ, गुण का विरोध गुण आदि तीन के साथ, क्रिया का विरोध क्रिया तथा द्रव्य इन दो के साथ एवं द्रव्य का विरोध केवल द्रव्य के साथ दोनो से (4+3+2+1 = 10(इस अलड्.कार के कुल दस भेद होते हैं ।[4]

---

1. अस्य सजातीयानां विधीय मानस्य सन्ति चत्वारः ।
   भेदास्तन्नामानः पञ्च त्वन्ये तदन्येषाम् ।।
   जातिद्रव्यविरोधो न संभवत्येव तेन न षडेते । तत्रैव 9/31,32
2. विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरूद्धत्वेन यद् वचः । का0प्र0 10/110
   "वस्तुवृत्तेनाविरोधेऽपि विरूद्धयोरिव यद्भिधानं स विरोधः ।" वही पर वृत्ति भाग
3. विरूद्धाभासत्वं विरोधः । अलड्.कारसर्वस्व सूत्र – 41
   "स च समाधानं विना प्ररूढो दोषः । सति तु समाधाने प्रमुख एव आभाससमानत्वाद्

   विरोधाभासः ।" वही पर वृत्ति भाग 41
4.क जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरूद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः ।
   क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ।। का0प्र0 10/110,111
   ख "तत्र जातिविरोधस्य जात्यादिभिः सह चत्वारो भेदाः । गुणस्य गुणादिभिः सह त्रयः । क्रियायाः क्रियाद्रव्याभ्यां सह द्वौ भेदौ । द्रव्यस्य द्रव्येण सहैकः । तदेवं दश विरोध भेदाः ।" अलड्.कारसर्वस्ववृत्ति भाग 41

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य में विरोधाभास अलड्.कार भी कुछ स्थलो मे प्राप्त होता है ।

1. "यस्तन्मयीभिरपि मूर्तिविवर्तनाभि –
स्तिष्ठन्प्रपद्य भुवनत्रयसामरस्यम् ।
पुष्णन्पदं जनिजरामरणानभिज्ञं
शास्त्रेष्वगादि मतिमद्भिरनष्टमूर्तिः ।।"[1]

जो अपनी उन आठ (जल, अग्नि वायु, सूर्य, चन्द्रादि) मूर्तियां से त्रिलोक में व्याप्त हो रहा है । जो जरा मरण से अनभिज्ञ है , वह बुद्धिमान शास्त्रकारां द्वारा किस प्रकार "अनष्टमूर्ति " कहा गया है ।

यहाँ पर द्रव्य विरोधाभास है । "आठ मूर्तियों वाला नहीं" – इस प्रकार आरम्भ में विरोध प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में यहाँ विरोध नहीं है । क्योंकि "नष्ट न होने वाली मूर्तिकला" से विरोध का परिहार हो जाता है । अतएव यहाँ पर विरोधालड्.कार है ।

2. "दन्तोदन्ततिलाञ्जलौ दिनपतेरम्भाजयोनेः शिरो –
दारिद्ये नयनोद्धतौ भगवतो लीढासुरेन्द्रायुषः ।
किं चाशेषवपुर्व्यये रतिपतेर्यः कारणत्वं भज –
न्नप्यायाति न कुत्र नाम जगतः सर्वाड्.गसिद्धयड्.गताम् ।।"[2]

सूर्य के दन्तत्रुटन का हेतु, ब्रह्मा के शिरकर्तन, कृष्ण के चक्षुविलयन और काम के नाश का कारण वह शिव भला कब संसार की सर्वार्थसिद्धि नहीं करता । यहाँ पर जो

1. श्रीकण्ठ0 5/45
2. श्रीकण्ठ0 5/52

शिव सूर्य , ब्रह्मा, कृष्ण और काम आदि का नाश करने वाले हैं वह लोकोपकारक कैसे हो सकते हैं अतएव विरोध प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में शिव कल्याणकारी हैं । यहाँ पर क्रिया (संहारक) का क्रिया (लोकोपकारक) से विरोध है ।

3. सेकोऽम्बुना सौष्ठव मातताान प्रतानिनीनामथ मानिनीनाम् ।
सड्.गोऽक्रूपूरैर्बत पत्रवल्लीः कपोलयोराकुलयां चकार ।। [1]

जलसेक लताओं की सौष्ठव वृद्धि का कारण बनता है । वही अश्रुप्रवाहरूप में सुन्दरियों की कपोलस्थ "पत्रबल्ली" का विनाशक होता है ।

यहाँ पर जो लताओं की सौष्ठव वृद्धि करने वाला है वह उनका विनाशक कैसे हो सकता है इस प्रकार आरम्भ में विरोध प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में यहाँ विरोध नहीं है क्योंकि वियोग में वही अश्रुप्रवाह रूप में सुन्दरियों के लिए दुःखदायी होता है । अतएव यहाँ विरोधालड्.कार है । यहाँ पर द्रव्य (जल) का क्रिया (अश्रुप्रवाह) से विरोध है ।

7. **व्यतिरेक अलड्.कार :-**

"व्यतिरेक" शब्द का अर्थ है विशेष प्रकार का अतिरेक या आधिक्य । उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्य वर्णित होने पर व्यतिरेक अलड्.कार होता है । भामह,[2] वामन,[3] मम्मट,[4] तथा पं0 जगन्नाथ [5] ने उपमान की अपेक्षा उपमेय के गुणाधिक्य के वर्णन में ही

---

1. श्रीकण्ठ0 6/34
2. उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिदर्शनम् ।
व्यतिरेके तमिच्छन्ति विशेषापादनाद्यथा ।। काव्यालड्.कार 2/75
3. उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः । काव्यालड्.कार सूत्र 4/313
4. उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः । का0प्र0 10/105
"अन्यस्योपमेयस्य । व्यतिरेक आधिक्यम् ।" वहीं वृत्ति भाग द्रष्टव्य
5. उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषवत्त्वेनोत्कर्षो व्यतिरेकः । रस गड्.गाधर पृ0 467

व्यतिरेक माना है । उद्भट[1] ने उपमेय तथा उपमान दोनों के आधिक्य वर्णन में व्यतिरेक अलड्.कार माना है । उद्भट के मत का अनुसरण करते हुए रूद्रट,[2] राजानक रूय्यक[3] अप्पयदीक्षित[4] तथा विश्वनाथ[5] आदि ने भी दोनों स्थितियों में व्यतिरेक माना है अर्थात् उपमान की अपेक्षा उपमेय के आधिक्य वर्णन में तथा उपमेय की अपेक्षा उपमान के आधिक्य वर्णन में भी व्यतिरेक माना है । उपमान का आधिक्य तो प्रसिद्ध है परन्तु व्यतिरेक अलड्.कार का चमत्कार तो इसी में है कि उपमेय के सौन्दर्य का अधिकता से वर्णन हो तथा उपमान उसके समक्ष हीन प्रतीत हो । अतएव भामहादि ने व्यतिरेक अलड्.कार का जो स्वरूप बतलाया है वही उचित जान पड़ता है ।

व्यतिरेक अलड्.कार के चार मुख्य भेद माने गये हैं – 1. उपमेय के आधिक्य के हेतु तथा उपमान के अपकर्ष के हेतु के वर्णित होने पर 2. इन दोनों ही हेतुओं के अनुक्त होने पर 3. उत्कर्ष हेतु के अनुक्त होने पर 4. अपकर्ष हेतु के अनुक्त होने पर ।

आचार्य मम्मट ने व्यतिरेक के चौबीस भेद माने हैं । उनके अनुसार उपर्युक्त चार भेदों में साम्य कहीं शाब्द, कहीं आर्थ और कहीं आक्षिप्त होता है इसलिए प्रत्येक

---

1. काव्यालड्.कार सार सड्.ग्रह 2/7
2. काव्यालड्.कार 7/86,89
3. अ0स0 सूत्र 29
4. कुवलयानन्द 20/57
5. सा0द0 10/52

के तीन तीन भेद होकर बारह भेद बन जाते हैं । ये बारह भेद श्लेषमूलक या अश्लेषमूलक होने से दो दो प्रकार के होकर चौबीस भेद बन जाते हैं ।[1] आचार्य विश्वनाथ ने भी उपमान की अपेक्षा उपमेय के आधिक्य वर्णन में उपर्युक्त चौबीस भेद माने हैं । इसी प्रकार उन्होंने उपमेय की अपेक्षा उपमान के आधिक्य वर्णन मे भी चौबीस भेद माने है अतः आचार्य विश्वनाथ ने व्यतिरेक के कुल अड़तालिस भेदों का विवेचन किया है ।

"श्रीकण्ठचरितम्" में व्यतिरेक अलङ्कार के उदाहरण द्रष्टव्य हैं --

1. यस्मिञ्जातु न जायतेऽम्बुजवतीकौमारधर्मक्षति -
दृष्टो यत्र न वा कदाचिदशनाभिज्ञश्चकोरीजनः ।
तस्मिन्नप्यहिचक्रवर्तिनगरोद्देशोपकण्ठे क्षणं
यन्मूलस्फटिकाश्मरश्मिपटलैः कोऽपि प्रकाशोदयः ।।[2]

जिस पाताल में कमलिनी की कौमार्यक्षति नहीं होती, जहाँ चकोरीजनों को कभी अशनाभिज्ञता (सूर्यचन्द्राभाववश) नहीं प्राप्त होती, वहाँ भी सर्पराज के नगर में जिस कैलास की मूलस्फटिक रश्मियों का एक विचित्र प्रकाश फैला रहता है । सूर्यचन्द्र प्रकाश से भी विशिष्ट स्फटिक प्रकाश है । यहाँ पर सूर्यचन्द्र प्रकाश उपमान की अपेक्षा स्फटिक प्रकाश उपमेय का उत्कर्ष दिखाया गया है । और उपमान के अपकर्ष का हेतु तथा उपमेय के उत्कर्ष का हेतु अनुक्त है अतः व्यतिरेक का चतुर्थ भेद है । यहाँ तुल्यार्थ में वति प्रत्यय है अतः आर्थ औपम्य का उदाहरण है ।

---

1. हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते ।
शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते श्लिष्टे तद्वत् त्रिरष्ट तत् ।। का0 प्र0 10/105,106

2. श्रीकण्ठ0 4/57

2. "श्वसितेषु सृजत्सु तत्र तस्याः प्रसरत्सौरभसारसन्त्रदानम् ।
अलितकुर्कलोकभूमजन्मा कुसुमानां विरलीबभूव भारः ।।"[1]

प्रस्तुत उदाहरण में उपमेय रूपी पार्वती की मुखश्वास के उत्कर्ष का हेतु सौरभ या सुगन्धि है और पुष्प के अपकर्ष के हेतु बिरली बभूव भारः अर्थात् गन्धहीन (भ्रमरों द्वारा पुष्प रस पीने से) है यहाँ हेत्वोरूक्तौ का उदाहरण है और आक्षिप्त सादृश्य है

पार्वती जी के श्वासों की सुगन्धि के सन्त्रदान के विस्तृत होने पर याचक भ्रमरों के भार से पुष्पों का भार हलका हो गया । मुख श्वास पुष्पों से अधिक सुगन्धित है । पद्मिनीत्वध्वनि है ।

8 **अतिशयोक्ति अलङ्कार :-**

आचार्य भामह के समय से इसे स्वतन्त्र अलङ्कार माना गया है । भामह के अनुसार निमित्तपूर्वक लोकातिक्रान्त वचन अतिशयोक्ति है जो गुणातिशय के योग से होती है ।[2] दण्डी भी इसे दूसरे अलङ्कारों का एकमात्र आश्रय मानते हैं ।[3] उद्भट ने भामह के अतिशयोक्ति लक्षण को यथावत् स्वीकार कर लिया ।[4] आचार्य रूय्यक ने अध्यवसाय के आधार पर अतिशयोक्ति का लक्षण किया है ।[5] इनकी परिभाषा की

---

1. श्रीकण्ठ0 8/15
2. निमिलतो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्ति तामलंकारततयाथा ।।
इत्येवमादिरूदिता गुणातिशययोगतः ।
सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत्तां यथागमन् ।। काव्यालङ्कार 2/81,84
3. अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ।। काव्यादर्श 2/220
4. काव्यालङ्कार 2/81
5. 'अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिशयोक्तिः । अलङ्कारसर्वस्व-सं0 डॉ0रामचन्द्र द्विवेदी पृ0 79 सूत्र 22

आ0 विश्वनाथ, प्रतापरूद्रयशोभूषण, पण्डित राज जगन्नाथ आदि ने अपनाया है । आचार्य विश्वनाथ के अनुसार अध्यवसाय के सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति अलंकार होता है । विषय (उपमेय) का निगरण करके विषयी (उपमान) के साथ उसके अभेद ज्ञान को अध्यवसाय कहते हैं ।[1] सर्वप्रथम उद्‌भट ने इसके चार भेदों का निरूपण किया है ।[2] मम्मट ने अतिशयोक्ति की स्वतन्त्र परिभाषा न देकर केवल भेदों का उल्लेख किया है – 1. उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण करके उसके साथ कल्पित अभेद का निश्चय, 2. प्रस्तुत अर्थ का अन्य रूप से वर्णन 3. यदि अर्थ वाले शब्दों का कथन करके असम्भव अर्थ की कल्पना 4. कार्य तथा कारण के पौर्वापर्य का विपयर्य वर्णित किया जाता, वहाँ "अतिशयोक्ति" अलङ्.कार होता है ।[3]

आचार्य विश्वनाथ ने इसके पाँच भेद बतलाये हैं – 1. वास्तविक भेद होने पर भी अभेदवर्णन करने और 2. वास्तविक सम्बन्ध रहते हुए भी असम्बन्ध का कीर्तन करने 3. अभेद में भेद 4. असम्बन्ध में सम्बन्ध का कथन करने एवम् 5. कार्य और कारणों के पौर्वापर्य नियम का व्यत्यय करने से पाँच प्रकार की अतिशयोक्ति होती है ।[4]

इन भेदों पर विचार करने से प्रतीत होगा कि भेद होने पर भी अभेद की विवक्षा ही अतिशयोक्ति का मौलिक तथा प्रमुख भेद है । सिद्ध अध्यवसाय या विषयनिगरण तथा विषयी की प्रधानता ही अतिशयोक्ति है ।

---

1. सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते । सा0द0 10/46
2. काव्यालङ्.कार सङ्.ग्रह 2/24–25
3. का0प्र0 10/100
4. भेदेऽप्यभेदः संबन्धेऽसंबन्धस्तद्विपर्ययौ । पौर्वापर्यात्ययः कार्यहेत्वोः सा पञ्चधा ततः । सा0द0 10/47

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" में अतिशयोक्ति उदाहरण –

दिङ्.मण्डली कनककेतकसिन्धुवार –

कड़्.केल्लिवल्लिपटलीशबलीकृतेयम् ।

चैत्रेण विश्वविजयाय झषध्वजस्य

सज्जी कृता ममरचापततिं व्यनक्ति ।।" [1]

कनक–केतक– सिन्धुवार–कंकेल्लिवल्लिपटली से शबलीकृत यह दिङ्.मण्डली वसन्त के द्वारा काम की दिग्विजय के लिए सजायी गई इन्द्रधनुष की रेखा ही है । भेद में अभेदः

यहाँ उपमान रूप दिङ्.मण्डली आदि के द्वारा उपमेय भूत इन्द्रधनुष की रेखा आदि कह निगरण करके अभेद या अभिन्नता निश्चित की गयी है अतः यह प्रथम प्रकार की अतिशयोक्ति का उदाहरण है ।

"तिलकोऽग्रषथस्थितोऽमरीषु प्रकिरन्तीषु यदृच्छयैव दृष्टिम् ।

कमपि श्रममन्तरेण सद्यः शरकारः कुसुमायुधस्य जज्ञे ।।[2]

देवांगनाओं की दृष्टि में पड़कर यह तिलकवृक्ष तो अनायास ही कामदेव का "शरदाता" बन गया है ।[2] कामिनियों के दृष्टिपात से तिलकवृक्ष में, पुष्पोद्गम हुआ करता है । इस प्रकार पुष्पोद्गम होते ही तिलकपुष्पों से काम का शर–सन्धान – विमोहकता सिद्ध हो गया । यहाँ अभेद में भेदः रूपी अतिशयोक्ति का दूसरा उदाहरण है ।

प्रतियातना शशिनि मेचकोत्पलच्छदपङ्क्तिभिर्विनिहिता भिरादधे ।

---

1. श्रीकण्ठ0 7/49
2. श्रीकण्ठ 0 8/21

मधुमाजनेष्वमरवारयोषितां नवसंसरद्वहुकलड्.कसंकरः ।। 1

प्रस्तुत उदाहरण असम्बन्ध में सम्बन्ध रूपी अतिशयोक्ति की तीसरा उदाहरण है ।

चषक में प्रतिबिम्बित चन्द्र में, उस चषक में विनिर्मित कृष्ण कमल पत्रावली को सुरयुवतियो ने नव नव कलंकपरम्परा समझा । असम्बन्ध में सम्बन्ध है क्योंकि चषक में प्रतिबिम्बत चन्द्र का कृष्ण कमलपत्रावली से सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध का होना, चन्द्रमा में नव नव कलंक परम्परा को सिद्ध करने के लिए बताया गया है अत अतिशयोक्ति का तीसरा उदाहरण है ।

वर्षन्नजस्रमसमश्रमवारिबिन्दू --
नाताम्रलोलनयनान्ततडित्कडारः ।
कश्चित्प्रनर्तयितुमुग्रकबन्धकेकि –
लोकं स्पृहां व्यधितदिव्यधनुर्ग्रहाय ।।2

अजस्रश्रमबिन्दुओं की वर्षा करते हुए, आरक्त नयनकान्ति रूपी विद्युत--चमक के साथ साथ होने पर, किसी वीर ने इन्द्रधनुष को लाने की स्पर्धा की (वह मर कर स्वर्ग को चला) कि वहः कबन्धरूपी मयूरों को नचा सके । इन्द्र धनुषसहित मेघ को देखकर मयूर नाच उठते हैं । सम्बन्ध में असम्बन्ध दिखाया गया है । इसलिए यहाँ पर सम्बन्ध में असम्बन्ध रूपी अतिशयोक्ति का चतुर्थ उदाहरण है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 14/43
2. श्रीकण्ठ0 18/19

भड्.गर्लेभे चतुरमरूता दिक्षु विस्तार्यमाणै –
गीर्वाणारिप्रवरवपुषामुन्मिषद्भूतिलेशैः ।
तत्तत्कल्लोलितचरजगद्विप्लवातड्.कशड्.का –
संकोचोत्कत्रिभुवनगुरूक्षिप्यमाणाक्षतानाम ।।[1]

वायु के द्वारा बिखराई जाती हुई दैत्यत्रय की शरीर भस्म, शिवजी द्वारा मन्त्रपढ़कर, विप्लवादि शान्त करने के लिए, फेंके गये श्वेत चावलों की भंगिमा को प्राप्त हुई । यहाँ पर वायु द्वारा बिखाराई हुई दैत्यत्रय की शरीरभस्म इस सम्बन्ध में शिवजी द्वारा मन्त्र पढ़कर विप्लव शान्त करने हेतु फेंके गये श्वेत चावलों की भंगिमा को प्राप्त होना यह असम्बन्ध दिखाया गया है । अतएव सम्बन्ध में असम्बन्ध रूपी अतिशयोक्ति का चतुर्थ उदाहरण है ।

9. **दृष्टान्तालड्.कार :–**

जहाँ दो धर्मियों या धर्म में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव हो वहाँ दृष्टान्त अलड्.कार होता है । आचार्य रूय्यक के अनुसार धर्मी के अतिरिक्त धर्म का भी जहाँ बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होता है उसे दृष्टान्त अलड्.कार कहते हैं ।[2] इस प्रकार धर्मी तथा धर्म को ही लेकर दृष्टान्त अलड्.कार हो सकता है । मम्मट ने भी दृष्टान्त का लक्षण यही दिया है । कि जहाँ (वाक्यद्वय) में इन (उपमान् उपमेय, उनके विशेषण और साधारण धर्म आदि) सबका बिम्ब प्रतिबिम्बभाव होता है वहाँ "दृष्टान्त" नामक अलड्.कार होता है । इस प्रतिबिम्बन की अभिव्यक्ति साधर्म्य से भी हो सकती है और वैधर्म्य से भी । बिम्बप्रति–बिम्बभाव की प्रक्रिया में दो भिन्न धर्म या धर्मियों मे सादृश्य के कारण अभिन्नता का

---

1. श्रीकण्ठ0 24/31
2. वस्तुतः भिन्नयोर्धर्मयोः परस्परसादृश्यादभिन्नतयाऽध्यवसितयोर्द्विरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः । अलड्.कारसर्वस्व – सं0 डॉ0 रामचन्द्रद्विवेदी पृ0 63 सूत्र 26

जो बोध होता है उसी को ध्यान में रखकर मम्मट ने दृष्टान्त की व्युत्पत्ति "दृष्टोऽन्त निश्चयो यत्र" दी है ।[1] मम्मट तथा रूय्यक द्वारा दृष्टान्त का विवेचन एकरूप है । आचार्य रूद्रट के अनुसार प्रस्तुत और अप्रस्तुत में जिस धर्म से युक्त अर्थ विशेष का पहले उपन्यास हो चुका है उसी धर्म से युक्त अन्य विशेष अर्थ का जहाँ उपन्यास होता है वहाँ दृष्टान्त अलङ्कार होता है यह विवक्षित और अविवक्षित रूप में दो प्रकार का है ।[2] आचार्य विश्वनाथ के अनुसार भी दो वाक्यों में धर्म सहित, वस्तु अर्थात् उपमानोपमेय के प्रतिबिम्बन को दृष्टान्तऽ–लङ्कार कहते हैं ।[3] दृष्टान्त में धर्म सहित धर्मी का प्रतिबिम्बन होना चाहिए, केवल धर्मी का नहीं । दृष्टान्तालङ्कार साधर्म्य और वैधर्म्य से दो प्रकार का होता है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में दृष्टान्तालङ्कार का उदाहरण –

"नीचैर्वितनोत्वश्रु नितान्तकार्ष्ण्यं पुष्णातु साधर्म्यभृदञ्जनेन ।
बिना तु जायेत कथं तदीय क्षोदेन सारस्वतदृक् प्रसादः ।।"[4]

दोषाविस्करण के द्वारा नीच व्यक्ति चाहे जितना भी कष्ट क्यों न दे, वह अन्ततोगत्वा उपकार ही करता है । सरस्वती का प्रसाद पात्र बना देता है । काजल आँखों में लगाया जाकर कृष्णाश्रुप्रवाह करवाता है, फिर भी बिना उसके दृष्टि प्रसाद प्राप्त नहीं होता । यहाँ साधर्म्यमूलक दृष्टान्तालङ्कार है । यहाँ नीच व्यक्ति और काजल का, दोषाविस्करण और कृष्णाश्रुप्रवाह का, तथा सरस्वती का प्रसाद पात्र एवं दृष्टि प्रसाद का बिम्बप्रति बिम्बभाव होने से दृष्टान्तालङ्कार है ।

---

1. दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् । का0प्र0 10/102
2. अर्थविशेषः पूर्वं यादृड् न्यस्तो विवक्षितेतरयोः ।
   तादृशमन्यं न्यस्येद्यत्रपुनः सोऽत्र दृष्टान्तः ।।
   काव्यालङ्कार 8/94
3. दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् । सा0द0 दशम् परिच्छेद् पृ0 329
4. श्रीकण्ठ0 2/19

तत्तद्विचारोपनिषद्विमृष्टं काव्यं कवेः पुष्यति निस्तुषत्वम् ।
न रत्नमायाति हि निर्मलत्वं शाणोपलारोपणमन्तरेण ॥[1]

यह वैधर्म्यमूलक दृष्टान्त अलङ्कार का उदाहरण है ।

उन उन सगुणत्व दोष त्यागत्वादि विचारों की पराकाष्ठा के साथ रचित काव्य ही निर्दोषत्व को प्राप्त होता है । रत्न शास्त्रोपल पर चढ़ाये बिना शुद्धत्व को प्राप्त नहीं कर पाया करता है । यहाँ काव्य तथा रत्न का दोष त्यागत्वादि और शास्त्रोपल पर चढ़ाये बिना, एवं निर्दोषत्व और शुद्धत्व का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होने से दृष्टान्त अलङ्कार है ।

"सेनाधूलीतमसि नभसि व्याप्तिपर्याप्तिभाजि
भ्राजिष्णुत्वं भजति च गणे सर्वतः खेचराणाम् ।
तेषां शूरस्थितिमजहतां प्रस्खलन्मण्डलाग्र –
च्छाये तस्मिन्महति सहसा धाम वह्नौ ममज्ज ॥" [2]

आकाश में सैन्यरजस्तम के व्याप्त हो जाने पर तथा चारों ओर गणों – देवताओं के कान्तियुक्त या तेजस्वी हो चुकने पर, उन दैत्यों के वीरभाव को न त्यागने पर, उनका तेज उस शराग्नि में निमज्जित हो गया । अन्धकार के फैलने, तारों के प्रकट होने तथा शिखरच्छाया के प्रवृद्ध हो चुकने पर सूर्य का तेज अग्नि में निहित हो गया । यहाँ पर श्लेषोत्थापित साधर्म्यमूला दृष्टान्तध्वनि रूप है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 2/7
2. श्रीकण्ठ0 24/21

10. **दीपकालड्.कार :–**

आचार्य भामह,[1] दण्डी,[2] उद्भट,[3] रूय्यक,[4] पं0 जगन्नाथ[5] आदि ने दीपकालड्.कार को तुल्ययोगिता अलड्.कार से पृथक मानना उचित नहीं समझा है । आचार्य रूद्रट ने तुल्ययोगिता का विवेचन न करके केवल दीपकालड्.कार का लक्षण प्रस्तुत किया । जहाँ अनेक वाक्यों का एक ही क्रिया पद तथा कारक पद होता है वहाँ क्रिया दीपक और कारक दीपक भेद से दीपकालड्.कार दो प्रकार का होता है ।[6] मम्मट ने दीपक और तुल्ययोगिता की पृथक् पृथक् परिभाषा देकर भेद भी दोनों में स्पष्ट किया है । जहाँ उपमेय और उपमानरूप वस्तुओं के धर्मों का एक ही बार ग्रहण किया जाता है या बहुत सी क्रियाओं के होने पर किसी कारक का एक बार ग्रहण किया जाता है वहाँ दीपक अलड्.कार होता है । यह क्रिया दीपक, कारक दीपक और मालादीपक रूप से तीन प्रकार का होता है ।[7] दीपकालड्.कार में एक प्रकृत और एक अप्रकृत अर्थ के साथ एक धर्म का सम्बन्ध होता है । तुल्ययोगिता में दोनों अर्थ या तो प्रकृत हों या फिर सभी अप्रकृत हों यह आवश्यक है ।[8] यही दीपक का तुल्ययोगिता अलड्.कार का भेद है । आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जहाँ अप्रस्तुत और प्रस्तुत पदार्थों में एक धर्म का सम्बन्ध हो अथवा अनेक क्रियाओं का एक ही कारक हो वहाँ दीपकालड्.कार होता है ।[9] इन्होंने भी क्रियादीपक और कारकदीपक

---

1. काव्यालड्.कार 3/27
2. काव्यादर्श 2/33
3. काव्यालड्.कार सार संग्रह 5/11
4. अ0स0 पृ0 87 सूत्र 24
5. तुल्ययोगिता दीपकं न पृथग्भावमर्हति । धर्मसकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्तेरविशेषात् । रसगड्.गाधर पृ0 326–27
6. यत्रैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति । तद्वतकारकपदमपि तदेतदिति दीपकं द्वेधा ।। काव्यालड्.कार 7/64
7. का0प्र0 10/103
8. का0प्र0 10/104
9. अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते । अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् सा0द0 10/49

दो भेद स्वीकार किये । आचार्य रूय्यक ने तुल्ययोगिता को ही दीपकालड़्.कार मानते हुए इसके चार भेद बताये हैं । धर्म के आदि, मध्य या अन्त में रहने से दीपक के आदि दीपक मध्य दीपक तथा अन्त दीपक भेद होते हैं । इनमें क्रिया एक ही होती है जिसका एकाधिक कारक से सम्बन्ध होता है । अतः इन तीन भेदों को एक क्रिया वाले दीपक का भद कहा है चौथा भेद वह है जिसमें कारक एक हो और क्रियाएं अनेक हों ।[1] परन्तु वस्तुत दीपक के क्रिया दीपक, कारक दीपक और मालादीपक आदि तीन भेद होते हैं ।

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" में दीपकालड़्.कार का उदाहरण –

"द्वितीयभूतिर्भर्गस्य फेनश्रीर्मानसाम्भसाम् ।
भूपन्नगस्त्रीनिर्मोको भाति यत्कान्ति संततिः ।।[2]

जिस कैलास की कान्तिप्रभा शिवजी की द्वितीय भूति , मानस्‌जलों की फेनश्री तथा भूपन्नगी की केचुल लहरी के समान शोभा पाती है । यह क्रिया दीपक का उदाहरण है ।

यहाँ "भाति" यह एक ही क्रिया पद है । उसके ही साथ कान्तिप्रभा, द्वितीय भूति, फेनश्री, केचुल लहरी आदि अनेक कारकों का सम्बन्ध होने से यह श्लोक "क्रिया दीपक" का उदाहरण होता है । इसमें वर्णनीय होने से कैलास की कान्तिप्रभा प्रकृत है और उपमेय रूप है । शिवजी की द्वितीय भूति, मानस जलों की फेनश्री, भूपन्नगी की केचुल लहरी ये सब अवर्ण्य होने से अप्रकृत है और वे उपमान रूप में प्रतीत होते हैं अतः क्रियादीपक का उदाहरण है ।

---

1. अलड़्.कारसर्वस्व – सं0 डॉ0 रामचन्द्र द्विवेदी पृ0 60–61
2. श्रीकण्ठ0 4/30

"तनुषु तनुते चन्द्रग्राव्णां सिराव्रणरोपणं
झटिति हरते विश्वास्याग्रात्तिरस्करिणीं दृशो ।
अपि च मिहिरोऽकूपारापस्मृतिक्षतिमान्त्रिको
हरिहरिदलंकारं सिंहासनीकुरूते गिरिम् ।।"[1]

उदय होता हुआ सूर्य चन्द्रकान्तमणियों के शिराव्रणों को शान्त करता है, विश्व की चक्षुओं के सामने से अन्धकार अर्थात् तिरस्करणी को हरण कर लेता है, समुद्र के क्षोभ को शान्त करने वाला मन्त्रवेत्ता है और इन्द्रदिशा (पूर्व) के अलङ्कारभूत उदयपर्वत को अपना सिंहासन बनाता है। यह कारकदीपक का उदाहरण है।

यहाँ उदय होता हुआ सूर्य यह एक कारक है इसके साथ चन्द्रकान्तमणियों के शिराव्रणों को शान्त करना, विश्व के अन्धकार का हरण करना, समुद्र के क्षोभ को शान्त करना, पूर्व दिशा के उदयपर्वत को सिंहासन बनाना इत्यादि क्रियापदों का सम्बन्ध होने से "कारकदीपक" का उदाहरण है।

11. **विभावना अलङ्कार :-**

आचार्य रूद्रट के मतानुसार 'जिसमें लोक मे विवक्षित अर्थ जिस कारण स घटित होता है उस कारण के बिना भी घटित होता बताया जाता है वहाँ विभावना नामक अलङ्कार होता है।[2] मम्मट ने विभावनालङ्कार का लक्षण दिया है कि जहाँ कारण का अभाव होने पर भी उसके कार्य रूप फल की उत्पत्ति होती है अर्थात् जहाँ कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति पायी जाती है वहाँ 'विभावना' अलंकार होता है।[3] आचार्य विश्वनाथ ने

---

1. श्रीकण्ठ० 16/16
2. सेयं विभावनाख्या यस्यामुपलभ्यमानमभिधेयम् ।
   अभिधीयते मतः स्यात्तत्कारणमन्तरेणैव ।। काव्यालङ्कार 9/16
3. क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ।। का०प्र० 10/107

भी यही लक्षण प्रस्तुत किया। हेतु के बिना यदि कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो तो विभावना अलड्.कार होता है। इसके दो भेद होते हैं। एक वह जिसमें निमित्त उक्त हो और दूसरा वह जहाँ निमित्त अनुक्त हो।[1] प्रायः सभी आचार्यों ने विभावनालड्.कार का लक्षण एक सा ही दिया है।

उदाहरणार्थ –

"श्रवणपुटविवर्तनानिलक्रममुखरश्रुतिकम्बुचुम्बितः।
द्विरदनवदनस्य पप्रथे स्वयमसकृज्जयशड्.खवादनम्॥" [2]

यह विभावना अलड्.कार का उदाहरण है।

गजमुख गणेश जी की कर्णताल वायु के श्रुति कम्बु में पुनः पुनः प्रवेश से अनायास उनका जयशंखवादन हो रहा था। यहाँ बिना कारण के ही गजमुख गणेश जी की श्रुतिकम्बु में कर्णतालवायु के पुनः पुनः प्रवेश से अनायास (बिना कारण के) ही जयशंखवादन हो रहा था अतएव बिना कारण के ही कार्य का होना विभावनालड्.कार है।

12. विशेषोक्ति अलड्.कार :–

सम्पूर्ण कारणों के होने पर फल का न कहना विशेषोक्ति है। मम्मट ने यही लक्षण दिया है प्रसिद्ध कारणों के एकत्र होने पर भी कार्य का कथन न करना 'विशेषोक्ति' है। वह अनुक्तनिमित्ता, 2. उक्त निमित्ता तथा 3. अचिन्त्यनिमित्ता आदि तीन प्रकार की विशेषोक्ति होती है।[3] आचार्य विश्वनाथ ने भी विशेषोक्ति का उपर्युक्त लक्षण प्रस्तुत किया है। हेतु के रहते हुए भी फल के न होने पर विशेषोक्ति अलड्.कार होता

---

1. विभावना बिना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते॥
   उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता। सा0 द0 10/66 पृ0 35
2. श्रीकण्ठ0 23/23
3. विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः। का0प्र0 10/162 सू0

है । विश्वनाथ के अनुसार यह उक्तनिमित्ता एवं अनुक्तनिमित्ता के भेद से दो प्रकार की होती है ।[1]

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" में विशेषोक्ति अलङ्कार का भी सुन्दर प्रयोग किया है –

"क्ष्मापीठपृष्ठमपि घट्टयतोऽतिवेल –
मुद्वेलमत्सररसपल्लवमानदृष्टेः ।
अभ्यास तो मुरजवादनविभ्रमेषु
नो नन्दिनः करतलं श्रममाससाद ।।"[2]

गर्वयुक्त नन्दी के हाथ, मुरजवादन से अभ्यस्त, बड़ी देर तक पृथ्वी को पीटते रहने पर भी नहीं थके । यहाँ पर "नन्दी के हाथों द्वारा बड़ी देर तक पृथिवी को पीटना" यह कारण उपस्थित है फिर भी "नन्दी के हाथ नहीं थके" फल या कार्य का अभाव है और नन्दी के हाथ क्यों नहीं थके इसका निमित्त नहीं बतलाया गया है इसलिए यह अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण है ।

13. **निदर्शना अलङ्कार :–**

आचार्य दण्डी के अनुसार किसी अन्य कार्य में प्रवृत्त होने पर उसके अनुरूप अच्छे या बुरे फल का निदर्शन "निदर्शनालङ्कार" का स्वरूप है ।[3] भामह ने जो निदर्शनां का लक्षण दिया है वह परवर्ती लक्षणों से भिन्न है । इनके अनुसार जहाँ क्रिया के द्वारा

---

1. सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा ।। सा0द0 10/67
2. श्रीकण्ठ0 18/52
3. अर्थान्तरप्रयुक्तेन किंचित् तत्सदृशं फलम् ।
   सदसद्वा निदर्शयेत् यदि तत्स्यान्निदर्शनम् ।। काव्यादर्श 2/348

ही यथा , इव, वति के प्रयोग के बिना विशिष्ट अर्थ का उपदर्शन होता है वहाँ निदर्शना होती है ।[1] वामन ने अवश्य भामह का अनुगमन करते हुए कहा कि शुद्ध क्रिया के द्वारा विशिष्ट अर्थ के उपदर्शन के स्थान पर सम्बन्ध का ख्यापन वामन के लक्षण की विशेषता है ।[2] यह सम्बन्ध स्थापन जो अन्ततः औपम्य में पर्यवसित होता है निदर्शन का आवश्यक तत्त्व है । वामन ने सम्बन्ध स्थापन की बात तो कही पर उन्होंने औपम्य की प्रतीयमानता का सूत्रण अपने लक्षण में नहीं किया और न भामह की भाँति असम्भवद् वस्तुसम्बन्ध को निदर्शना में सम्मिलित किया । आचार्य रूय्यक के मतानुसर दो वस्तुओं का एकत्र सम्बन्ध जो अन्वय की बाधा न रहने से सम्भव और अन्वय की बाधा होने पर असम्भव कहलाता है – विम्बप्रतिबिम्बभाव की प्रतीति कराता है तो निदर्शना होती है ।[3] दो वस्तुओं का एकत्र अवस्थान उन दोनों में किसी प्रकार के सम्बन्ध को स्वभावतः बताता है यदि वह सम्बन्ध कारण और कार्य जैसा हो तो निदर्शना अलड्.कार नहीं होगा, क्योंकि कार्यकारणभूत दो वस्तुओं से बिम्बप्रतिबिम्ब की प्रतीति नहीं होगी । निदर्शना उपमामूलक अलड्.कार है अतः जहाँ दो वस्तुओं में, जो दो पदों या एक वाक्य में वर्णित है, सादृश्य का अनुभव होगा वही निदर्शना अलड्.कार होगा । रूय्यक के निदर्शना लक्षण का यही अभिप्राय है रूय्यक का लक्षण उद्‌भट से स्पष्टतः प्रभावित है ।[4] रूय्यक ने उपमानोपमेयत्व के स्थान पर "प्रतिबिम्बकरण" शब्द का प्रयोग किया है जो अधिक उपयुक्त है । आचार्य विश्वनाथ भी रूय्यक का अनुगमन कर निदर्शना का लक्षण दिया । जहाँ वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध सम्भव (अबाधित) अथवा असम्भव (बाधित) होकर उनके बिम्बप्रतिबिम्बभाव का बोधन करे वहाँ निदर्शना अलड्.कार होता है ।[5] मम्मट के अनुसार जहाँ वस्तु (पदार्थों या वाक्यार्थों)

---

1. काव्यालड्.कार पृ0 44–45
2. क्रिययैव स्वतदर्थान्वयख्यापनं निदर्शनम् । का0 सू0 4/3
3. संभवासंभवता वा वस्तुसंबन्धेन गम्यमानं प्रतिबिम्बकरणं निदर्शना ।। अलंकारसर्वस्व सू0 27
4. अभवन्वस्तु सम्बन्धो भवन् वा यत्र कल्पयेत् ।
   उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा निदर्शना ।। काव्यालड्.कार 5/18
5. संभवन्वस्तुसंबन्धोऽसंभवन्वापि कुत्रचित् ।।
   यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निर्दशना । सा0द0 10/51

का असम्भव या अनुपपद्यमान सम्बन्ध उपमा की कल्पना कर लेता है वहाँ 'निदर्शना' अलङ्कार होता है ।[1]

महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" में "निदर्शना" अलङ्कार का उदाहरण द्रष्टव्य है –

चूर्णालकव्यतिकरे ननु किंमुधैव
शेफालिकामुकुलशेखरकल्पनाभिः ।
अस्मिंल्ललाटफलके प्रतिबिम्बतस्ते
तत्कर्मनर्म कुरूते हि तमीकुटुम्बः ।।[2]

केश–सीमान्त में शेफालिकापुष्पस्रज को धारण करने की क्या आवश्यकता है तुम्हारे इस उन्नत ललाट में प्रतिबिम्बित चन्द्र ही उस पुष्पस्रज का काम कर रहा है । चन्द्राभललाट केशसीमा पर पुष्पस्रज – सा शोभित हो रहा है -- इस उपमा में कवि के कथन के परिणत हो जाने से "निदर्शना अलङ्कार" है ।

14. **सहोक्ति अलङ्कार :–**

आचार्य भामह ने इसका सर्वप्रथम लक्षण करते हुए दो भिन्न वस्तुओं में एक काल में रहने वाली दो क्रियाओं का एक पद से कथन 'सहोक्ति' अलङ्कार का स्वरूप माना।[3] उद्भट ने भामह के ही लक्षण को यथावत् स्वीकार कर लिया ।[4] दण्डी ने गुण

---

1. अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ।। का0प्र0 10/148
2. श्रीकण्ठ0 11/36
3. तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये ।
पदेनैकेन कथ्यन्ते सहोक्तिः सा मता यथा ।। काव्यालङ्कार 3/39
4. तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रिते ।
पदेनैकेन कथ्यन्ते सा सहोक्तिर्मतासताम् ।। काव्यालङ्कार संग्रह 4/29

और कर्म के सहभाव से कथन को सहोक्ति बताते हुए कर्म मे गुण का तत्त्व और सन्निविष्ट कर दिया था ।[1] और वामन का लक्षण भामह के श्लोकबद्ध लक्षण का ही गद्य रूप है ।[2] रूद्रट के अनुसार अपने सदृश दूसरे अर्थ को घटित करता हुआ जो अर्थ जिस रूप में होता है उस दूसरे अर्थ के समान इसका कथन जहाँ होता है वहाँ 'सहोक्ति' नामक अलड्.कार होता है ।[3] आचार्य रूय्यक का सहोक्ति विवेचन व्याकरण-- दर्शन से प्रभावित है । उपमान और उपमेय में से एक की प्रधानता का निर्देश होने पर, दूसरे का सहार्थ से सम्बन्ध होने पर सहोक्ति होती है ।[4] विश्वनाथ के अनुसार सह शब्दार्थ के बल से जहाँ एक शब्द दो अर्थो का वाचक हो वहाँ 'सहोक्ति' अलड्.कार होता है -- परन्तु इसके मूल में अतिशयोक्ति अवश्य रहनी चाहिए । यहाँ अतिशयोक्ति या तो अभेदाध्यवसाय मूलक होती है या कार्य कारण के पौर्वापर्य – विपर्यय के कारण होती है । अभेदाध्यवसाय में भी कहीं श्लेषमूलक और कहीं अश्लेषमूलक ।[5] विश्वनाथ ने सहोक्ति के भेद आचार्य रूय्यक के आधार पर किये हैं ।[6] मम्मट के अनुसार जहाँ सह शब्द के अर्थ के सामर्थ्य से एक पद दो का वाचक अर्थात् दो पदों से सम्बद्ध हो वह सहोक्ति कहलाती है ।[7]

प्रस्तुत ग्रन्थ "श्रीकण्ठचरितम्" में 'सहोक्ति' अलड्.कार का उदाहरण –

"शनैः शनैर्मानवतीकवोष्णश्वासोर्मिभिः सार्धमवर्धताहः ।
निशीथिनी कार्श्यदशां वियोगिजीवाशया सार्धमपि प्रपेदे ।।"[8]

---

1. सहोक्तिः सहभावेन कथनं गुणकर्मणाम् । काव्यादर्श 2/351
2. वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदाभिधानं सहोक्तिः । काव्यालड्.कार सूत्र 4/3/28
3. भवति यथारूपोऽर्थः कुर्वन्नेवापरं तथाभूतम् ।
   उक्तिस्तस्य समाना तेन समं या सहोक्ति सा ।। काव्यालड्.कार 7/13
4. उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसम्बन्धे सहोक्तिः । अलड्.कार सर्वस्व सू0 29
5. सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्यादवाचकं द्वयोः ।
   सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा ।। सा0द0 दशक परिच्छेद पृ0 335
6. अलड्.कारसर्वस्व सू0 29 वृत्तिभाग द्रष्टव्य ।
7. सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ।। का0प्र0 10/169
8. श्रीकण्ठ0 6/7

प्रस्तुत श्लोक में सहोक्ति अलड्.कार है।

मानवतियों की किंचिदुष्णनिःश्वासों की वृद्धि के साथ ही साथ दिन बढ़ चला वियोगियों की जीवन आशा की क्षीणता के साथ साथ ही रात्रि भी क्षीणता को प्राप्त हो चली।

यहाँ उष्णनिःश्वासों के बढ़ने के साथ साथ दिन का बढ़ना और वियोगियों की जीवना आशा की क्षीणता के साथ साथ रात्रि का क्षीण होना वर्णित है अतएव "सार्ध" शव्द के प्रयोग से काव्योचित चमत्कार आ गया है इसलिए सहोक्ति अलड्.कार है।

15. **तद्गुणालड्.कार :–**

आचार्य रूद्रट इस अलड्.कार के प्रवर्तक हैं। इनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने इसका विवेचन नहीं किया है। रूद्रट ने 'तद्गुण' के दो प्रकारों का वर्णन किया है। जिनमें से प्रथम प्रकार वाले 'तद्गुण' [1] को मम्मट ने 'सामान्य' नामक अलड्.कार बताया है तथा तद्गुण के दूसरे भेद को मम्मटादि आचार्यों ने "तद्गुण" नाम से ही अपना लिया है। तद्गुण के इस द्वितीय भेद का लक्षण रूद्रट ने दियाहै – ' जिस अलड्.कार में असमान गुण वाली वस्तु अधिक गुण वाली वस्तु से मिलकर उसी का गुण अपना ले वह दूसरा तद्गुण कहलाता है।[2] आचार्य मम्मट ने भी तद्गुण का लगभग यही स्वरूप बतलाया है। उनके अनुसार जहाँ न्यून गुण वाली प्रस्तुत वस्तु अत्यन्त उज्जवल गुण वाली (अप्रस्तुत वस्तु) के सम्पर्क से अपने गुण को छोड़कर उसी के गुण से युक्त हो जाती है उसे 'तद्गुण' कहते हैं।[3] मम्मट के परवर्ती आचार्यों ने मम्मट के मतानुसार ही इस अलड्.कार का विवेचन किया है।

---

1. यस्मिन्नेकगुणानामर्थानां योगलक्ष्यरूपाणाम् ।
   संसर्गे नानात्वं न लक्ष्यते तद्गुणः स इति ।। काव्यालड्.कार 9/22
2. असमानगुणं यस्मिन् अतिबहलगुणेन वस्तुना वस्तु ।
   संसृष्टं तद्गुणतां धत्तेऽन्यस्ततद्गुणः सइति ।। वहीं पर 9/24
3. स्वमुत्सृज्य गुणं योगादप्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।
   वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ।। का0प्र0 10/137

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" में तद्गुण अलङ्कार का उदाहरण –

पद्मरागरूचिसंचयाञ्चितावर्तगर्तशतबन्धुरेऽम्बुधौ ।
सांध्यरागसचिवं न मण्डलं पप्रथे विवलमानमुष्णगोः ।।[1]

प्रस्तुत उदाहरण में तद्गुण अलङ्कार है क्योंकि यहाँ सूर्यबिम्ब अपने स्वरूप को छोड़कर भँवरों वाले समुद्र में एक आवर्त के रूप को प्राप्त हो जाता है । इसलिए कि पद्मरागप्रभाओं से अनुरंजित शतशः भँवरों वाले समुद्र में डुबकियाँ खाता हुआ सूर्यबिम्ब दिख न सका , एक आवर्त सा लगता था । अतः तद्गुण अलङ्कार है ।

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" में अन्य अर्थालङ्कार भी प्राप्त होते हैं, जिनका विस्तार से विवेचन प्रस्तुत न करके अलङ्कार सर्ग एवं श्लोक संख्या प्रस्तुत है —

<u>सन्देहालङ्कार :–</u> चौबीसवें सर्ग के 42वे श्लोक में बारहवें सर्ग के 68वें श्लोक में है ।

<u>स्मरण अलङ्कार :–</u> चौबीसवें सर्ग के 24वें श्लोक में, और व्यङ्ग्यरूप स्मरण तेइसवें सर्ग के 30वें श्लोक में ।

<u>भ्रांतिमान अलङ्कार :–</u> अष्टम सर्ग के 16वें श्लोक में और सप्तम सर्ग के 23वें श्लोक में ।

<u>उल्लेख अलङ्कार :–</u> दशम सर्ग के 50वें एवं 55वें श्लोक में ।

---

1. श्रीकण्ठ0 10/14

अपहनुति अलड्.कार :– दशम सर्ग के 34वें श्लोक में और ध्वनिरूप अपहनुति दशम सर्ग के 30वें श्लोक में।

परिकर अलड्.कार :– द्वादश सर्ग के 69वें श्लोक में।

विषमालड्.कार :– एकादश सर्ग के 40वें श्लोक में।

असंगति अलड्.कार :– अष्टम सर्ग के 35वें श्लोक में।

ब्याजस्तुति अलड्.कार :– द्वादश सर्ग के 88वें एवं 77वें श्लोक में प्रस्तुत है।

विचित्रालड्.कार :– सप्तदश सर्ग के 13वें श्लोक में।

अधिकालड्.कार :– विंशति सर्ग के 16वें श्लोक में।

व्याघात अलड्.कार :– त्रयोदश सर्ग के 31वें , 32वें श्लोक में।

काव्यालिड्.ग अलड्.कार :– चतुर्थ सर्ग के 12वें श्लोक में ध्वनिरूप काव्यलिड्.ग सप्तम सर्ग के 31वें श्लोक में द्रष्टव्य है।

अनुमान अलड्.कार :– दशम सर्ग के 45वें श्लोक में।

यथासंख्यालड्.कार :– त्रयोदश सर्ग के 47वें श्लोक में।

विकल्प अलड्.कार :– एकादश सर्ग के 54वे श्लोक में और दशम सर्ग के 66वें श्लोक में।

समुच्च्यालड्.कार :– चतुर्दश सर्ग के 17वें श्लोक में।

सामान्यालड्.कार :– विंशति सर्ग के 64वें श्लोक में और त्रयोदश सर्ग के 24वें श्लोक में।

मीलित अलड़.कार :– चतुर्दश सर्ग के 50वें श्लोक में।

सूक्ष्मालड़.कार :– पञ्चदश सर्ग के 28वें श्लोक में।

उत्तरालड़.कार :– चतुर्दश सर्ग के 61,62वें श्लोक में।

भाविकालड़.कार :– ध्वनिरूप अष्टदश सर्ग के 3 श्लोक में।

उदात्तालड़.कार :– चतुर्थ सर्ग के 15वें श्लोक में और षष्ठ सर्ग के 37वें श्लोक में।

संसृष्टि अलड़.कार :– चतुर्थ सर्ग के 19वें श्लोक में, उक्त श्लोक में काव्यलिड.ग तथा उत्प्रेक्षा भी निरपेक्ष भाव से स्थित है।

सड़.कर सन्देह अलड़.कार :– चतुर्थ सर्ग के 14वें, 23वें, 35वें श्लोक में प्राप्त है।

(स) अर्थालड़.कार का प्रयोग एवं समीक्षा :–

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य में लगभग सभी अर्थालड़.कारों का कवि ने सुन्दर प्रयोग किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उत्प्रेक्षा अलड़.कार का प्रयोग बहुतायत में किया है। उपमा, रूपक, तथा अर्थान्तरन्यास अलड़.कारों के अनेक सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं।
इनके अतिरिक्त समासोक्ति, विभावना, विशेषोक्ति, व्यतिरेक, तदगुण इत्यादि अर्थालड़.कार के मनोहारी प्रयोग भी प्राप्त होते हैं। सड़.कर अलड़.कार का अर्थालड़.कारों के साथ प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत महाकाव्य में उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, आदि का प्रचुरता से प्रयोग होने से कहीं कहीं अलड़.कार दोष भी आ गया है। जिससे काव्यानन्द की अनुभूति में अत्यधिक व्यवधान पड़ता है। परन्तु उपमादि अलड़.कारों की मधुरता से वह आनन्द पुनरूज्जीवित हो जाता है।

महाकवि मंखक ने प्रस्तुत प्रबन्ध रचना में सुन्दर अर्थालड़्.कारों का निदर्शन कर महाकाव्य को सरस एवं अलड़्.कृत बना दिया है । काव्य में आदि से अन्त तक प्रत्येक श्लोक मे अलड़्.कार का सौन्दर्य द्रष्टव्य है । कवि ने अलड़्.कार , गुण, रीति के साथ साथ रस का भी भरपूर प्रयोग किया है । मंखक को प्रबन्ध रचना का पूर्ण ज्ञान था जैसा कि उनके ग्रन्थ के द्वितीय सर्ग से ज्ञात हो जाता है । मंखक ने अलड़्.कारों का प्रयोग कर काव्य को सुशोभित बना दिया ।

सप्तम अध्याय

रस निरूपण

रस निरूपण

(क) **सामान्य परिचय :–**

काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने रस का विवेचन करते हुए सभी प्रकार के काव्यों में रसयुक्त काव्य को ही सर्वश्रेष्ठ बताया है । आचार्य विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहा है । रस सूत्र के प्रणेता आचार्य भरतमुनि के अनुसार 'विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है ।'[1] विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभाव को साहित्यशास्त्र में रस की व्यञ्जनसामग्री कहा गया है । भरतमुनि के रस सूत्र के आधार पर आचार्य मम्मट ने रस के स्वरूप की व्याख्या करते हुए लिखा है -- 'लोक में स्थायी रति आदि चित्तवृत्तिविशेष के जो कारण, कार्य और सहकारीभाव हैं, उनका यदि नाट्य तथा काव्य में वर्णन किया जाता है , तो वे कारणादि क्रमशः विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारीभाव कहे जाते हैं । उन विभावादि के द्वारा अथवा उनके सहित व्यञ्जना द्वारा व्यक्त किया हुआ वह स्थायी भाव रस है ।[2] रस के स्वरूप के विषय में आचार्य विश्वनाथ का भी यही मत है – सहृदयों के हृदय में (वासनारूप से स्थित) रति आदि स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के द्वारा अभिव्यक्त हो उठते हैं, तब आस्वादरूप हो जाते हैं और रस कहलाते है ।[3]

लोक में जो पदार्थ लौकिक इत्यादि भावों के उद्बोधक होते हैं, वे ही काव्य नाट्य में वर्णित होने पर विभाव कहे जाते हैं । विभाव दो प्रकार के बताये गये हैं –

1. आलम्बन विभाव 2. उददीपन विभाव । काव्य नाट्य वर्णित नायकादि आलम्बन विभाव होते हैं , क्योंकि इन्हीं के कारण सामाजिकों के हृदय में रस का सञ्चार हुआ

---

1. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः । नाट्यशास्त्र 6/33
2. कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ।। का०प्र० 4/27,28
3. विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम् ।। सा०द० 3/1

करता है ।[1] आलम्बन भूत नायक – नायिका आदि की विविध आङ्गिक चेष्टाएं, समुचित देश–काल आदि जो कि रस को उद्दीप्त किया करते हैं, वे उद्दीपन विभाव कहलाते हैं ।[2]

अपने अपने कारणों से हृदय में उद्बुद्ध रत्यादि भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले अङ्गादि व्यापारों को अनुभाव कहते हैं । लोक में ये अङ्गादि व्यापार कार्य समझे जाते है किन्तु काव्य नाट्य के क्षेत्र में इन्हें अनुभाव कहा जाता है ।[3] अनुभाव तीन प्रकार के हैं :–

सात्त्विक, कायिक, और वाचिक । सत्त्व के उद्रेक से उत्पन्न जो मनोविकार हैं, उन्हें सात्त्विक भाव कहा जाता है ।[4] ये आठ प्रकार के माने गये हैं । 1 स्तम्भ 2. स्वेद् 3. रोमाञ्च 4. स्वरभङ्ग 5. वेपथु 6. वैवर्ण्य 7. अश्रु 8. प्रलय ।[5]

व्यभिचारीभाव उन भावों को कहते हैं, जो विशेष उत्कटता अथवा अनुकूलता से रत्यादि स्थायिभावों को रसास्वाद में परिणत करते हैं तथा जिन्हें स्थायिभावों के समुद्र में बुलबुले की भाँति उन्मज्जित तथा निमज्जित होते हुए देखा जाता है । ये तैंतीस प्रकार के माने गये हैं ।[6] निर्वेद , ग्लानि, शङ्का, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता,

---

1. रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः ।
   आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।।
   आलम्बनं नायकादिस्तमालम्व्य रसोद्गमात् ।। सा0द0 3/29
2. उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ।।
   अलम्बनस्य चेष्टयद्या देशकालादयस्तथा । सा0द0 3/131,132
3. उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।।
   लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ।। सा0द03/132,133
4. विकाराः सत्त्वसंभूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः ।। सा0द03/134
5. स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।।
   वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः । 3/135,136
6. विशेषादाभिमुख्येन चरणादव्यभिचारिणः ।
   स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः ।। तत्रैव 3/140

मोह, स्मृति, धृति, व्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जाड्य, गर्व, विषाद्, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, प्रबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क ।[1]

स्थायिभाव उसे कहते हैं जो न तो किसी अनुकूल भाव से तिरोहित होता है, और न किसी प्रतिकूल भाव से ही दबता है । यह अन्त तक अवस्थित रहने वाला भाव है, और इसी में रस के अड्.कुरण की मूलशक्ति निहित रहती है ।[2] स्थायिभावों की श्रेष्ठता का वर्णन करते हुए भरतमुनि का कहना है – जिस प्रकार मनुष्यों के बीच राजा तथा शिष्यों के बीच गुरू श्रेष्ठ होता है उसी प्रकार सभी प्रकार के भावों के मध्य स्थायिभाव महान् होता है ।[3] अधिकांश आचार्यों ने स्थायिभावों की संख्या नौ मानी है –

1. रति, 2. हास 3. शोक, 4. क्रोध 5. उत्साह 6. भय 7. जुगुप्सा 8. विस्मय और 9. शम ।[4] नाट्य में "शम" को स्थायिभाव नहीं माना गया है परन्तु काव्य में निर्विवादरूप से इसकी सत्ता स्वीकार की गई है । आचार्य विश्वनाथ ने पूर्वोक्त नौ स्थायिभावों का वर्णन करने के पश्चात् "वत्सलता अथवा स्नेह' नामक दसवें स्थायिभाव को भी मान्यता दी है । [5]

---

1. का0 प्र0 4/31–34.
2. अविरूद्धा विरूद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
   आस्वादड्.कुर कन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः ।। सा0 द0 3/174
3. यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरूः ।
   एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ।। नाट्यशास्त्र 7/8
4. रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
   जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च ।। सा0 द0 3/175
5. सा0 द0 3/251

(ख) विभावादि तथा रस के परस्पर सम्बन्ध के विषय में विविध आचार्यों के मतः-

काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने विभावादि तथा रस के परस्पर सम्बन्ध क विषय में विशद विवेचन किया है । आचार्य मम्मट ने भरतमुनि के द्वारा निर्दिष्ट रस सूत्र के चार व्याख्याकारों के मतों का उल्लेख किया है । वे आचार्य हैं -- 1. भट्टलोल्लट, 2. श्रीशङ्कुक, 3. भट्टनायक, 4. अभिनवगुप्त ।[1]

भट्टलोल्लट के अनुसार विभावादि उत्पादक हैं तथा रस उनसे उत्पन्न होता है । रस साक्षात् रूपसे अनुकार्य राम आदि में रहता है तथा अनुकर्ता नट आदि में उसका अनुभव हुआ करता है । इनका मत 'रसोत्पत्तिवाद' कहलाता है ।

श्रीशङ्कुक के अनुसार विभावादि अनुमापक है , तथा रस उनके द्वारा अनुमेय होता है । यह मत 'रसानुमितिवाद' कहलाता है ।

भट्टनायक 'रसभुक्तिवाद के प्रतिपादक हैं, जिनके अनुसार विभावादि भोजक हैं, तथा रस उनसे भोज्य होता है ।

अभिनवगुप्त के अनुसार विभावादि व्यञ्जक हैं, और रस उनसे अभिव्यक्त होता है । यह मत 'रसाभिव्यक्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है ।

इन आचार्यों में अभिनवगुप्त के द्वारा की गई व्याख्या ही परवर्ती आचार्यों के द्वारा स्वीकार की गई है तथा उन्हें ही रससूत्र का सर्वोत्तम व्याख्याकार माना गया है ।

---

1. का0प्र0 वृत्ति भाग 4/28

उनके अनुसार सहृदयों अथवा सामाजिकों के हृदय में रत्यादिभाव संस्कार–रूप से सूक्ष्मतया स्थित रहते हैं। वासनारूप से विद्यमान ये स्थायी भाव उन्हीं सामाजिकों के हृदय में सम्यक्तया अभिव्यक्त होते हैं, जो लोक में ललना, उद्यान, तथा कटाक्षादि के द्वारा रत्यादि का अनुमान करने में निपुण हो गये हैं। लोक के ये ललनादि काव्य – नाट्य में विभावादि का रूप धारण कर लेते हैं। काव्य का अलौकिक शक्ति के द्वारा विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। अतएव रसास्वादनकाल में प्रमाता भी नियत सीमित अथवा परिमित नहीं रहता, तथा उसके हृदय में एक विशेष प्रकार की चित्त वृत्ति का उदय हो जाता है, जिसमें किसी अन्य ज्ञेय का सम्पर्क नहीं रहता, तथा वह अपरिमित प्रमाता हो जाता है। इस अपरिमितावस्था में रत्यादि की सामान्यरूप से प्रतीति होती है, अर्थात् रत्यादि भावों का भी साधारणीकरण हो जाता है। रत्यादि भाव अपने आकार के समान अभिन्नरूप से अनुभूत होता हुआ भी आस्वादमात्र स्परूप वाला होता है। इसकी स्थिति विभावादि की सत्तापर्यन्त ही होती है। यह आस्वाद मात्रस्वरूप तथा विभावादि जीवितावधि रत्यादि भाव ही रस कहलाता है। इसका आस्वादन अखण्ड रूप से होता है। इसमें विभावादि की प्रतीति पृथक् रूप से नहीं होती। जैसे पानक रस में इलायची, कालीमिर्च, मिश्री, केसर, तथा कर्पूर इत्यादि का मिश्रण होता है, किन्तु इस मिश्रण का रस इन सभी वस्तुओं के रस से पृथक् विलक्षण तथा एकरूप होता है, उसी प्रकार रस विभावादि से पृथक् विलक्षण एवं अखण्डरूप में प्रतीत होता है। यह सहृदय के चित्त की द्रुति तथा विस्तार करता है। उसे ऐसा लगता है, मानों वह रस साक्षात् रूप से सामने परिस्फुरित हो रहा हो, हृदय में प्रविष्ट सा हो रहा हो, प्रत्येक अड्.ग में अमृत का सिञ्चन सा कर रहा हो, अपने अतिरिक्त समस्त संसार को आच्छादित सा कर रहा हो तथा ब्रह्मानन्द जैसा अनुभव करा रहा हो।[1] इसी कारण सहृदयों के मध्य इसे ब्रह्मानन्दसहोदर कहा गया है।

---

1. का0प्र0 वृत्ति भाग 4/28

(ग) **रसों की संख्या :-**

भरतमुनि ने रसों की संख्या आठ मानी है - श्रृड्गार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, तथा अद्भुत ।[1] इन आठ रसों के विषय में सभी आचार्य एक मत है, किन्तु कुछ आचार्यों ने शान्त, भक्ति, तथा वात्सल्य को भी रसों के अन्तर्गत माना है । भरतमुनि ने भी उपर्युक्त आठ रसों का वर्णन करने के अनन्तर शान्त रस का विवेचन किया है ।[2] आचार्य मम्मट ने शान्त रस को नवम् रस माना है , तथा निर्वेद को उसका स्थायिभाव कहा है ।[3] उन्होंने वात्सल्य तथा भक्ति का भावध्वनि में अन्तर्भाव किया है ।[4] अभिनव गुप्त ने भरतमुनि की मान्यता का समर्थन करते हुए "अभिनव-भारती" में शान्त रस का विवेचन किया है, किन्तु इन्होंने भी वात्सल्य को रस की कोटि से बाहर रखा है । इसके विपरीत आचार्य विश्वनाथ ने वात्सल्य रस को पृथक् रस के रूप में मान्यता दी है ।[5] दशरूपककार धनञ्जय ने शान्तरस को केवल काव्य का विषय माना है , नाट्य का नहीं ।[6]

(घ) **महाकवि मंखक की दृष्टि में रस का महत्त्व :-**

महाकवि मंखक की दृष्टि में रसयुक्त महाकाव्य ही प्रधान होता है । उन्होंने "श्रीकण्ठचरितम्" में रस की महत्ता को स्पष्ट करते हुए बिना रस के कवित्व को

---

1. नाट्यशास्त्र 6/16
2. नाट्यशास्त्र 6/84-87
3. निर्वेदस्थायिभावोऽस्तिशान्तोऽपि नवमोरसः । का0 प्र0 4/35
4. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ।।
   भावः प्रोक्तः .... । तत्रैव 4/35,36
5. सा0द0 3/251
6. दशरूपक 4/35

व्यर्थ बताया है।[1] महाकवि मंखक उन्हें ही महाकवि समझते हैं, जिनकी वाणियाँ मधुकण छोड़ने वाली किसी विस्तृत रस को अधिक विशाल परिपाक के उत्कर्ष वाले पिकों की तरह धारण करती हैं। और उन्हें कवि नहीं समझते हैं जो दुस्तर क्रम की दुर्बोधता के सम्बन्ध से श्रोताओं की बुद्धि को जो विरक्त करते हैं।[2] इस प्रकार मंखक ने रसवादी महाकवि को ही श्रेष्ठता प्रदान की है।

महाकवि मङ्.खक ने रस का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि रसहीन रचना का संस्कृत साहित्य में कोई मूल्य नहीं होता।[3]

मङ्.खक के अनुसार सरस्वती देवी ही कवियों की माता है। उस माँ के कवित्व और पाण्डित्य रूपी दो स्तन हैं। जो सरस्वती माँ के कवित्व और पाण्डित्य रूपी दोनों स्तनों का चिरकाल तक पान करता है वह शास्त्र तथा काव्य में प्रागल्भ्य एवं सौष्ठव प्राप्त कर लेता है।[4] माँ सरस्वती की अनुकम्पा से ही कोई भी महाकवि सरस काव्य के निर्माण में प्रवृत्त होता है। काव्य का परिपोषक तत्त्व रस को महाकवि मङ्.खक ने आवश्यक माना है। और रसास्वादयुक्त काव्य की रचना करना सर्वथा दुष्कर कार्य बताया है। मङ्.खक के मतानुसार जिस प्रकार व्यक्ति हार आदि अलङ्.कारों

---

1. अर्थोऽस्ति चेन्न पदशुद्धिरथास्ति सापि
   नो रीतिरस्ति यदि सा घटना कुतस्तया।
   साप्यस्ति चेन्न नववक्रगतिस्तदेतद्
   व्यर्थं बिना रसमहो गहनं कवित्वम्॥ श्रीकण्ठ० 2/32

2. मधुकणमुचो वाचो येषां विसारि रसं कम–
   प्युरुतरपरीपाकोद्रेकाः पिका इव बिभ्रति।
   त इह कवयो मन्ये नान्ये पुनर्दुरतिक्रम –
   क्रमकठिनतायोगद्येषां विमुह्यति शेमुषी॥ श्रीकण्ठ० 2/50

3. आटोपेन पटीयसा यदपि सा वाणी कवेरामुखे
   खेलन्ती प्रथते तथापि कुरुते नो सन्मनोरञ्जनम्।
   न स्याद्यावदमन्दसुन्दरगुणालङ्.कारझांकारितः
   स प्रस्यन्दिलसद्रसायन रसासारानुसारी रसः॥ श्रीकण्ठ० 2/50

4. सरस्वतीमातुरभूच्चिरं न यः कवित्वपाण्डित्यघनस्तनं धयः
   कथं सा सर्वाङ्.गमनाप्त सौष्ठवो दिनादिदनं प्रौढिविशेषमश्नुते॥ श्रीकण्ठ० 2/27

से विभूषित होकर सिंहासन पर अधिरूढ़ होकर भी बिना राज्याभिषेक के 'राजपद' को नहीं प्राप्त करता है, उसी प्रकार उपमा आदि अलड्.कारों से विभूषित होने पर भी जब तक काव्य में विस्तृत रस का परिपाक नहीं होगा तब तक वह काव्य "प्रबन्ध--काव्य" अथवा "काव्याधिराज" का पद नहीं प्राप्त कर सकता है।[1]

≬ड.≬ **प्रस्तुत महाकाव्य का अड्.गीरस वीर :-**

वाग्वैद्ग्धयसम्पन्न कवियों की रचनाओं में प्रायः सभी रसों का परिपाक हुआ करता है। इस प्रकार के रसयुक्त प्रबन्धों में कोई एक रस अड्.गी होता है, तथा अन्य रस उसके अड्.ग के रूप में हुआ करते हैं। इस विषय में ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्द्धन का कहना है कि प्रबन्ध में एक ही प्रधान रस उपनिबद्ध होकर अर्थविशेष की सिद्धि तथा सौन्दर्यातिशय की पुष्टि करता है। जैसे -- रामायण अथवा महाभारत में। रामायण में 'शोकः श्लोकत्वमागतः' कहने वाले आदि कवि बाल्मीकि ने स्वयं ही करूण रस का अड्.गत्व सूचित किया है और सीता के अत्यन्त वियोग पर्यन्त ही काव्य की रचना करके उसका निर्वाह भी किया है।[2] यद्यपि प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" एक चित्रकाव्य है, जिसमें अलड्.कारों को ही प्रमुखता दी गई है, और आदि से अन्त तक "उत्प्रेक्षा" नामक अर्थालड्.कार का निर्वाह किया गया है, किन्तु अलड्.कारों की प्रधानता होते हुए भी इसमें रसों की उपेक्षा नहीं गयी है। यत्र-तत्र विभिन्न प्रसड्.गों में इस महाकाव्य में सभी रस उपलब्ध होते हैं।

यहाँ यह विचारणीय है कि प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" का अड्.गी रस कौन है। शिवपुराण की कथा "त्रिपुरदहन" पर आधारित यह ग्रन्थ युद्ध के वर्णनों

---

1. तैस्तैरलड्.कृतिशतैरवतंसितोऽपि
   रूढो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि।
   नूनं बिना घनरसप्रसराभिषेकं
   काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबन्धः।। तत्रैव 2/32

2. ध्वन्यालोक वृत्ति 4/5

से ओत–प्रोत है , अतः इन वर्णनों में रौद्र, वीर, भयानक – ये तीन रस सुगमता से प्राप्त हो जाते हैं । अनेक स्थानों पर प्रियजनों की मृत्यु अथवा अन्य वर्णनों में करूण रस विद्यमान हैं । शान्त रस भी प्रचुरता से उपलब्ध होता है तथा बीभत्स रस के भी अनेक प्रसड्.ग प्राप्त होते हैं । रसराज श्रृड्.गार का वर्णन भी महाकवि ने अत्यधिक किया है जबकि इस महाकाव्य में नायिका पार्वती का प्रत्यक्ष वर्णन एक जगह छोड़कर कहीं भी नहीं हुआ, वह केवल दोलाक्रीडा में प्रस्तुत होती हैं फिर भी पुष्पावचय, जलक्रीडा, दोलाक्रीडा आदि में श्रृंगार का वर्णन किया है । हास्य रस का इसमें अभाव है । अड्.गीरस के विषय में आचार्य विश्वनाथ का स्पष्ट मत है कि किसी महाकाव्य में श्रृड्.गार , वीर अथवा शान्त में से कोई एक रस अड्.गी रूप से परिपुष्ट किया जा सकता है । तथा उस एक रस के अतिरिक्त अन्य सभी रस अड्.ग रूप से अभिव्यक्त किये जा सकते हैं ।[1] इस सिद्धान्त के अनुसार करूण, रौद्र तथा अद्भुत रस आदि अड्.गीरस की कोटि से बाहर हो जाते हैं । चूँकि इस महाकाव्य का कथानक "त्रिपुरदहन" पर आधारित है अतः इसमें महाकवि ने युद्धप्रधान वर्णन किया है इसलिए वीररस प्रधान महाकाव्य है । महाकवि द्वारा उपनिबद्ध वीर रस का आश्रय स्वयं भगवान् शिव जी हैं । त्रिपुर के विनाशार्थ उनका उत्साह ही स्थायी भाव है, आलम्बन हैं प्रतिनायक त्रिपुरासुर देवों की विपत्तियाँ , असुरों का अहंभाव, उनकी अबद्धयता एवं स्वर्ण , रजत, लौह निर्मित तीनों पुरों की अभेद्यता आदि उद्दीपन विभाव है । मति, धृति, स्मृति, तर्क, अहंकार, रोमाञ्च आदि सञ्चारी भाव हैं । प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" मे तेइसवें सर्ग "युद्धवर्णनम्" और चौबीसवें सर्ग "त्रिपुरदाहवर्णनम्" के अन्तर्गत वीर रस का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ है । प्रारम्भ में सर्ग चतुर्थ से षोड्श सर्ग पर्यन्त "कैलासवर्णनम्", "साधारणवसन्तवर्णनम्", "दोलाक्रीडावर्णनम्" "पुष्पावचयवर्णनम्", "जलक्रीडावर्णनम्", "सन्ध्यावर्णनम्", चन्द्रवर्णनम्", "चन्द्रोदयवर्णनम्", "प्रसाधनवर्णनम्", "पानकेलिवर्णनम्"

---

1. सा0द0 6/317

इत्यादि में पाठक श्रृंगारादि रसों का अनुभव करते-करते वीर रस को विस्मृत कर बैठता है। फिर भी कथावस्तु का सूत्र जैसे ही सत्रहवें सर्ग से पुनः जुड़ता है वैसे ही अड़्.गी रस वीर एवं उसके सहायक रौद्र रस, वीभत्स रस आदि का अनुभव होता है।

आगे अड़्.गीरस "वीर रस" का एवं अड़्.गरस रौद्र, वीभत्स, भयानक, करूण, शान्त इत्यादि का विवेचन प्रस्तुत है।

वीर रस :-

उत्तम पात्र में आश्रित वीररस होता है। इसका स्थायीभाव उत्साह, देवता महेन्द्र और रंग सुवर्ण के संदृश होता है। इसमें जीतने योग्य पात्र आलम्बन विभाव होते हैं और उनकी चेष्टा आदि उद्दीपन विभाव होते हैं। युद्ध के सहायक (धनुष आदि या सैन्य आदि) का अन्वेषणादि इसका अनुभाव है। धैर्य, मति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमाञ्चादि इसके संचारीभाव हैं। दान, धर्म, दया और युद्ध के कारण यह वीर चार प्रकार का होता है - 1. दानवीर 2. दया वीर 3. धर्मवीर 4. युद्धवीर।[1]

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" में "युद्धवीर रस" का विशेष निरूपण किया गया है -

"बले दृप्यत्येवं शिशुशशभृदुत्तंसशिरसो
जयश्रीविस्रम्भग्रथितपरिरम्भव्यतिकरैः।

---

1. उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः।
महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः।।
आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः।
विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः।
अनुभावस्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादय।।
संचारिणस्तु धृतिमतिगर्वस्मृतितर्करोमाञ्चाः।
स च दानधर्मयुद्धदयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्।।
सा0द0 231-234

बृहत्कोपाटोपप्रकटनविशेषस्थिरतर –

स्फुरद्युद्धश्रद्धं त्रयमपि पुराणामघटत ।।"[1]

उपर्युक्त श्लोक में शिव और दैत्यों की उभय सेनाओं के बीच युद्ध का वर्णन प्रस्तुत किया गया है इसमें दैत्य बड़े क्रोध के साथ शिवजी को जीतने हेतु एक स्थान पर एकत्रित होते हैं । यहाँ पर शिवजी में उत्साह रूपी स्थायी भाव है और त्रिपुरासुर आलम्बन विभाव है और युद्ध के लिए दैत्यों का क्रोधित होना यहाँ पर उद्दीपन विभाव है, अस्त्र–शस्त्र आदि अनुभाव है । दैत्यों का गर्व, अहंकार आदि संचारी भाव है, इस आधार पर यह स्पष्ट होता है कि मड्.खक ने यहाँ पर वीर रस का निबन्धन किया है ।

हस्तैरस्त्रव्युदस्तैः प्रसृतसरसिजं लूनदण्डैर्विपाण्डु –

च्छत्रैरुच्चण्डफेनं स्फुटमसिभिरभिव्यक्तशेवालवल्लि ।

लीलानृत्यत्कबन्धभ्रमरकरचनैर्नर्तितावर्तचक्रं

सड्.ग्रामोर्वीसरस्ते दनुजमदगजा लोड़यन्तो जगर्जुः ।।[2]

प्रस्तुत श्लोक में महाकवि मड्.खक ने देव और दानवों के बीच प्रलयड्.कारी युद्ध का वर्णन प्रस्तुत किया है । इसमें शिवजी के द्वारा दैत्यों के अड्.गों को भड्.ग करना, दैत्यों के अस्त्र–शस्त्रों को काट गिराना आदि में अनुभाव है । दैत्यों के बहे हुए रक्त को कवि ने श्लोक में सरोवर के रूप में कल्पित किया है । इसलिए यहाँ पर संचारी भाव है । दैत्यों का विनाश करने के लिए शिवजी द्वारा उत्साह ही स्थायी भाव है , दैत्य आलम्बन विभाव हैं । दैत्यों का देवताओं के साथ युद्ध करने के लिए

---

1. श्रीकण्ठ0 23/49
2. श्रीकण्ठ0 23/53

चेष्टा से आगे बढ़ना ही उद्दीपन विभाव है । अतएव यहाँ पर वीर रस है ।

"येनोदस्तो नभसि स बलेर्मन्दिराणि प्रवेष्टुं
लक्ष्म्या मन्येऽनघपरिघतामाययौ दण्डपादः ।
बाणीकृत्य त्रिपुररिपुणा मुच्यमानोऽतिदूरं
स त्रैलोक्याक्रमणचणतां भूय एव प्रपेदे ।।"[1]

प्रस्तुत श्लोक में महाकवि मङ्खक ने "त्रिपुरदाहवर्णन" नामक चौबीसवें सर्ग के अन्तर्गत भीषण युद्ध का वर्णन करते हुए वीर रस को प्रस्तुत किया है । यहाँ भगवान शिव जी ने दैत्यों को परास्त करने हेतु विष्णु को बाण रूप में अस्त्र बनाकर ऊपर फेंका, बाण दण्ड रूप में आकाश में दूर तक विस्तृत हो विष्णु मानव बलि मन्दिरों में प्रवेशेच्छु लक्ष्मी को स्वदण्डपादरूपी अर्गला से निषिद्ध कर रहे हो ।

यहाँ पर त्रिपुरारि द्वारा युद्ध में चेष्टा करना उद्दीपन विभाव है, दैत्य आलम्बन विभाव हैं , बाण आदि अस्त्र अनुभाव हैं, बाण रूपी विष्णु द्वारा दैत्यों को जीतने हेतु उत्साह ही स्थायी भाव है । इसलिए उपर्युक्त श्लोक में वीर रस स्पष्ट होता है ।

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" के निम्न श्लोकों में भी वीर रस का पूर्ण परिपाक हुआ है – तेइसवें सर्ग के अन्तर्गत श्लोक संख्या 3, 6, 10, 13, 21, 33, 42, 56 में और चौबीसवें सर्ग की श्लोक संख्या 7, 11, 13, 16, 24, 31 आदि श्लोकों में पूर्णरूप से वीर रस प्रस्फुटित हुआ है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 24/10

रौद्र रसः–

रौद्र रस का स्थायीभाव क्रोध होता है । इसका वर्णलाल और देवतारूद्र हैं । इसमें 'आलम्बन' शत्रु होता है , उसकी चेष्टाऐं 'उद्दीपन' होती हैं । उग्रता , वीरता की बड़ाई, शस्त्र घुमाना, आवेग, रोमाञ्च, स्वेद, वेपथु ओर मद ये इस रस के अनुभाव होते हैं । मोह, क्रूरता , अमर्ष आदि व्यभिचारी भाव हें ।[1]

वीर रस और रौद्र रस में बहुत सूक्ष्म भेद होता है । यह इन दोनों के विभावादि के द्वारा स्पष्ट हो जाता है । कविराज श्री गड़्गानन्द जी ने इन दोनों में अन्तर स्पष्ट किया है – वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है और रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध होता है । वीर रस का आलम्बन प्रतिनायक होता है और वह प्रतिनायक प्रधान नायक के अभीष्ट कर्मों में विध्न उत्पन्न करने वाला होता है किन्तु वह सर्वथा विवेक शून्य नहीं होता । वीर रस का प्रतिनायक दुःषद् और विद्वान होता है दूसरी ओर रौद्र रस का आलम्बन सर्वथा क्रोधाभिभूत और विवेक शून्य एवं पापात्मा होता है । वीर रस के उद्दीपक विभाव हैं । अपकार, गुण आपत्ति, रौद्र रस का दुःषद अपकारादि । वीर रस के अनुभाव है प्रतीकार करण दान आदि, रौद्र रस का अनुभाव विकल्पन आदि । वीर का संचारी भाव हर्ष, आवेग, चिन्ता आदि, रौद्र रस का मुख्यतः गर्व आदि है । ओज गुण की स्थिति वीर एवं रौद्र रस दोनों में समान है ।

---

1. रौद्रः क्रोधस्थायिभावो रक्तो रूद्राधिदैवतः ।
आलम्बनमरिस्तत्र तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ।।
मुष्टिप्रहारपातन विकृतच्छेदावदारणैश्चैव
संग्रामसंभ्रमाद्यैरस्योद्दीप्तिर्भवेत्प्रौढ़ा ।।
भ्रूविभड़्गौष्ठनिर्दशबाहुस्फोटनतर्जनाः ।
आत्मावदानकथनमायुधोत्क्षेपणानि च ।।
उग्रतावेगरोमाञ्चस्वेदवेपथवो मदः ।
अनुभावास्तथाक्षेपक्रूरसंदर्शनादयः ।।
मोहामर्षादस्यत्र भावाः स्युर्व्यभिचारिणः । सा0द0 3/227–230

परन्तु रौद्र में ओज की पराकाष्ठा होती है । वर्णसमास और वृत्तिकी भी साम्यता होती है । रौद्र रस में आरभटी की खड़खड़ाहट ही उसका प्राण होती है । यहाँ तक कि युद्ध वीर का एक मात्र पोषक रौद्र रस ही होता है ।[1]

प्रस्तुत महाकाव्य में महाकवि मंखक ने रौद्र रस का निबन्धन सर्ग 12 और 24 में किया है –

"गर्भस्थविश्वंभरनाभिपद्मसदमप्रसक्तेश चतुराननस्य ।
तमीकुटुम्बप्रतिबिम्बभंगया विगाह्यमानो रथराजहंसैः ।।
क्रुध्यन्निबागस्त्यनिवासदानाद्दयांताडयन्नुच्चतरड़्ग दण्डैः ।
सौहार्दमासाद्य विभाभिरिन्दोरित्थं प्रचुक्षोभ सरिद्भुजंगः ।।"[2]

उपर्युक्त श्लोक में स्वकुक्षिसुप्त विष्णु की नाभि में स्थित ब्रह्मा के वाहन हंसों – समुद्र के जल में पड़ते हुए स्वच्छ चन्द्रबिम्बों के द्वारा विगाह्मान एवं अपनी ऊँची – ऊँची तरंगों के दण्डों से, स्वशत्रु अगस्त्य (ऋषि तारा) को निवास प्रदान करने के अपराध के कारण अगस्त्य ऋषि ने एक बार समुद्र का पान कर लिया था ताड़ित करते हुए चन्द्र किरणों से बल पाकर, इस प्रकार नदियों का स्वामी समुद्र प्रक्षुब्ध हो रहा था ।

यहाँ पर अगस्त्य ऋषि का क्रोध स्थायिभाव है । आलम्बन समुद्र है । अगस्त्य ऋषि का ब्रह्मा जी के प्रति मोह व्यभिचारी भाव हुआ । आवेग में आकर अगस्त्य

---

1. कर्ण भूषण 1/89
2. श्रीकण्ठ0 12/54–55

जी का समुद्र पान करना अनुभाव आदि है । इस प्रकार रौद्र रस का पूर्ण परिपाक हुआ है ।

"संनद्धानामपि परिकरं रत्नमन्त्रौषधीनां
मोघीकृत्य त्रिनयनशराग्रेसरो जातवेदाः ।
गात्रं गात्रं द्युसदसुहृदां निर्दहन्नट्टहासं
व्यानञ्जेव प्रकटितसत्कार नादैस्तदस्थानम् ।।[1]

प्रस्तुत श्लोक मे महाकवि मंखक ने भगवान् शिव जी द्वारा दैत्यों का नाश दिखाया गया है । कवचधारी त्रिपुरों के रत्न मन्त्र औषधियों के समूह को विफल बनाकर महेश के बाणाग्रभाग में विद्यमान अग्निदेव दैत्यों की हड्डियों के जलने के चटचटाहट ध्वनि के व्याज से मानो भयंकर अट्टहास कर रहे थे ।

इसमें शिव जी का क्रोध स्थायी भाव है समस्त दैत्य आलम्बन हैं, दैत्यों की हड्डियों की चटचटाहट में अनुभाव है, अग्निदेव का महादेव के प्रति मोह और आमर्ष ही व्यभिचारी भाव है अतएव रौद्र रस स्पष्ट है ।

प्रस्तुत महाकाव्य के निम्न श्लोकों में रौद्र रस का निबन्धन हुआ है ।

<u>रौद्र रसः–</u>

श्लोक सं0 12/47–48

24/14, 24, 25

---

1. श्रीकण्ठ0 24/18

श्रृङ्.गार रस :–

'श्रृङ्.ग' का अभिप्राय है कामाविर्भाव और "श्रृङ्.गार' का अर्थ है – जो इस प्रकार के कामोद्भेद से संभूत हो । इस रस के आलम्बन प्रायः उत्तम प्रकृति के प्रेमीजन हुआ करते हैं । परकीया तथा अनुरागशून्य वेश्या को छोड़कर अन्य प्रकार की नायिकाएं तथा दक्षिण आदि प्रकार के नायक ही इसके आलम्वन विभाव है । चन्द्र चन्द्रिका, चन्दनानुलेपन, भ्रमर झङ्.कार आदि इसके उद्दीपन विभाव हैं । इसके अनुभाव भ्रूविक्षेप तथा कटाक्षादि हैं । औग्रय, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोड़कर सभी व्यभिचारी भाव इसके परिपोषक हुआ करते हैं । "रति" इसका स्थायीभाव है । इसके दो भेद हैं – 1. संभोग श्रृङ्.गार 2. विप्रलम्भ श्रृङ्.गार ।[1]

संभोग श्रृङ्.गार :–

प्रेम पगे नायक और नायिका के परस्पर दर्शन, स्पर्शन आदि की अनुभूति का प्रदाता जो रस है , वह संभोग श्रृङ्.गार है ।[2] इसके उद्दीपन विभावों में षड्ऋतु, चन्द्र–चन्द्रिका, सूर्य, ज्योत्स्ना, चन्द्र और सूर्य के उदय और अस्त, जल–विहार, वन–विहार, प्रभात, मधुपान, चन्दनादि के अनुलेप, भूषण–धारण तथा अन्यान्य स्वच्छ,

---

1. श्रृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः ।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः श्रृंगार इष्यते ।।
परोढ़ां वर्जयित्वा तु वेश्यां चाननुरागिणीम् ।
आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः ।।
चन्द्रचन्दन रोलम्बरूताद्युद्दीपनं मतम् ।
भ्रूविक्षेपकटाक्षादिरनुभावः प्रकीर्तितः ।।
त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणः ।
स्थायीभावो रतिः श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवतः ।।
विप्रलम्भोऽथ संभोग इत्येष द्विविधो मतः ।। सा0द0 3/183–186
2. दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ । यत्रानुरक्तावन्योन्यं संभोगोऽयमुदाहृतः ।। सा0द03/210

सुन्दर और सुमधुर पदार्थ हैं ।[1]

महाकवि मङ्खक ने संभोग श्रृङ्गार का सुन्दर परिपाक प्रस्तुत किया है

"वस्त्रं हरत्सु विजनेऽथ च चित्त चौर
लोकेषु तूर्णमबलाजघनस्थलानाम् ।
वीक्ष्य प्रबोधसमयं रसपार्थिवस्य
काञ्ची चिरं कलकलं कलमाततान ।।[2]

यहाँ पर चित्त चोरों के द्वारा एकान्त में कामिनियों के वस्त्र हटाने पर रसराजकाम के जागरण को व्यक्त किया गया है । यहाँ नायक के कामासक्त में आलम्बन विभाव है । कामिनी नायिका के सौन्दर्य आदि में उद्दीपन विभाव है । चित्त चोरों के द्वारा वस्त्र हटाने में अनुभाव है उसकी उत्कण्ठा व्यभिचारी भाव है और नायक एवं नायिका में उत्पन्न रति स्थायीभाव है ।

निम्न श्लोक में महाकवि मङ्खक ने संभोग श्रृङ्गार का वर्णन सभ्यता की मर्यादा का अतिक्रमण करते हुए किया है –

"सख्योऽथ पक्ष्मलदृशां तदवेक्ष्य तन्त्रं
स्मेराननार्पितकरं शनकैर्निरीयुः ।
तत्कर्पटाञ्चलसमीरविधूयमानो
दीपोऽपि निर्जिगमिषुत्वमिवाललम्बे ।।[3]

---

1. तत्र स्यादृतुषट्कं चन्द्रादित्यौ तथोदयास्तमयः ।
जलकेलिवनविहार प्रभातमधुपानयामिनीप्रभृतिः
अनुलेपनभूषाद्या वाच्यं शुचि मेध्यमन्यच्च । तत्रैव 3/212–213
2. श्रीकण्ठ0 15/18
3. श्रीकण्ठ0 15/15

महाकवि मङ्.खक ने उपर्युक्त श्लोक के "तदवेक्ष्यतन्त्रं" शब्द से सम्भाग श्रृङ्.गार का पूर्ण परिपाक प्रस्तुत कर दिया है ।

विप्रलम्भ श्रृङ्.गार :–

जहाँ पर नायक नायिका में अनुराग तो अति उत्कट है , परन्तु प्रिय समागम नहीं होता उसे विप्रलम्भ अथवा वियोग कहते हैं ।[1]

उदाहणार्थ :–

"अनल्पसंकल्पवशेन मन्येत दिशस्त्वदाकारकृतावगूहना. ।
ततश्च सा तासु मुहुर्विमुग्ध धीर्विमुञ्चतीर्ष्याकलुषे विलोचने ।।[2]

प्रस्तुत श्लोक में नायिका एकतान से नायक का ध्यान कर रही है । दशों दिशाओं में उसे ही प्रतिफलित देखती है और अधिक विक्षिप्त हो जाने पर वह नायक के प्रतिबिम्बों को सत्य समझने लगती है ।

यहाँ पर दिशा रूपी नायिका आलम्बन है, ईष्या आदि व्यभिचारी भाव है, पति को देखने आदि की चेष्टा उद्दीपन विभाव है । इस प्रकार यहाँ विप्रलम्भ का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध काव्य के निम्न श्लोकों में श्रृङ्.गार रस का समावेश किया है –
श्लोक सं0 – 15/21, 25, 26, 31, 33, 40 इत्यादि ।

---

1. यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ । सा0द0 3/186
2. श्रीकण्ठ0 12/29

<u>भयानक रस :–</u>

भयानक रस का स्थायीभाव "भय" है । देवता काल, वर्ण कृष्ण और इसके आश्रयपात्र स्त्री नीचपुरूष आदि होते हैं । जिससे भय उत्पन्न हो वह "आलम्बन" और उसकी चेष्टाएं 'उद्दीपन' मानी जाती हैं । विवर्णता, गद्गद् भाषण , प्रलय, स्वेद, रोमाञ्च, कम्प और इधर उधर देखना आदि इसके अनुभाव होते हैं । जुगुप्सा, आवेग, मोह, त्रास, ग्लानि, दीनता, शङ्का, अपस्मार, सम्भ्रम् तथा मृत्यु आदि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं ।[1]

मङ्खक ने प्रस्तुत महाकाव्य के बाइसवें सर्ग "दैत्यपुरीक्षोभवर्णन" में भयानक रस का प्रस्फुटन हुआ है ।

<u>उदाहरणार्थ :–</u>

तैः कृतान्तकरपाशपन्नगस्फारितस्फुटफणागणात्मसु ।
शोणकान्तिवहिनवृष्टयो दृष्टयो मुमुचिरेऽसियष्टिसु ।।[2]

प्रस्तुत श्लोक में देवों और दैत्यों के बीच युद्ध के समय दैत्य लोग भय के कारण साक्षात् यमराज को देख रहे हैं । यहाँ पर दैत्यों का "भय" स्थायी भाव है । और शिव आदि देवों से भयभीत हैं । अतएव शिव जी आलम्बन है , शिव की युद्ध के लिए चेष्टा उद्दीपन विभाव है, दैत्यों का भय के कारण कम्पन और उनके आँखों में रक्ताभ आदि अनुभाव है तथा दैत्यों को अपनी ही तलवारें साक्षात यमराज के कालपाश

---

1. भयानको भयस्थायिभावः कालाधिदैवतः ।
स्त्रीनीचप्रकृतिः कृष्णो मतस्तत्त्वविशारदैः ।।
यस्मादुत्पद्यते भीतिस्तदत्रालम्बनं मतम् ।
चेष्टा घोरतरास्तस्य भवेदुद्दीपनं पुनः ।।
अनुभावोऽत्र वैवर्ण्यगद्गद्स्वर भाषणम् ।
प्रलयस्वेदरोमाञ्चकम्पदिक्प्रेक्षणादयः ।।
जुगुप्सावेगसंमोहसंत्रासग्लानिदीनताः ।
शङ्कापस्मारसंभ्रान्तिमृत्व्वाद्या व्यभिचारिणः ।। सा०द० 2/235–238

2. श्रीकण्ठ० 22/5

सर्पो जैसी दिखाई देना व्यभिचारी भाव हैं। अतएव यहाँ पर पूर्ण भयानक रस का प्रस्फुटन हुआ।

संस्रसे श्रवणोत्पलं विजघटे कण्ठदयैकावली
श्रोत्राभ्यां मणिकेलिकुण्डलयुगं विभ्रश्य दूरं ययौ।
इत्थं दानवसुभ्रुवां हरचमूनादश्रुतौ पप्रथे
त्रासेनैव भविष्यदक्षतबृहदवैधव्ययोग्यः क्रमः ।।[1]

जब देव और दैत्यों में इतना घनघोर युद्ध होता है कि भगवान शिव की सेना के तुमुलनाद को सुनकर दैत्य स्त्रियों को त्रास के कारण भविष्य में होने वाला वैधव्य तत्काल प्रारम्भ हो गया।

यहाँ पर दैत्य स्त्रियों का भय स्थायी भाव है। शिव आदि देव आलम्बन हैं दैत्य स्त्रियों का भय के कारण कानों और गले आदि से आभूषण का गिरना अनुभाव है उनका तत्काल वैधव्य प्रारम्भ हो जाना व्यभिचारी भाव है अतएव यहाँ पर भयानक रस का सजीव चित्रण हुआ है।

प्रस्तुत महाकाव्य के निम्न श्लोकों में भयानक रस का परिपाक हुआ है। श्लोक सं० 22/32, 37, 55, 57, 58 इत्यादि।

बीभत्स रस :-

बीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा, वर्ण नील और देवता महाकाल हैं। दुर्गन्धयुक्त मांस, रूधिर, चर्बी , आदि इसके आलम्बन होते हैं और उन्हीं में कीड़े पड़ जाना आदि उद्दीपन होता है। थूँकना, मुँह फेर लेना, आँख बन्द करना आदि अनुभाव

---

1. श्रीकण्ठ० 21/50

एवं मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि और मरण आदि व्यभिचारी भाव होते हैं ।

वैसे बीभत्स रस का परिपाक वैराग्य उपदेशक ग्रन्थ में ही शोभा पाता है । अन्यत्र इस रस का निबन्धन कहीं–कहीं देखने को मिल जाता है । महाकवि मंखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" में युद्ध आदि के अन्तर्गत बीभत्स रस के कुछ उदाहरण दिये हैं ।

उदाहरणार्थ :–

"वासः कृत्तिभिरासवर्द्धिरसृजा लीलावदंशः पलै
मुक्ताभिः कटजन्मभिश्च दयितालोकस्तनालंकृतिः ।
किं किं नेत्थमसिध्यदुद्धतमृधोल्लासे निशाचारिणा
मन्योन्यप्रहितामरासुरशरस्रग्दार्यमाणैर्गजैः ।।"[1]

प्रस्तुत श्लोक में दोनों सेनाओं के द्वारा मारे जाते हुए हस्तियों के द्वारा निशाचरों का क्या–क्या सिद्ध नहीं हो गया अर्थात् मृत हस्तियों के चमड़ों से तम्बू बन गये, खून का मदिरापान और मॉस का भोजन आदि । अतएव यहॉ पर निशाचरों में आलम्बन है हस्तियों के मरे हुए मांस को खाना उद्दीपन विभाव है, खून के आसव से मदिरापान अनुभाव है इससे शिव जी की जुगुप्सा आदि स्थायीभाव है और ग्लानि आदि सञ्चारी भाव है । यहॉ पर पूर्णरूपेण बीभत्स रस का चित्रण हुआ है ।

निम्न श्लोकों में भी बीभत्स रस का सुन्दर एवं सजीव निबन्धन हुआ है – 23/38, 46, 54 ।

---

1. जुगुप्सास्थायिभावस्तु बीभत्सः कथ्यते रसः ।
नीलवर्णो महाकालदैवतोऽयमुदाहृतः ।।
दुर्गन्ध मांसरूधिरमेदांस्यालम्बनं मतम् ।
तत्रैव कृमिपाताद्यमुद्दीपन मुदाहृतम् ।।
निष्ठीवनास्यबलननेत्रसंकोचनादयः ।
अनुभावास्तत्र मतास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः ।।
मोहोऽपस्मार आवेगो व्याधिश्च मरणादयः ।

सा०द० 3/239–241

करूण रस :–

इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करूण रस आविर्भूत होता है । इसके देवता यमराज हैं । इसमें स्थायी भाव 'शोक' होता है । और विनष्ट बन्धु आदि शोचनीय व्यक्ति आलम्बन विभाव होते हैं एवं उसका दाहकर्म आदि उद्दीपन होता है । प्रारब्ध की निन्दा, भूमिपतन, रोदन, विवर्णता, उच्छ्वास, निःश्वास, स्तम्भ, प्रलाप आदि अनुभाव हैं, निर्वेद, मोह, अपस्मार व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद और चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव हैं ।[1]

किसी वीर रस के महाकाव्य में करूण रस का अङ्ग बनकर आना भी स्वाभाविक सा होता है । युद्ध में सैनिकों की मृत्यु और उनकी मृत्यु से प्रभावित उनके सगे सम्बन्धी आत्मीय जनों का दुःखी होना भी व्साभाविक है । एक जागरूक महाकवि इस परिवेदना का सहानुभूति पूर्ण वर्णन करके ही अपना महाकाव्य समाप्त करता है । महाकवि मंखक ने भी सत्रहवें सर्ग मे देवों की विपत्ति का वर्णन, बारहवें सर्ग में रतिविलाप वर्णन और दैत्यस्त्रियों का विलाप वर्णन आदि में करूण रस का सुन्दर निबन्धन किया है ।

उदाहरणार्थ :–

"विजहीहि मुधा तपोधनानवजेतुं स्मर चापचापलम् ।
पुरतः पुनरप्यहं सहे नहि वैधव्यविषादविक्रियाम् ।।[2]

---

1. इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करूणाख्यो रसो भवेत् ।
धीरैः कपोतवर्णोऽयं कथितो यमदैवतः ।।
शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बनं मतम् ।
तस्य दाहादिकावस्था भवेद्दीपनं पुनः ।।
अनुभावा दैवनिन्दाभूपातक्रन्दितादयः ।
वैवर्ण्योच्छ्वासनिःश्वासस्तम्भप्रलपनानि च ।।
निर्वेदमोहापस्मारव्याधिग्लानिस्मृतिश्रमाः ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ।।

सा0द0 3/222–225

2. श्रीकण्ठ0 12/18

प्रस्तुत श्लोक में कामदेव के मरने में आलम्बन बिभाव, रति का विलाप रोदन आदि अनुभाव है, दुःसह वियोग आदि में उद्दीपन विभाव है । रति द्वारा कामदेव के लिए शोक स्थायीभाव है ।

निम्न श्लोकों मे भी करूण रस का मार्मिक चित्रण किया है –

12/13,23

17/62,64 इत्यादि में ।

शान्त रस :–

शान्त रस का स्थायी भाव 'शम' है । इसके आश्रय उत्तम प्रकृति के लोग हैं । अनित्यता आदि के कारण समस्त सांसारिक विषयों की निःसारता का ज्ञान अथवा साक्षात् परमात्म स्वरूप का ज्ञान ही इसका 'आलम्बन' विभाव है । इसके उद्दीपन हैं – पवित्र आश्रम, भगवान् की लीलाभूमियाँ, तीर्थस्थान, रम्य कानन, साधु–सन्तों के सङ्ग आदि । रोमाञ्चादि इसके अनुभाव है तथा निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति, जीवदया आदि व्यभिचारी भाव हैं ।[1] शम का अभिप्राय है – वैराग्यदशा में आत्मरति से होने वाला आनन्द ।[2]

श्रीकण्ठचरितम् के सत्रहवें सर्ग में भगवान् शङ्कर की महत्ता बतलाते हुए मङ्खक ने शान्त रस अभिव्यक्त किया है – हे त्रिनेत्र ! प्रकाशस्वरूप आप ईश्वर अकेले

---

1. शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः ।.
   अनित्यत्वादिना शेषवस्तुनिःसारता तु या ।।
   परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते ।
   पुण्याश्रमहरिक्षेत्र तीर्थरम्यवनादयः ।।
   महापुरूषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ।
   रोमाञ्चाद्यानुभावास्तथा स्युर्वभिचारिणः ।।
   निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः ।

   सा0द0 3/245–249

2. शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम् ।।

   सा0द0 3/180

ही त्रिभुवन को जानने और स्ववश में करने में समर्थ हैं । आपकी स्वस्वरूपा विमर्शशक्ति भेद के होने पर भी आप मे ब्रह्माण्डभाव का भेद उत्पन्न नहीं कर पाती, यद्यपि वह आपसे भिन्न है ।[1] इसके बाद मङ्खक ने शिव का दार्शनिक स्वरूप भी कई जगह प्रस्तुत किया है – हे पंचविंशतत्व ! सांख्यशास्त्रवेत्ता व्यर्थ ही तुम त्रिलोकपालक को उदासीन स्वभाव कहते हैं । तब यदि यह प्रकृति ही जगत्कर्त्री है तो जरा कैवल्य तो प्राप्त करें बिना शङ्कर भगवान के छायानुग्राहकत्व के ।[2]

प्रस्तुत ग्रन्थ श्रीकण्ठचरितम् में भगवान् शिव अपने दिव्यगुणों के साथ, पूर्णरूप में केवल सत्रहवें सर्ग की देवसभा में ही निबद्ध हुए हैं । अन्यत्र वे परोक्षरूप में ही वर्णित हैं ।

इन वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मङ्खक को परमात्म तत्त्व का पूर्ण ज्ञान है । अतः यहाँ परमात्मस्परूप का ज्ञान ही आलम्बन विभाव है । भगवान् के कार्यो का वर्णन उद्दीपन है । रोमाञ्चादि अनुभव है और निर्वेद , हर्ष, स्मृति, मति, प्रबोध आदि सञ्चारी भाव हैं । यहाँ पर 'शम' या 'निर्वेद'[3] स्थायीभाव है जो इन विभावादि के द्वारा पुष्ट होता है और श्रोता या पाठक को शान्त रस का आस्वादन कराता हुआ लोकोत्तर भाव जगत में विचरण करने के लिए छोड़ देता है ।

इसके अतिरिक्त भगवान् शङ्कर के विभिन्न अवतारों[4] और उनके निवास स्थान कैलास पर्वत [5] के वर्णन में भी शान्त रस की अनुभूति होती है ।

---

1. एकस्त्वं त्रिनयन दृश्यसेऽधिकर्तुं ज्ञातुं च त्रिभुवनमीश्वरः प्रकाशः ।
   तादात्म्यं विवृतवती विमर्शशक्तिर्द्वैधेऽपि प्रथयति ते न भेददोषम् ॥ श्रीकण्ठ० 17/29
2. धिङ्मूढा वितथमुदासनस्वभावं भाषन्ते पुरूष तव त्रिलोकभर्तुः ।
   कर्त्री चेत्प्रकृतिरियं करोतु किंचित्कैवल्यं भवदधिरोमन्तरेण ॥ श्रीकण्ठ० 17/20
3. "निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति.....।" इत्यादि (काव्यप्रकाश 4/35) के द्वारा आचार्य मम्मट ने "निर्वेद" को शान्त रस का स्थायी भाव माना है ।
4. श्रीकण्ठ० 1/28,33,24,54
5. श्रीकण्ठ० चतुर्थसर्ग

भक्ति रस :–

काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने जिन नौ रसों का विवेचन किया है उनमें भक्ति रस की गणना नहीं की है। भरत मुनिविरचित नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार आचार्य अभिनव गुप्त ने उनके द्वारा कहे गये शान्त या शम की व्याख्या करते हुए भक्ति को शान्त का अङ्ग माना है।[1] आचार्य मम्मट ने भक्ति को रस न मानकर भावध्वनि में उसका अन्तर्भाव किया है।[2] विश्वनाथ ने भी भक्ति को पृथक रस नहीं माना है। आचर्य रूद्रट तथा भोज ने "प्रेयान्' नाम का एक रस माना है जो भक्ति से कुछ कुछ मिलता अवश्य है किन्तु वह भी स्पष्ट रूप से भक्ति नहीं है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती, श्रीजीवगोस्वामी, श्रीरूपगोस्वामी, प्रभृति कुछ विद्वानों ने सुदृढ़ तर्को के आधार पर भक्ति के रसत्व की स्थापना की है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि भक्ति की गणना भी मुख्य रसों में की जानी चाहिए, भाव ध्वनि इत्यादि में उसका अन्तर्भाव करना ठीक नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति 'रति' नामक स्थायी भाव ही भक्ति नामक रस है जो श्रवणादि के द्वारा भक्तों के हृदय में विभाव, अनुभाव , सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों के माध्यम से आस्वद्यत्व को प्राप्त होता है।[3] यहाँ श्रीकृष्ण से तात्पर्य शङ्करादि प्रधान देवताओं से भी है।

---

1. रतिर्देवादिविषया
2. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाजितः ।।
   भावः प्रोक्तः ....। का0प्र0 4/35,36
3. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।।
   आस्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः ।
   एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत् ।।
   – हरिभक्तिरसामृतसिन्धौ 2/1/2,6

यह भक्ति रस मुख्य तथा गौण दो प्रकार का होता है । मुख्य भक्ति रस के पाँच भेद हैं – शान्त, प्रीति, प्रेय, वत्सल और मधुर । इनमें पूर्व--पूर्व से उत्तर–उत्तर श्रेष्ठ है । गौण भक्ति रस सात प्रकार का है – हास्य , अद्भुत, वीर, करूण, रौद्र, भयानक और वीभत्स । यद्यपि काव्याशास्त्रीय आचार्यो ने इन सात रसों का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख किया है । किन्तु यही रस भगवत्सम्बद्ध होने पर भक्ति रस के अड्.ग हो जाते हैं । इस प्रकार भक्ति रस (पाँच और सात) कुल बारह प्रकार का कहा गया है ।[1]

वस्तुतः श्रीकण्ठचरित एक भक्तिरस का काव्य है । कवि और उसक पिता परम शैव थे । पिता के द्वारा शिवस्तुति की आज्ञा स्वप्न में ही दी गई थी ।[2] यही कारण है कि प्रस्तुत महाकाव्य में अनायास ही शिवमहिमावर्णन का अजस्रस्रोत फूट पड़ा है । प्रथम , पंचम, सप्तम, षोडश और सप्तदश सर्गों में शिव का भरपूर वर्णन मिलता है, इसके अतिरिक्त भी अनेक सर्गों में प्रसड्.गतः शिव का भूरि–भूरि स्तवन आया है । अतएव सम्पूर्ण महाकाव्य में शड्.करभक्ति चर्चा ही तो है ।

कवि ने बन्दीजनों के मुख से शिव की जो स्तुति कराई है,[3] वह सम्पूर्ण महाकाव्य का प्राण है । सर्वत्र भगवत्स्तुति में शान्त भक्ति रस का आस्वादन होता है

---

1. भवेद्भक्तिरसोऽप्येष मुख्यगौणतया द्विधा ।
मुख्यस्तु पञ्चधा शान्तः प्रीतिः प्रयांश्चवत्सलः ।।
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमाः ।
हास्योद्भुतस्तथा वीरः करूणो रौद्रः इत्यपि ।।
भयानकः बीभत्स रति गौणश्च सप्तधा ।
एवं भक्तिरसो भेदाद् द्वयोर्द्वादशधोच्यते ।।
– हरिभक्तिरसामृतसिन्धौ 2/5/95–97

2. श्रीकण्ठ0 3/75

3. श्रीकण्ठ0 16/1–56

"भगवान खट्वांगी अर्थात् शिव की तृतीय नेत्राग्नि विजय को प्राप्त करे । इस ही अग्नि ने काम पतंग को भस्म कर डाला है तथा इसके समक्ष तो भाल चन्द्र की किरणें रूई के फीके फाहे जैसी ही लगती हैं । वह शिव शान्ति प्रदान करें ।"[1]

अपने परममित्र झषकेतन के झण्डे के लिए देवगङ्गा का एक मकर हठात् पकड़ लेने के लिए, पार्वती की मुखद्युति को चुराकर भागने वाला चन्द्रमा शिव के शिर पर सिकुड़कर बैठा हुआ है । कवि का आशय है कि वह चन्द्रमा सबको शीतलता प्रदान करे ।[2]

श्रीकण्ठचरित के चतुर्थ सर्ग में भगवत्पूजन का बहुत सुन्दर वर्णन हुआ है ।[3]

मंखक शिवभक्ति की महत्ता बताते हुए स्वयं कहते हैं कि ज्ञान के बिना भी अपवर्ग की सीढ़ी , बिना धनव्यय के ही श्रेष्ठ यज्ञ एवं नास्तिक सर्पो के लिए मुधर दुग्धपान के समान यह शङ्करभक्ति चर्चा ही सर्वोत्कृष्ट है ।[4]

---

1. जीयात्कृतानङ्गपतङ्गदाहः खटवाङ्गिनो नेत्र शिखिप्रदीपः ।
   यत्यान्तिके शुभ्रदशानिवेशश्रियं किरीटेन्दुकराः श्रयन्ते ।। श्रीकण्ठ0 1/1
2. सख्युः स्मरस्य नवकेतुकृते किरीट –
   स्वः सिन्धुवाहमकरं सहसेव हर्तुम् ।
   यस्योत्तमाङ्गभुवि पुञ्जितमूर्तिरिन्दु –
   रास्ते नगेन्द्रतनयाननवर्णचौरः ।। श्रीकण्ठ0 5/41
3. श्रीकण्ठ0 4 /37–42
4. ज्ञानानपेक्षिण्यपवर्गवीथी यज्ञो विनैवार्थकदर्थनाभिः ।
   पयश्छटा नास्तिकपन्नगानां जयत्यसौ शंकरभक्तिचर्चा ।।
   श्रीकण्ठ0 1/44

तरूण बन्दी मंखक ने साक्षात् भगवान् श्रीकण्ठ के चरणों में अपने उद्‌गार पुष्प सादर समर्पित किये हैं ।[1] स्वप्न में पिता विश्ववर्त के द्वारा दिये गय शिवलीला वर्णन" के आदेश को मङ्खक ने स्वान्तः सुखाय बना लिया है । शिव के प्रसङ्ग से किया गया बन्दियों द्वारा प्रभाती गायन प्रातः पठनीय है ।[2]

इस वर्णन में भगवान् शङ्कर आलम्बन हैं, अन्तर्वृत्तिविशेष तथा विश्वरूपप्रदर्शन असाधारण उद्दीपन हैं, भगवान् की स्तुति करना अनुभाव है, रोमाञ्चादि सात्त्विक भाव है तथा हर्ष और आवेग सञ्चारी भाव हैं । इन सबके संयोग से पुष्ट हुआ "शान्तिरति" नामक स्थायिभाव शान्त भक्ति रस की चर्वणा कराता है ।

कुछ आचार्यों ने वात्सल्यरस की भी रसों में गणना की है परन्तु प्रस्तुत महाकाव्य में वात्सल्य रस का कोई उदाहरण नहीं मिलता है इसलिए यहॉ उसका विवेचन अपेक्षित नही है ।

---

1. सर्वैः कैश्चन दूषिताः कवितृभिः प्रस्तीर्य पृथ्वीभृता –
मास्थानपणसीम्नि विक्रय तिरस्कारदनर्घा गिरः ।
देवस्याद्रिभिदुत्तमाङ्गमकरीलिढाङ्घ्रिरेणुस्रजः ।
कैलासाद्रिसभापतेरिति मया मङ्खेन मङ्खायते ।।

तत्रैव 1/56

2. श्रीकण्ठ0 तत्रैव 16/2

अष्टम अध्याय

"श्रीकण्ठचरितम्" में गुण, रीति, छन्द एवं दोष

"श्रीकण्ठचरितम्" में गुण, रीति, छन्द एवं दोष

(क) गुण :–

(1) काव्य–गुणों का स्वरूप :–

काव्य शोभा की उत्पत्ति के लिए काव्य में गुणों का होना अनिवार्य है । अग्निपुराण के अनुसार जो साधन काव्य में महती शोभा लाता है उसे 'गुण' कहते हैं[1] आचार्य वामन ने गुणों और अलङ्कारों का भेद स्पष्ट करते हुए कहा है कि काव्यशोभा के उत्पादक धर्म 'गुण' होते हैं । तथा उन काव्यशोभा के अतिशय के हेतु अलङ्कार हैं । केवल अलङ्कार काव्यशोभा को उत्पन्न नहीं कर सकते किन्तु ओज, प्रसाद आदि गुण तो अलङ्कारों के बिना भी काव्यशोभा को उत्पन्न कर सकते हैं ।[2] वामन के इस मत का आचार्य मम्मट ने स्पष्ट रूप से खण्डन करते हुए कहा है कि यदि काव्यशोभा के उत्पादक धर्मों को "गुण" तथा गुणकृत शोभा की वृद्धि करने वाले धर्मों को "अलङ्कार" माना जाये तब यह प्रश्न होगा कि क्या समस्त गुणों के होने से काव्य होगा अथवा कुछ ही गुणों के होने से ? यदि समस्त गुणों के होने से काव्य माना जाये तो गौड़ी तथा पाञ्चाली रीतियाँ जिनमें समस्त गुण नहीं बल्कि कुछ ही गुण होते हैं, किस प्रकार काव्यत्व की हेतु होगी ? और यदि कुछ ही गुणों के होने से काव्य माना जाये तो "अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्नि रूच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः" इत्यादि में भी ओज प्रभृति गुण होने से काव्यत्व होने लगेगा , जो कि उचित नहीं है ।[3]

"गुण" का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य मम्मट ने कहा है कि जिस प्रकार शूरता इत्यादि आत्मा के धर्म हैं, उसी प्रकार जो काव्य में प्रधानतया आत्मवत् स्थित रस के धर्म हैं, रस के साथ नियतस्थिति वाले हैं तथा रसोत्कर्ष के हेतु हैं, वे धर्म "गुण" हैं ।[4]

---

1. अग्निपुराण 346/3
2. काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति 3/1/1,2
3. का0प्र0 8/67
4. का0 प्र0 8/66

मम्मट के मत में गुण काव्य के आत्मस्थानीय रस के ही धर्म हैं, शब्दार्थ का धर्म भी माना जाता है । जिस प्रकार शूरता इत्यादि गुण आत्मा के ही धर्म हैं किन्तु गौण रूप से उनका शरीर में भी व्यवहार होता है । उसी प्रकार माधुर्यादि गुण वास्तव में काव्यात्मा रस के धर्म हैं किन्तु औपचारिक रूप से काव्य शरीर भूत शव्दार्थ में भी उनका व्यवहार होता है । आचार्य मम्मट के अनुसार गुण रस के साक्षात उपकारक हैं जबकि अलड्.कार रस व्यञ्जना के उपकरण रूप शब्द तथा अर्थ के उपकारक हैं । इसके अतिरिक्त गुण सदैव रस के साथ रहते हैं तथा रस का अवश्य ही उपकार करते हैं किन्तु अलंकार न तो नियमतः रस के साथ रहते हैं और न सदैव रसोपकारक ही होते हैं । इस प्रकार मम्मट ने अलड्.कारों से भेद भी सम्यक् रूप से स्पष्ट कर दिया है । गुणों के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए अग्निपुराण में कहा गया है कि गुणों से रहित काव्य अलंकृत होने पर भी उसी प्रकार प्रीतिजनक नही होता जिस प्रकार कुरूपा स्त्री के हार आदि आभूषण केवल भाररूप होते हैं । [1] आचार्य वामन ने इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार आभूषणो से रहित स्त्री का रूप उसके शालीनतादि गुणों से युक्त होने पर आकर्षक होता है तथा गुण युक्त स्त्री का रूप आभूषणों से युक्त होने पर अत्यन्त आकर्षक हो जाता है , उसी प्रकार उपमादि अलंकारों से रहित काव्य भी केवल माधुर्य इत्यादि गुणों से युक्त होने पर आकर्षक होात है तथा अलंकारों से युक्त काव्य माधुर्यादि गुणों से सम्पन्न होने पर अत्यधिक आकर्षक हो जाता है । किन्तु जिस प्रकार विविध आभूषणों से युक्त स्त्री शालीनतादि गुणों से रहित होने पर आकर्षण रहित होती है उसी प्रकार उपमादि अलंकारों से सम्पन्न काव्य भी माधुर्यादि गुणों से हीन होने पर अनादरणीय होता है ।[2]

(॥) गुणों की संख्या :–

अग्निपुराण में उन्नीस गुणों का निरूपण हुआ है, जिनमें सात शब्द गुण,

---

1. अग्नि पुराण 346/1
2. काव्यालड्.कार सूत्र वृत्ति 3/1/2

छः अर्थगुण तथा छः शब्दार्थगुण हैं ।[1] भरतमुनि ने श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता, तथा कान्ति ये दस गुण माने हैं ।[2] आचार्य वामन ने दस शब्दगुणों तथा दस अर्थगुणों का निरूपण किय है ।[3] भोज ने चौबीस शब्द गुण तथा चौबीस अर्थगुण प्रतिपादित किये हैं ।[4]

भामह, मम्मट, हेमचन्द्र, तथा विश्वनाथ इत्यादि आचार्यों ने केवल तीन गुण माने हैं –

1. माधुर्य 2. ओज 3. प्रसाद । ये आचार्य शेष सभी गुणों का इन्हीं तीन गुणों में अन्तर्भाव कर लेते हैं । प्रस्तुत महाकाव्य में उपलब्ध गुणों का निरूपण इस प्रकार है –

(अ) **माधुर्यगुण :–**

जिस आहलादकता के कारण चित्त की द्रुति होती है – चित्त पिघल सा जाता है वह आह्लादकता ही माधुर्य गुण है और श्रृंगारादि रसों में होता है । वह माधुर्य गुण सम्भोग श्रृंगार की अपेक्षा करूण में, करूण की अपेक्षा विप्रलम्भ मे तथा विप्रलम्भश्रृंगार की अपेक्षा शान्त में उत्कृष्टतर हो जाता है क्योंकि इन रसों में चित्त क्रमशः अधिकाधिक द्रवित होता जाता है ।[5]

टवर्ग – भिन्न स्पर्शवर्ण जो अग्रभाग में अपने अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से

---

1. अग्निपुराण 346/5,6,12,18,19
2. नाट्यशास्त्र 17/95
3. काव्यालङ्कारसूत्र 3/1/14
4. सरस्वतीकण्ठाभरण का प्रथम परिच्छेद देखिये ।
5. का0प्र0 8/68

युक्त हो यथा अनङ्.ग, कुञ्ज इत्यादि, लघु स्वर जिनके बीच में हो ऐसे "र" तथा "ण" वर्ण एवं अल्पसमास या मध्यसमास वाली रचना माधुर्य की व्यञ्जक होती है ।[1]

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य में माधुर्यगुण के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं –

"ध्वंसं भेजेऽङ्.गरागो निबिडतरपरिष्वङ्.गभङ्.गप्रसङ्.गातु-
गांतुत्रोटाशेषरला भरणपरिकरो भूयसा संभ्रमेण ।
शीर्णत्वं केशपाशोऽगमदिति सफलीभूय कान्तोपभोगा –
दाकल्पोऽनङ्.गलीलाविधिषु विधुरतामालिलिङ्.गाङ्.गनानाम् ।।[2]

परस्पर निबिडालिंगन से अंगराग झर गया, अधिकाधिक कल्लोलक्षोभ से सब रत्नाभूषण विशीर्ण हो गये और केशपाश भी बिथर गया । स्वपतियों के द्वारा उपभोग से सफल हो कामिनियों का केशविन्यासादि इस प्रकार कामक्रीड़ाओं से विघटित हो गया ।

यहाँ गकार अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त है । अङ्.ग, अनङ्.ग, परिष्वङ्.ग, भङ्.ग आदि में गकार अपने वर्गों के अन्तिम अक्षर से युक्त है और लीला, आलिलिङ्.ग आदि पदों में लकार है । ये सब वर्ण माधुर्य के व्यञ्जक हैं । "भेजेऽङ्.गरागो" यह मध्यमवृत्ति अर्थात स्वल्प समास वाली रचना भी माधुर्य की व्यञ्जक है । इस प्रकार ये तीनों सम्भोगश्रृंगार में माधुर्य के व्यञ्जक हैं ।

"कृ खिद्विमुच्य गलतः स्वमणीन्प्रयातो
देवोऽधुना त्रिजगतीदयितः सुधांशु ।
प्रस्तौति यद्विरहकालमवेत्य सूर्य –
कान्तोऽपि संप्रति हठादनलप्रवेशम् ।।"[3]

---

1. का0 प्र0 8/74
2. श्रीकण्ठ0 15/46
3. श्रीकण्ठ0 16/11

त्रिलोक – प्रिय चन्द्र, स्वचन्द्र मणियों को आर्द्रदशा में छोड़कर कहाँ चला गया । देखो ! यह सूर्यकान्तमणियाँ तक भी उसके वियोग में हठपूर्वक अनलप्रवेश का प्रस्ताव कर रही हैं ।

यहाँ तकार अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त है । दयितः गलतः, प्रयातो, कान्तो आदि में तकार अपने वर्गो के अन्तिम अक्षर से युक्त है और विरह आदि पदों के हृस्व से व्यवहित रेफ है । ये सब वर्ण माधुर्य के व्यञ्जक हैं । "खिद्विमुच्य" यह मध्यमवृत्ति अर्थात् स्वल्पसमास वाली रचना भी माधुर्य की व्यञ्जक है । इस प्रकार य तीनों करूण रस में माधुर्य के व्यञ्जक हैं ।

"पद्मनाभ करूणां कुरू भूयोविग्रहेण परिपूरय राहुम् ।
येन तज्जठरकोटरशायी जात्वयं विधुरयेन्न विधुर्नः ।।"[1]

हे नारायण ! दया करके राहु को पुनः पूर्णशरीर बना दीजिये, कि जिससे उसके द्वारा ग्रसित हो यह चन्द्र उसके उदर में जा हमें विरहिणी को पुनः पुनः दुःख न दे ।

यहाँ धकार और नकार अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त है विधु और विधु, येन एवं येन्न आदि पदों में धकार, नकार (तवर्ग) अपने अपने वर्गो के अन्तिम अक्षर से युक्त है । और कुरूणां आदि पदों के हृस्व से व्यवहित रेफ है । ये सब वर्ण माधुर्य के व्यञ्जक हैं । इस प्रकार ये तीनों विप्रलम्भश्रृंगार में माधुर्य के व्यञ्जक हैं ।

क्षिप्रक्षिप्तोडुपुष्पो मुखरखगकुलध्वानयुक्तिप्रणीत –
स्तोत्रारम्भः प्रदीपं निदधदधिनभः कर्परं भानुभङ्गया ।
चक्रे भक्त्येव दूरानमिततुहिनरूग्बिम्बमूर्धा सपर्या –
पर्याप्तिं स प्रसङ्गस्त्रिभुवनगुरवे चन्द्रचूडाय तस्मै ।।[2]

---

1. श्रीकण्ठ0 11/61
2. श्रीकण्ठ0 16/59

नक्षत्र पुष्प बरसाकर, खगकुल के मधुर कलरव का स्तोत्र प्रारम्भ करके, आकाश में सूर्यदीप जलाकर और सुदूर पश्चिम में निलीयमान चन्द्र के व्याज से स्वशीश को नवाते हुए, पूर्ण भक्ति के साथ प्रातः काल ने त्रिभुवन गुरू चन्द्रशेखर की जैसे पूजा की।

यहाँ गकार तथा तकार अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त हैं। खग, प्रसङ्ग, रूग आदि में गकार और क्षिप्त, प्रणीत , पर्याप्ति, युक्ति आदि पदों में तकार अपने अपने वर्गों के अन्तिम अक्षर से युक्त हैं। मुखर आदि पदों के ह्रस्व से व्यवहित रेफ है। ये सब वर्ण माधुर्य के व्यञ्जक हैं। इस प्रकार ये तीनों शान्त रस में माधुर्य के व्यञ्जक हैं।

(ब) **ओजोगुण :–**

वीर रस में स्थित वह दीप्तिरूप धर्म, जो चित्त के विस्तार का हेतु है, जिसके कारण चित्त प्रज्ज्वलित सा हो जाता है, ओजोगुण कहलाता है। वीर रस से बीभत्स रस में तथा बीभत्स रस से रौद्ररस में यह गुण बढ़कर होता है।[1]

वर्गों के प्रथम तथा तृतीय वर्ण के साथ क्रमशः द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण का योग, रेफ से किसी वर्ण का ऊपर अथवा नीचे सम्बन्ध, तुल्यवर्णों का योग, ट इत्यादि तथा श, ष – ये वर्ण, दीर्घ समास, एवं विकट रचना, ये सब ओजोगुण के व्यञ्जक हैं।[2]

प्रस्तुत महाकाव्य श्रीकण्ठचरितम् में ओजोगुणयुक्त पद्य इस प्रकार हैं –

---

1. काव्यप्रकाश 8/69,70
2. काव्य प्रकाश 8/75

चन्द्रादाप्तप्रसूतिर्दिशि दिशि दधती पद्म रागान्तवृत्ति
प्रत्यासत्तिं स्पृशन्ती निबिडतरमहानीललक्ष्माञ्चितत्त्वम् ।
नैर्मल्यं गाहमाना नभसि च निकषग्रावपट्टायमाने
भूषा व्योमाधिदेव्यास्तिरयतु चतुरं दीनतां कौमुदी वः ।।[1]

परस्पर निविड रूप से संघटित होती हुई, देव और दनुजों से अधिष्ठित वे दोनों सेनाऐं , जिनके फेनपिण्डसितच्छत्रकम्पयुक्त थे, गम्भीर तुमुलभेरी पटह नादोर्मिरव को करते हुए प्रलयकाल में मिलते हुए दो महासमुद्रों सी लगती थी ।

इस पद्य में युद्ध का वर्णन करते हुए महाकवि मङ्खक वीरोचित उद्गार हैं यहाँ पर "चन्द्रादाप्तप्रसूतिर्दिशि" में अनेक रेफ तथा "निबिडतरमहानील ....' इत्यादि में दीर्घ समास ओजोगुण चित्त को प्रज्ज्वलित सा करता है ।

वासः कृत्तिभिरासवर्द्धिरसृजा लीलावदंशः पलै --
र्मुक्ताभिः कटजन्मभिश्च दयितालोकस्तनालंकृतिः ।
किं किं नेत्थमसिध्यदुद्यतमृधोल्लासे निशाचारिणा –
मन्योन्यप्रहितामरासुरशरस्रग्दार्यमाणैर्गजैः ।।[2]

उस महोद्धत संग्राम में देवासुरों के शरसमूह से मरे हुए हाथियों के द्वारा निशाचरों का क्या – क्या सिद्ध नहीं हो गया , अर्थात् सब कुछ सिद्ध हो गया – चर्म से वस्त्र, रक्त से मद्यसमृद्धि, मांस से पुनः–पुनः यथेच्छ भक्षण और निकली हुई गजमुक्ताओं से असुरप्रेयसियों की स्तन भूषादि सब एक साथ ही सिद्ध हो गये । प्रस्तुत पद्य में बीभत्स रस की अभिव्यक्ति होने से यहाँ दीप्ति रूप ओजोगुण चित्त का विस्तार करता है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 12/58
2. श्रीकण्ठ0 23/45

"कटजन्म" में ट ' वर्ण तथा "लीलावदंश" एवं 'शर' मं 'श' वर्ण इत्यादि परूष वर्ण है । 'कृत्ति' म दो तुल्य वर्णों (त, त) का योग है । 'भिरासवर्द्धि' तथा 'स्रग्दार्य' में ऊपर रेफ हैं और 'सृजा' एवं 'अलंकृति' में नीचे रेफ है । यहाँ दीर्घ बन्ध एवं विकट रचना है, अतः ओजोगुण की अभिव्यक्ति में सभी तत्त्व विद्यमान हैं । वीर की अपेक्षा बीभत्स रस में ओज की अधिकता होती है अतएव यहाँ ओजागुण अधिक स्फुरित हो रहा है ।

नृत्यद्वक्रभ्रकुटिघटिताटोपललाटनेत्र --
स्पर्धाबन्धप्रणयि धनुषः कुञ्चितस्याञ्चनेन ।
दैत्यग्लानत्रिजगदगदंकारचारित्रसीमा
सोऽरातिभ्यः समधित ततो हव्यभुङ्मत्रमस्त्रम् ।।[1]

क्रोध से वक्र भ्रकुटि के तुल्य पूर्णप्रतानित धनुष पर, त्रिलोक दुःखदारण समर्थ भगवान् शिव ने शत्रुओं के प्रति अग्निशर को धारण किया ।

प्रस्तुत उदाहरण में दैत्यों के विनाशार्थ भगवान् शङ्कर द्वारा अग्नि शर धारण करना साक्षात रौद्र रस का परिपाक है, अतः यहाँ दीप्तिरूप ओजोगुण चित्त को प्रज्ज्वलित कर देता है ।'भ्रकुटिघटिताटोपललाट' में 'ट' वर्ण की अधिकता, 'धनुषः' में 'ष' वर्ण, इत्यादि परूष वर्ण ओज की अभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध होते हैं । "नृत्यद्वक्रभ्रकुटि...' इत्यादि मे रेफ, तथा 'ततो' में दो तुल्य वर्ण (त, त) का योग है । यहाँ दीर्घ बन्ध एवं विकट रचना है अतः ओजगुण की अभिव्यक्ति में सभी सहायक तत्त्व विद्यमान हैं ।

---

1. श्रीकण्ठ0 24/7

(स) **प्रसादगुण :–**

जिस प्रकार सूखे ईंधन में अग्नि तथा स्वच्छ वस्त्र में जल सहसा व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार जो गुण अनायास ही चित्त में व्याप्त हो जाता है वह प्रसादगुण है । इसकी स्थिति सभी रसों तथा रचनाओं में होती हैं ।[1] जिसके द्वारा श्रवणमात्र से ही शब्द से अर्थ की प्रतीति हो जाती है तथा जो सब रसों और रचनाओं में समानरूप से हो सकता है, वह प्रसादगुण माना गया है ।[2]

प्रस्तुत महाकाव्य अत्यन्त क्लिष्ट होने के कारण प्रसादगुण से प्राय शून्य है फिर भी कहीं कहीं कुछ उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं –

सुखोऽनिलः खं विशदं जलानि रम्याणि तेजस्तरूणं नवा भूः ।
अहो मधोः काचन शौर्यलक्ष्मीश्चकार भतेष्वपि या विकारम् ।।[3]

सुखद वायु, स्वच्छ आकाश, सुरम्य जल, मधुर तेज और सर्वथा नवशस्यश्यामला–भूमि !!! अहो ! यह क्या वसन्त की महिमा है कि जिसने जड़ भूतों में भी मनोविकार उत्पन्न कर दिया है ।

इस पद्य में अन्वय के लिए आकांक्षित सभी पद यथास्थान हैं, अतः श्रवणमात्र से ही अर्थ का बोध हो जाता है । इसमें सभी माधुर्यव्यञ्जक वर्ण, मध्यमसमास, एवं मधुर रचना – ये सब भी प्रसादगुण के व्यञ्जक हैं ।

कालकूटमिह निन्दति लोको येन शंभुरजरामर एव ।
अन्तकं विरहणीषु सुधांशु स्तौत्यमुं तु विरलो हि विवेकः ।।[4]

---

1. का0प्र0 8/70
2. का0प्र0 8/76
3. श्रीकण्ठ0 6/37
4. श्रीकण्ठ0 11/54

जिस कालकूट के पान के द्वारा शम्भु अजर अमर हैं , उस कालकूट की संसार निन्दा करता है । और विरहणियों के नाशक इस सुधांशु की प्रशंसा । संसार में विवक है कहाँ अर्थात् सुधांशुदर्शन की अपेक्षा कालकूटभक्षण श्रेष्ठ है सतत् दुःख दायी चन्द्र कालकूट से बढ़कर है ।

प्रस्तुत श्लोक का अर्थ भी श्रवणमात्र से ही स्पष्ट हो जाता है और यहाँ पर सभी तत्त्व प्रसादगुण के व्यञ्जक हैं ।

(III) प्रस्तुत ग्रन्थ में गुणों की समीक्षा :–

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य एक चित्रकाव्य है । चित्रकाव्य में शब्द चमत्कार की प्रधानता होती है । प्रस्तुत काव्य ग्रन्थ में कवि ने अपना सारा ध्यान तथा कवित्त्वशक्ति शब्दालड़्.कारों एवं अर्थालड़्.कारों के चमत्कार और "उत्प्रेक्षा" नामक अर्थालड़्.कार के अधिकाधिक सन्निवेश में लगा दिया है । इस कारण प्रस्तुत महाकाव्य में रस एवं गुण अत्यन्त उपेक्षित से हो गये हैं । श्रृड़्.गार, करूण तथा शान्त इत्यादि कोमल रस माने गये हैं, अतएव इन रसों के वर्णन में यथासम्भव कोमल वर्णों का प्रयोग ही होना चाहिए । जहाँ इन रसों में कोमल वर्णाे तथा छोटी छोटी पदावलियों का प्रयोग होता है वही माधुर्य गुण की स्थिति होती है किन्तु प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" में श्रृड़्.गार, करूण आदि रसों के प्रसड़्.गो में प्रायः परूष वर्णों का प्रयोग मिलता है जिससे रसास्वादन में व्यवधान उपस्थित होता है इसके अतिरिक्त श्रमसाध्य उत्प्रेक्षा, श्लिष्ट सांगरूपक एवं समासोक्ति के प्रचुर प्रयोगों के कारण यह महाकाव्य आद्योपान्त इतना जटिल एवं दुरूह हो गया है कि इसका अर्थ समझना अत्यन्त दुष्कर कार्य है, फिर श्रवणमात्र से अर्थप्रतीति की कल्पना करना स्वप्नवत् ही है इन्हीं कारणों से प्रस्तुत महाकाव्य में गुण अत्यन्त शोचनीय दशा को प्राप्त हो गये हैं ।

(ख) रीति अथवा वृत्ति :–

(I) रीति परिचय :–

'रीति' शब्द रीड़्. गतौ धातु से क्तिन् प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है ।

काव्य की विशेष प्रकार की शैली 'रीति' कहलाती है। 'रीति' के लिए 'मार्ग', 'संघटना' तथा 'वृत्ति' शब्द भी प्रचलित हैं। काव्यशास्त्र में 'वृत्ति' शब्द नाट्यशास्त्र की आरभटी आदि वृत्तियों से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है।

अग्निपुराण में 'रीति' शब्द का ही प्रयोग मिलता है। वहाँ चार प्रकार की रीतियाँ बताई गई हैं –

पाञ्चाली, गौड़ी, वैदर्भी तथा लाटी।[1] आचार्य भामह ने केवल दो रीतियाँ मानी है – वैदर्भी तथा गौड़ी।[2] आचार्य वामन ने रीति को ही काव्य की आत्मा मानते हुए विशिष्ट प्रकार की माधुर्यादि गुण युक्त पद रचना को "रीति" कहा है।[3] और वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली – इन तीन प्रकार की रीतियों का निरूपण कियाहै।[4] आचार्य कुन्तक ने रीति के लिए "मार्ग" शब्द का प्रयोग किया है तथा तीन प्रकार के काव्य मार्ग बताये हैं – सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग तथा उभयात्मक मध्यमार्ग।[5] यह तीनों मार्ग वामन द्वारा निर्धारित वैदर्भी, गौड़ी तथा पाञ्चाली रीतियों के ही क्रमशः नामान्तर हैं किन्तु कुन्तक रीति भेदों का आधार देश भेद को स्वीकार करने को तैयार नहीं है क्योंकि इस प्रकार देशों के अनन्त होने से रीतियाँ भी असंख्य हो जायेगी।[6] ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन ने रीति का आधार समास को माना है किन्तु उन्होंने "रीति" के स्थान पर "संघटना" शब्द का प्रयोग किया है तथा असमासा, मध्यमसमासा, एवं दीर्घसमासा नामक तीन संघटनाओं

---

1. अग्निपुराण 340/1
2. काव्यालङ्कार 1/32
3. काव्यालङ्कार सूत्र 1/2/7, 8
4. काव्यालङ्कार सूत्र 1/2/9
5. वक्रोक्तिजीवित 1/24
6. वक्रोक्तिजीवित 1/24 वृत्ति भाग देखिये

का विवेचन किया है ।[1] उनके अनुसार संघटना माधुर्यादि गुणो के आश्रित होकर रसों को अभिव्यक्त करती है, वक्ता तथा वाच्य का औचित्य एवं विषयाश्रित औचित्य भी संघटना का नियमन करता है ।[2] उद्भट[3] तथा मम्मट[4] ने वैदर्भी, गौडी, एवं पाञ्चाली रीतियो को ही क्रमशः उपनागरिका, परूषा एवं कोमला "वृत्ति" कहा है । उद्भट ने लिखा है कि कोमलावृत्ति ही ग्राम्यावृत्ति कहलाती है । आचार्य मम्मट ने वृत्तियों को गुणाभिव्यञ्जक मानते हुए माधुर्यादि तीन गुणों के अनुसार ही उपनागरिका आदि तीनों वृत्तियो का निरूपण किया है । उन्होंने वृत्तियों का देश आधारित विभाग नहीं किया है । भोज ने वैदर्भी आदि तीन रीतियों के अतिरिक्त अवन्तिका, लाटीया और मागधी नामक तीन रीतियाँ और मानी हैं ।[5] आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में पदों के मेल को "रीति" कहा है तथा उसे अंगसंस्थान के समान माना है । उन्होंने चार प्रकार की रीतियाँ मानी हैं – वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली तथा लाटी ।[6]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक ही वस्तु को भिन्न भिन्न आचार्यों ने रीति, वृत्ति, मार्ग तथा संघटना इत्यादि भिन्न–भिन्न नामों से व्यवहित किया है । आचार्य मम्मट ने इसी बात की पुष्टि स्वरूप कहा है कि ये तीनों वृत्तियाँ उपनागरिकादि ही किन्हीं के मत में वैदर्भी आदि रीतियाँ मानी गयी हैं ।[7] परन्तु रीति, वृत्ति इत्यादि नामों में अन्तर के पीछे शास्त्रकारों का कुछ मन्तव्य अवश्य है । वैदर्भी आदि रीतिभेदों, उपनागरिका आदि वृत्ति भेदों एवं असमासा आदि संघटना भेदों की परिभाषाओं

---

1. ध्वन्यालोक 3/5
2. ध्वन्यालोक 3/6,7
3. काव्यालङ्कार सारसंग्रह देखिये
4. का0प्र0 9/80
5. सरस्वतीकण्ठाभरण 2/52
6. सा0द0 9/1,2
7. का0प्र0 9/81

से रीति, वृत्ति तथा संघटना के सूक्ष्म अन्तर का पता चलता है । रचना को वर्ण और पद की दृष्टि से दो भागों मे विभक्त किया जा सकता है । वर्णों के प्रयाग की दृष्टि स रचना के उपनागरिका, परूषा तथा कोमला (ग्राम्या) य तीन विभाग उद्भट आदि न किये है तथा उन्हें "वृत्ति" नाम दिया है । परन्तु पदों की दृष्टि स रचना के असमासा मध्यसमासा, एवं दीर्घसमासा ये तीन भेद किये जा सकते हैं । इन्हीं तीन भेदों को ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्द्धन ने "संघटना" कहा है । अतः वर्णस्थितिप्रधान रचना के लिए "वृत्ति" शब्द तथा पदस्थिति प्रधान रचना के लिए "संघटना" शब्द का प्रयोग किया गया है । आचार्य वामन ने "रचना प्रकार" के सन्दर्भ में "रीति" शब्द का प्रयोग किया है तथा रीतियों का सम्बन्ध माधुर्यादिगुणों से जोड़ा है । चूँकि गुणों की अभिव्यक्ति में पद और वर्ण दोनों की ही उपयोगिता है, अतः वामनोक्त रीतिं मे संघटना तथा वृत्ति दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है । इसी कारण वामन के बाद रूद्रट, विश्वनाथ आदि द्वारा रीति की जो विवेचना की गई उसमें रीति के प्रत्येक भेद में उसकी वर्णगत तथा पदगत दोनों ही विशिष्टाताओ को बतलाया गया है । इस प्रकार "वृत्ति" और "संघटना" ये दोनों "रीति" के अड्.ग हैं तथा इन दोनों की समष्टि को "रीति" कहते हैं ।

आचार्य भामह को छोड़कर प्रायः सभी आचार्यों ने वैदर्भी , गौड़ी एवं पाञ्चाली रीतियों को कुछ नामान्तर के साथ स्वीकार किया है । कुछ आचार्यों ने लाटी रीति को भी मान्यता दी है परन्तु अनेक आचार्य इसे नहीं मानते हैं । अतः मुख्य रूप से वैदर्भी , गौडी तथा पाञ्चाली रीति पर विचार करना अपेक्षित है ।

(II) <u>रीति विभाजन का आधार :–</u>

रीतियों का वैदर्भी आदि विभाजन देश के आधार पर किया गया है । वैदर्भी रीति विदर्भदेश (बरार) से गौडी रीति गौड़देश (उत्तरी बंगाल) से तथा पाञ्चाली रीति पाञ्चाल देश (गड्.गा–यमुना के मध्यवर्ती भाग) से सम्बन्धित है । लाटी रीति का सम्बन्ध लाट

देश (नर्मदा के पश्चिम के भू भाग) से है ।

(III) "श्रीकण्ठचरितम्" में रीति निरूपण :-

सामान्यतया महाकवि ने समस्त महाकाव्य वैदर्भी रीति में लिखा है । परन्तु यथावसर और यथारस गौड़ी पांचाली रीतियों का भी प्रयोग किया है । अनुकूल पद सघटना के उदाहरण पान-सुरतकेलि तथा त्रिपुरसंहार में मिलते है । स्वल्पसमास वाली रचना वैदर्भीरीति के अन्तर्गत आती है । यह रीति कोमलता प्रधान है । समासों से अर्थावगम की कठोरता बढ़ जाती है । महाकवि मंखक ने वैदर्भी रीति की स्वयमेव प्रशंसा की है -

वैदर्भीरीतिसूत्र में, धीमानों के कण्ठ के हार भूत, गुम्फित सदर्थरत्नों से पूर्ण रचना, जो व्युत्पत्ति की शाणाश्मा पर और भी तीखी कर दी गई हो, क्या बिना सरस्वती के दृक्प्रसाद अर्थात् आशीर्वाद के ही बन जाया करती है ? अर्थात् वौदर्भी रीति में सदर्थो से युक्त और व्युत्पत्तिमयी रचना के लिए सरस्वती देवी की कृपा भी होनी आत्यावश्यक है ।"[1]

महाकवि मंखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" में वैदर्भी रीति का प्रयोग भी किया है "कैलासवर्णन"[2] "भगवद्वर्णन्"[3], पानकेलि[4] तथा सुरतक्रीडा[5] में वैदर्भीरीति का कवि ने प्रशंसनीय निर्वाह किया है । परन्तु कुछ श्लोकों में अनावश्यक रूप से दीर्घ समासों का प्रयोग करके महाकाव्य को दुरूह बना दिया है । इस महाकाव्य में पाञ्चाली और गौड़ी रीतिं भी दिखाई पड़ती है ।

---

1. या वैदर्भपथाध्वनीनभणितिप्रत्यग्रसूत्रान्तर-
   प्रोतप्रीतिकृदर्थरत्नघटितः कण्ठे गुणो धीमताम् ।
   वाग्देवीनयनाञ्चलाञ्चनचमत्कारं विनोदेति किं
   सा वाणी मसृणीकृता निरवधि व्युत्पत्तिशाणाश्मनि ।।" श्रीकण्ठ0 2/41
2. कैलासवर्णनम् - सर्ग 4
3. भगवद्वर्णनम् - सर्ग 5
4. पानकेलिवर्णनम् - सर्ग 14
5. क्रीडावर्णनम् सर्ग 15

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" में रीतियां का विवेचन इस प्रकार है --

(अ) वैदर्भी रीति :-

जहाँ माधुर्यव्यञ्जक वर्णों के द्वारा समासरहित अथवा अल्पसमासों से युक्त मनोहर रचना की जाती है, वहाँ वैदर्भी रीति होती है ।[1]

"श्रीकण्ठचरितम्" के अनेक प्रसङ्गों में वैदर्भी रीति का प्रयोग मिलता है, यथा –

"युक्तमाह दयितो मम वक्त्रं पङ्कजं रहसि चाटुकथासु ।
संस्तवं रूचिभिरस्य हिमांशोः प्राप्य कामपि रूजं यदुपैति ।।"[2]

प्रियतम ने एकान्त की चाटुकथाओं में मेरे मुख को उचित ही कमल कहा था, क्योकि वह मेरा मुख इस चन्द्र के सम्पर्क को प्राप्त करके कुछ मुरझा जो जाता है ।

प्रस्तुत श्लोक में माधुर्य व्यञ्जक वर्ण हैं "त" और रेफ तथा अल्पसमास से युक्त मनोहर रचना है अतएव वैदर्भी रीति यहाँ पर है ।

(ब) गौडी रीति :-

जिस रचना में ओज को प्रकाशित करने वाले कठिन वर्णों का प्रयोग होता है तथा समासों की अधिकता होती है, वहाँ गौडी रीति होती है ।[3]

---

1. माधुर्यव्यञ्जकैवर्णै रचना ललितात्मिका ।
आवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिष्यिते ।। सा0द0 9/2,3
2. श्रीकण्ठ0 11/60
3. ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ।।
समासबहुला गौड़ी ....। सा0द0 9/3,4

"श्रीकण्ठचरितम्" में गौडी रीति का भी प्रयोग हुआ है यथा –

"कालत्वं भ्रकुटीषु वेपथुरथो दन्तच्छदे भीष्मता –
भाजामूष्मभरश्च चेतसि पदं तेषां बबन्ध क्रुधा ।
अन्योन्याहितसड्.गकृष्णहिमगुज्वालाध्वजोट्टड्.कतं
श्रीकण्ठाशुगपातवैशससमासत्तिप्रभावादिव ।।"[1]

भीषणता को धारण करने वाले उन त्रिपुरों की विकराल भ्रकुटियों में कृष्णत्व, ओष्ठाधर में वेपथु और चित्त में आक्रोश भर गया । कृष्ण, शीतकर, और अग्नि के सम्मिश्रण से बने श्रीकण्ठ के बाण के पतन से ही सम्भवत उनकी यह दशा थी ।

प्रस्तुत श्लोक में "ट" और "ष" वर्ण एवं दो तुल्य वर्ण (त, त) का योग है । यहाँ दीर्घबन्ध एवं विकट रचना है अतः ओज को प्रकाशित करने में सभी सहायक तत्त्व विद्यमान हैं इसलिए इस पद्य में गौड़ी रीति है ।

(स) **पाञ्चाली रीति :-**

आचार्य वामन के अनुसार माधुर्य और सौकुमार्य गुणों से युक्त रीति का नाम पाञ्चाली है ।[2] किन्तु आचार्य विश्वनाथ के मत में वैदर्भी तथा गौडी रीति के जा शेष वर्ण हैं अर्थात् जो वर्ण न माधुर्य व्यञ्जक हैं, न ओजव्यञ्जक, ऐसे वर्णो से युक्त रचना, जिसमें पाँच – छः पदों तक का समास हो, वह रीति पाञ्चाली कहलाती है ।[2] आचार्य मम्मट ने "पाञ्चाली रीति" को ही "कोमला वृत्ति" कहा है तथा उसका लक्षण विश्वनाथ द्वारा दिये गये पाञ्चाली रीति के लक्षण के अनुसार ही किया है ।[4] उद्भट के मत में

1. श्रीकण्ठ0 23/5/
2. माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली ।।--काव्यालड्.कार सूत्र 1/2/13
3. ....वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः ।
   समस्त पञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता ।। सा0द0 9/4
4. कोमला परैः ।। परैः शेषैः । का0प्र0 9/80

कोमला वृत्ति ही ग्राम्या वृत्ति" कहलाती है ।[1]

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य में मङ्खक ने पाञ्चाली रीति का भी प्रयोग किया है यथा –

कालकूटमधुनापि निहन्तुं हन्त नो वहसि लाञ्छनभङ्गया ।
यद्भयादिव निगीर्णमपि त्वामाशु मुञ्चति सुधाकर राहुः ।।[2]

हे चन्द्र ! तुम क्या आज भी (क्योंकि जन्म के पूर्व तुम समुद्र के गर्भ में कालकूट के साथ ही बसते थे) हम विरहिणियों को मारने के लिए कालकूट विष को धारण कर रहे हो सम्भवतः इसी से राहु तुम्हे निगल कर भी कालकूट कलंक के भय से पुनः उगल देता है ।

(ग) <u>छन्दोविचार :-</u>

(I) <u>छन्द परम्परा :-</u>

सुवृत्ततिलक में आचार्य क्षेमेन्द्र ने विभिन्न छन्दों के विविध रसों–विषयों में प्रयोग किये जाने की परम्परा का निरूपण किया है । विशिष्ट कवियों के प्रिय छन्दों का भी संकेत उन्होंने किया है । जैसे काल विशेष में ही कोई विषय (रस भाव) किसी राग विशेष भैरवी आदि में गाया जा सकता है । उसी प्रकार रस आदि भावादि भी सामान्यतः जिस किसी भी छन्द में न लिखे जाकर किसी छन्द विशेष के ही विषय हुआ करते हैं । उस रस छन्द के सामंजस्य का निरूपण सुवृत्ततिलक में किया गया है । आचार्य क्षेमेन्द्र ने बताया है कि –

1. कथा और उपदेश प्रायः विषय अनुष्टुप छन्द में लिखना चाहिए ।

---

1. शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया ।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः ।। काव्यालङ्कार सार सङ्ग्रह 1/7

2. श्रीकण्ठ0 11/56

2. श्रृंगार रस संयोग पक्ष आलम्बन वर्णन, नायिका रूप वर्णन, वसन्त जलक्रीडादि ललितवर्णन, उपजाति छन्दो में ।

3. चन्द्रोदय प्रकृति विभावों का वर्णन रथोद्धता में करना चाहिए ।

4. षाड्गुण्यादि राजनीति का वर्णन वंशस्थवृत्त में करना चाहिए ।

5. वीर रस तथा रौद्र के संकर में वसन्ततिलका छन्द का ।

6. सर्गान्त मालिनी छन्द में करना चाहिए ।

7. परिक्षेपादि में शिखरिणी का प्रयोग करना चाहिए ।

8. रूचि–औचित्य विचार में हारिणीवृत्त है ।

9. साक्षेप क्रोध धिक्कार में पृथ्वी वृत्त का प्रयोग करें ।

10. वर्षाद्विवर्णन में मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग करना चाहिए ।

11. नृपादि में शौर्यादि के वर्णन में शार्दूलविक्रीडित वृत्त समीचीन है ।

12. संवेग पवनादि के वर्णन में स्रग्धरा वृत्त ठीक है ।

इन छन्दों में कोई क्रमबद्ध रस विषय रूचिकर नहीं होता [1]

---

1. सुवृत्ततिलक – 3/9–23 – महाकवि क्षेमेन्द्र रचित

§11§ **प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" में उपलब्ध छन्दों का विवेचन :-**

महाकवि मंखक ने अनुष्टुप छन्द का प्रयोग कैलासवर्णनम् के 45वें पद्य गणोद्योगवर्णन के 45वें पद्य में, 25वें सर्ग के 105वें पद्य में किया है । इन विषयों में रस वृत्त का प्रयोग सर्वथा परम्परा के अनुकूल हैं । ग्रन्थारम्भ के साथ-साथ प्रथम सर्ग के प्रारम्भ में 44 इन्द्रवज्रा वृत्तों में नमस्कार वर्णन परम्परा के अनुकूल है । षष्ठ सर्ग में 57 उपजाति-वृत्तों मे वसन्त वर्णन सर्वथा परम्परा के अनुकूल है । 11वें सर्ग म 11 पद्यों में आलम्बन चन्द्र की प्रशंसा 12वें सर्ग में 16 उपेन्द्रवज्रा वृत्तों में दूतीवाक्य, इसी सर्ग में 22 इन्द्रवज्रा पद्यों में समुद्रक्षोभ का वर्णन, सर्ग 20 में 55 उपजाति वृत्तों मे रथबन्धन एवं 21वें में 41 उपेन्द्रवज्रा पद्यों में रथयात्रादि सर्वथा परम्परा प्राप्त ही है । दशम सर्ग में 40 रथोद्धता पद्यों में सन्ध्या वर्णन तो सर्वथा परम्परा का पालन ही है । कश्मीर तथा स्ववंशादि के वर्णन में वंशस्थ का प्रयोग परम्परा के विपरीत है । वसन्ततिलका का प्रयोग विविध है

शिखरिणी हारिणी तथा पृथ्वीवृत्तों का प्रयोग कवि ने अत्यल्प किया है । मन्दाक्रान्ता के 9 पद्यों में प्रभातीगायन सर्वथा समीचीन है ।

शार्दूलविक्रीडित का प्रयोग सर्ग 2 में 16वें पद्य, सर्ग 16 में 27वें पद्य तथा सर्ग 25 में 25वें पद्य में हुआ है । इस वृत्त का प्रयोग प्रतिसर्ग में हुआ है । सर्ग 12 में 19 स्रग्धरा पद्यों में चन्द्राशीर्वचन परम्परा से दूर है ।

महाकवि मंखक ने छन्दोबद्धता में परम्परा के पालन के साथ साथ स्वप्रतिभा का प्रयोग भी किया है ।

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य में 25 सर्ग हैं । सम्पूर्ण पद्य संख्या 1649 है यह 1649 पद्य केवल 26 छन्दों में विभक्त है । महाकवि मंखक ने सर्गारम्भ रस एवं विषयानुकूल छन्दों से किया है और अन्त अधिकांशतः स्रग्धरा या शार्दूलविक्रीडित छन्द

में किया है । संख्या और प्रयोग की दृष्टि से स्पष्ट है कि कवि को इन्द्रवज्रा , उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वसन्ततिलका, अनुष्टुप और शार्दूलविक्रीडित विशेष रूचिकर है । महाकवि मंखक ने प्रसिद्ध आर्याछन्द का प्रयोग अपने 25 सर्गों में एक बार भी नहीं किया है । चतुर्थ सर्ग में वियोगिनी का मात्र एक बार प्रयोग किया है । इसी प्रकार "रूचिरा" का प्रभातवर्णन में एक बार का प्रयोग भी आश्चर्यकारक है ।

महाकवि मंखक ने साधारण वर्णन के लिए परम्परा प्राप्त इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति वृत्त को चुना है । धार्मिक औरश्रद्धास्पद विषय के वर्णन के लिए अनुष्टुप का प्रयोग किया है । वसन्ततिलका का प्रयोग अत्यन्त विस्तृत है । इस छन्द में कवि ने लगभग प्रत्येक विषय और रस का वर्णन किया है । पंचम सर्ग का प्रारम्भ इस छन्द में करके 47 पद्यों में महाकवि ने भगवद्वर्णन किया है । 15वें सर्ग का प्रारम्भ भी इसी छन्द में करके 40 पद्यों में जलक्रीडा वर्णित है । सर्ग 18 का प्रारम्भ इसी वृत्त में करके 54 छन्दों में गणक्षोभ का वर्णन है । भगवद्वर्णन जलक्रीडा और गणक्षोभवर्णन अपनी विविधता के कारण स्पष्ट संकेत करते हैं कि वसन्ततिलका कवि का प्रियतम वृत्त है केवल सर्ग 24 को छोड़कर प्रत्येक सर्ग में इसका प्रयोग भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है । शा0 वि0 का प्रयोग कवि ने प्रत्येक सर्ग में किया है । इस दण्डक एवं गणछन्द का प्रयोग प्रत्येक रस एवं विषय में करके महाकवि मंखक ने अपने छन्द पाण्डित्य का सफल प्रदर्शन किया है । 16वें सर्ग का प्रारम्भ इस वृत्त से करके मंखक ने 27 पद्यों में प्रभात वर्णन किया है । 25वें सर्ग में विविध विषयों के वर्णन के 25 ही शा0 वि0 पद्य है । प्रभात सन्ध्या तथा भगवद्वर्णन जैसे पवित्र विषयों का वर्णन इस वृत्त में विशेष है । 3 सर्गों का अन्त भी कवि ने इसी छन्द में किया है । स्रग्धरा का मात्र प्रयोग सर्ग का अन्त करने में है । 12वें सर्ग में 19 पद्यों में चन्द्रवर्णन आशीर्वचन कुछ विशेषता लिए हुए है ।

अनुष्टुप में चतुर्थसर्ग के प्रारम्भ में 45 पद्य कैलासवर्णन सर्ग 19 के प्रारम्भ में 44 पद्यों में विविध/विषय तथा 25वें सर्ग में 115 पद्यों में विविध विषय वर्णित हैं। इन तीन सर्गारम्भों के अतिरिक्त इसका अन्यत्र एक भी प्रयोग नहीं है। षष्ठ सर्ग के प्रारम्भ में 57 उपजाति पद्यों में वसन्त वर्णन करते हुए कवि ने उपजातिवृत्त प्रयोग में मौलिकता का प्रयोग किया है। इन्द्रवज्रा एवं उपेन्द्रवज्रा के विशुद्ध प्रयोग महाकवि मंखक की छन्दक्षमता के द्योतक हैं। साथ ही इस महाकाव्य का प्रारम्भ महाकवि ने इन्द्रवज्रा में ही किया है अन्त शिखरिणी वृत्त में है। तृतीय सर्ग के प्रारम्भ में 69 पद्यों में वंशस्थ वृत्त में स्ववंशादि का वर्णन महाकवि की छन्दचयन की सजगता, स्वतन्त्रता तथा मौलिकता का अभिद्योतक है। नवें सर्ग के प्रारम्भ में जलक्रीडा का वर्णन महाकवि ने उद्गता छन्द में किया है ऐसा प्रतीत होता है कि उदक् + गता विग्रहकरके ही महाकवि ने जलकेलि के वर्णन हेतु इस छन्द को चुना होगा। दर्शन मात्र देकर तत्क्षण गमनोद्यत और रथारूढा सन्ध्या का वर्णन रथोद्धता से बढ़कर और हो भी किस छन्द में सकता है। प्रसाधन तथा अलंकरण साधन सीमित होते हैं, सम्भवतः इसी दृष्टिकोण से महाकवि ने प्रसाधन वर्णन के लिए "प्रमिताक्षरा" जैसे छन्द को चुना है। प्रभातवर्णन विभावरी में न करके शा० वि० तथा अन्य छन्दों में करना महाकवि की भक्तिभावना का एक धुधला संकेत ज्ञात होता है मखंक ने भगवद्गोष्ठी का वर्णन प्रहर्षिणी जैसे सुन्दर छन्द में किया है। वसन्ततिलका छन्द वीर रस के वर्णन के अनुकूल नहीं है। फिर भी इस छन्द में "गण क्षोभवर्णन केवल मात्र गणों के प्रति भी कवि की आस्था विशेष को ही अभिद्योतित करता है। भयंकर प्राकृतिक विप्लवों का वर्णन प्रायः सभी महाकवियों ने शर्दूलविक्रीडित में किया है। महाकवि ने भी अपशकुनों का वर्णन शार्दूलविक्रीडित 9 पद्यों में किया है। दैत्य क्षोभ का देवों ने स्वागत ही किया होगा, तभी तो इसका वर्णन भी स्वागता नाम के छन्द में हुआ है। पुष्पिताग्रा में युद्धवर्णन विजयोल्लासिनी पुष्पवर्षा के अतिरिक्त और किसी प्रकार संगति नहीं स्वीकार करता।

नवीनता से प्रेरित होकर कवि ने कहीं कहीं पर छन्दों का कुछ ऐसा मिश्रसंयोजन

किया है कि छन्द को ज्ञात करने में भी कठिनता उपस्थित हो गई है । एक सर्ग म एक ही वृत्त और सर्गान्त में भिन्न छन्द के संयोजन की महाकाव्य परम्परा का कवि ने सर्वथा तिरस्कार किया है । वसन्त तिलका तथा शार्दूलविक्रीडित का प्रत्येक विषय के वर्णन के अनुकूल होना भी विचारणीय है ।

सर्ग	छन्द	श्लोक संख्या	विषय
प्रथम सर्ग	1. इन्द्रवज्रा	44	नमस्कारवर्णन
	2. शार्दूलविक्रीडित	10	"
	3. वसन्ततिलका	2	"
द्वितीय सर्ग	1. इन्द्र वज्रा	27	दुर्जननिन्दादि
	2. शार्दूलविक्रीडित	13	सत्कविप्रशंसा
	3. बसन्ततिलका	"	सत्काव्यनिर्णय
	4. मन्दाक्रान्ता	1	कविप्रशंसा
	5. शिखरिणी	2	"
तृतीय सर्ग	1. शार्दूलविक्रीडित	3	दिवंगतपितृवर्णन
	2. बसन्ततिलका	1	पितृ आदेश
	3. मालिनी	1	पितृवर्णन
	4. मंजुभाषिणी	2	पितृ आज्ञा
	5. वंशस्थ	69	कश्मीर तथा स्ववंशादि वर्णन
	6. शिख रिणी	2	पितृशोक शान्ति वर्णन एवं स्वप्न
चतुर्थ सर्ग	1. अनुष्टुप	45	कैलासवर्णन
	2. उपेन्द्रवज्रा	1	"
	3. पुष्पिताग्रा	1	"

सर्ग	छन्द	श्लोक संख्या	विषय
	4. शार्दूलविक्रीडित	6	कैलासवर्णन
	5. वसन्ततिलका	4	"
	6. मालिनी	1	"
	7. मंजुभाषिणी	1	"
	8. वियोगिनी	1	"
	9. वंशस्थ	1	"
	10. शिखरिणी	1	"
	11. स्रग्धरा	2	"
पंचमसर्ग	1. शार्दूलविक्रीडित	4	शिवमहिमा वर्णन
	2. वसन्ततिलका	57	"
	3. मालिनी	1	"
	4. मन्दाक्रान्ता	2	"
	5. शिखरिणी	1	"
	6. स्रग्धरा	1	"
	7. हरिणी	1	"
षष्ठसर्ग	1. उपजाति	57	वसन्तवर्णन
	2. पृथ्वी	1	"
	3. शार्दूलविक्रीडित	6	"
	4. प्रहर्षिणी	1	"
	5. वसन्ततिलका	1	"
	6. मालिनी	4	"
	7. मंजुभाषिणी	1	"
	8. शिखरिणी	1	"
	9. स्रग्धरा	1	"

सर्ग	छन्द	श्लोक संख्या	विषय
	10.हारिणी	1	वसन्तवर्णन
सप्तमसर्ग	1. पुष्पिताग्रा	45	वन--विहारवर्णन
	2. शार्दूलविक्रीडित	2	"
	3. वसन्ततिलका	14	दालाक्रीडावर्णन
	4. मालिनी	2	"
	5. मन्दाक्रान्ता	1	"
	6. स्रग्धरा	1	"
	7. हारिणी	1	"
अष्टमसर्ग	1.औपछन्दसिक	52	कुसुमावचयवर्णन
	2. शार्दूलविक्रीडित	2	"
	3. वसन्ततिलका	2	"
नवमसर्ग	1. उद्गता	45	जलक्रीडा
	2. वसन्ततिलका	4	"
	3. शार्दूलविक्रीडित	2	"
	4. शिखरिणी	1	"
	5. हरिणी	1	"
	6. प्रहर्षिणी	1	"
	7. मंजुभाषिणी	1	"
	8. पृथ्वी	1	"
दशमसर्ग	1. रथोद्धता	40	सन्ध्यावर्णन
	2. वसन्ततिलका	5	"
	3. शिखरिणी	2	"
	4. शार्दूलविक्रीडित	8	"
	5. स्रग्धरा	2	"

सर्ग	छन्द	श्लोक संख्या	विषय
	6. हारिणी	2	सन्ध्यावर्णन
	7. मालिनी	1	"
	8. पुष्पिताग्रा	1	"
एकादशसर्ग	1. स्वागता	24	चन्द्रवर्णन
	2. पुष्पिताग्रा	8	कृष्णाभिसारिका वर्णन
	3. वसन्ततिलका	19	शुक्लाभिसारिका वर्णन
	4. स्वागता	11	चन्द्रनिन्दा
	5. उपजाति	11	चन्द्रप्रशंसा
	6. शार्दूलविक्रीडित	1	"
	7. स्रग्धरा	1	"
द्वादशसर्ग	1. स्वागता	12	युद्धसज्जा
	2. वैतालीय	12	कामपत्नी रति का अनुनय
	3. उपेन्द्र वज्रा	4	दूतीवाक्य
	4. इन्द्रवज्रा	19,3	समुद्रक्षोभ
	5. स्रग्धरा	18,1	चन्द्राशीर्वचन
	6. वैतालीय	13	चन्द्रचाटुता
	7. शार्दूलविक्रीडित	2	चन्द्रवर्णन
	8. मन्दाक्रान्ता	1	"
त्रयोदशसर्ग	1. प्रमिताक्षरा	42	प्रसाधनवर्णन
	2. वसन्ततिलका	7	"
	3. शार्दूल विक्रीडित	6	"

सर्ग	छन्द	श्लोक संख्या	विषय
	4. मालिनी	1	प्रसाधनवर्णन
	5. मन्दाक्रान्ता	1	"
चतुर्दशसर्ग	1. मंजुभाषिणी	52	पानकेलिवर्णन
	2. वसन्ततिलका	7	"
	3. शार्दूलविक्रीडित	3	"
	4. मन्दाक्रान्ता	2	"
	5. पुष्पिताग्रा	1	"
	6. मालिनी	1	"
	7. स्रग्धरा	2	"
पंचदशसर्ग	1. वसन्ततिलका	40	कामक्रीडावर्णन
	2. हारिणी	2	"
	3. स्रग्धरा	3	"
	4.शार्दूलविक्रीडित	3	"
	5. मन्दाक्रान्ता	2	"
षोडशसर्ग	1. शार्दूलविक्रीडित	27	शिवजागरण प्रभाती गायन वर्णन
	2. मन्दाक्रान्ता	9	"
	3. हरिणी	4	"
	4. वसन्ततिलका	8	"
	5. मालिनी	2	"
	6. शिखरिणी	5	"
	7.रूचिरा	1	"
	8. पृथ्वी	1	"
	9. स्रग्धरा	2	"

सप्तदशसर्ग	1. प्रहर्षिणी	57	देववार्ता
	2. मालिनी	2	असुरवर्णन
	3. वसन्ततिलका	2	''
	4. शिखरिणी	1	''
	5. शार्दूलविक्रीडित	3	दवविपर्यान्त वर्णन
	6. स्रग्धरा	2	दहनप्रस्ताव
अष्टदशसर्ग	1. वसन्ततिलका	54	गणक्षोभवर्णन
	2. शार्दूलविक्रीडित	3	''
	3. स्रग्धरा	3	''
	4. पृथ्वी	1	''
एकोन्विंशति सर्ग	1. अनुष्टुप	44	गणोद्योग वर्णन
	2. पुष्पिताग्रा	2	''
	3. वसन्ततिलका	4	अपशकुनवर्णन
	4. शार्दूलविक्रीडित	9	''
	5. मन्दाक्रान्ता	2	''
	6. पृथ्वी	1	''
	7. स्रग्धरा	2	''
	8. मालिनी	1	''
विंशसर्ग	1. उपजाति	55	रथबन्धन वर्णन
	2. मन्दाक्रान्ता	2	''
	3. शार्दूलविक्रीडित	6	''
	4. वसन्ततिलका	1	''
	5. स्रग्धरा	1	''

सर्ग	छन्द	श्लोक संख्या	विषय
एकविंशति सर्ग	1. उपेन्द्रवज्रा	41	अभियान वर्णन
	2. शार्दूलविक्रीडित	4	''
	3. मन्दाक्रान्ता	3	''
	4. वसन्ततिलका	2	''
	5. पुष्पिताग्रा	1	''
	6. पृथ्वी	1	''
	7. स्रग्धरा	1	''
द्वविंशति सर्ग	1. स्वागता	46	दैत्यक्षोभ वर्णन
	2. पुष्पिताग्रा	1	''
	3. वसन्ततिलका	5	''
	4. शार्दूलविक्रीडित	3	''
	5. स्रग्धरा	3	''
त्रयोविंश सर्ग	1. पुष्पिताग्रा	36	युद्धवर्णन
	2. वसन्ततिलका	4	''
	3. शार्दूलविक्रीडित	4	''
	4. रथोद्धता	1	''
	5. मालिनी	4	''
	6. स्रग्धरा	5	''
	7. शिखरिणी	2	''
चतुर्विंश सग	1. मन्दाक्रान्ता	39	पुरदहन वर्णन

सर्ग	छन्द	श्लोक संख्या	विषय
	2. स्रग्धरा	2	पुरदहन वर्णन
	3. मालिनी	1	इन्द्रोल्लास
	4. शार्दूलविक्रीडित	2	जयोल्लास
पंचविंश सर्ग	1. अनुष्टुप	115	कविसन्तोषादि वर्णन
	2.शार्दूलविक्रीडित	25	कविस्तुति आदि
	3. वसन्ततिलका	6	
	4. शिखरिणी	3	

(घ) **दोष–निरूपण :–**

(i) **दोष–ज्ञान का औचित्य :–**

दोष शब्द "दुष् वैक्लब्ये" धातु से सञ्ज्ञा में घञ् प्रत्यय लगकर निष्पन्न होता है । इसका अर्थ है – दुष्ट होना, विकार कारक होना । आनन्दानुभूति कराना ही जिनका प्रधान उद्देश्य है, ऐसे काव्यादि की रचना अत्यन्त सावधानपूर्वक की जानी चाहिए, जिससे उस रचना से प्राप्त होने वाले आनन्द में विघ्न न पड़े । इसीलिए काव्य के स्वरूप की व्याख्या करते हुए मम्मटाचार्य ने सर्वप्रथम "अदोषौ" पद से उसके दोषराहित्य की बात कही है । दोष युक्त काव्य में उस चमत्कार की अनुभूति नहीं हो सकती है, जो दोषरहित काव्य से होती है । अतः दोषाभाव का निरूपण करना आवश्यक है परन्तु अभाव का स्वरूपतः निरूपण करना सम्भव नहीं है । अभाव का निरूपण उसके प्रतियोगी के निरूपण के अधीन होता है । अतः दोषाभाव – निरूपण में उसके प्रतियोगी , दोषों का विवेचन ही किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त जब तक दोषों का परिचय नहीं होगा, तब तक उनका परित्याग भी सम्भव नही है । अतः इन दो कारणों से (अभाव का निरूपण

सम्भव न होने से, तथा दोषों के परिचय के बिना उनका परित्याग असम्भव होने से)
काव्यशास्त्रियों ने दोषों का निरूपण अपने ग्रन्थों में किया है । वस्तुतः शब्दों द्वारा दोषों की ही व्याख्या करना सम्भव है , उसी से दोषाभाव की भी व्याख्या अर्थतः प्राप्त होती है ।

आचार्य वामन ने गुण के विपर्यय को ही दोष माना है ।[1] अतः उनके मतानुसार केवल गुण–स्वरूप के प्रतिपादन से दोषों का ज्ञान अर्थतः हो जायेगा ।[2] परन्तु काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने वामन के इस मत का खण्डन किया है । उद्योतकार के अनुसार "दोष केवल गुणों का विपर्यय ही नहीं होते हैं, बल्कि प्रसादादि गुणों के होने पर भी काव्य में दोषों का अस्तित्व हो सकता है, तथा गुणों का व्यत्यय अर्थात् दोषों का स्वरूप भी सरलता से वर्णित किया जा सकता है । अतः दोष–स्वरूप का विवेचन अत्यावश्यक है काव्य–रचना में दोष होने पर उसके गुण भी व्यर्थ हो जाते हैं । कहा भी गया है कि "सुन्दर शरीर भी श्वेत कुष्ठ के एक दाग से ही असुन्दर हो जाता है ।[3]

(।।) **काव्य दोष का स्वरूप :–**

आचार्य मम्मट ने दोष का लक्षण बताते हुए कहा है कि "जिससे मुख्यार्थ का अपकर्ष होता है वह दोष कहलाता है । काव्य में रस ही मुख्य है, तथा उस रस के द्वारा आश्रय लिए जाने से वाच्यार्थ भी मुख्य होता है । रस और वाच्यार्थ इन दोनो के उपयोगी (उपाय भूत) शब्दादि होते हैं, अतएव उनमें भी दोष होता है ।[4]

मम्मटोक्त इस दोष लक्षण में दोष सामान्य का कथन "मुख्यार्थहतिर्दोषः" इस वाक्यांश द्वारा किया गया है । इसमें "हति" शब्द भाव का साधन है , जिससे इसका

---

1. गुणविपर्ययात्मानो दोषाः । काव्यालङ्कारसूत्र 2/1/1
2. गुणस्वरूपनिरूपणात् तेषां दोषाणामर्थादवगमोऽर्थसिद्धिः ।। तत्रैव वृत्ति 2/1/2
3. व्यत्ययस्यापि सुवचत्वात्, प्रसादादिगुणसत्त्वेऽपि दोषसत्त्वाच्च
   स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ।" उद्योत
4. मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
   उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ।। का0प्र0 7/49

अर्थ होगा – "मुख्यस्य अर्थस्य हतिः यस्मात् स दोषः" अर्थात् जिससे मुख्यार्थ का अपकर्ष हो, वह दोष है । कुछ विद्वान यहाँ "हति" शब्द को करण का साधन मानते हैं । ऐसा मानने पर इसका विग्रह होगा – मुख्यार्थो हन्यतेऽनेनेति" अर्थात् जो मुख्यार्थ का अपकर्ष करे, वह दोष है । परन्तु "हति" शब्द चाहे भाव का साधन माना जाये, चाहे करण का साधन, दोनों ही मतों में मुख्यार्थ का अपकर्ष ही दोष है ।

यहाँ मुख्यार्थ का तात्पर्य वाच्यार्थ नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर केवल अर्थ दोषों का ही समावेश इस दोषलक्षण में हो सकेगा, जबकि दोष तो शब्द, अर्थ, गुण, रचना, वाक्य, रस, इत्यादि सभी में हो सकते हैं । जब ये समस्त दोष इस परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आ सकेंगे, तो यह लक्षण अव्याप्त हो जायेगा । अतः यहाँ पर मुख्यार्थ से तात्पर्य है – वह तत्त्व जो दूसरे की इच्छा के अधीन नहीं है, बल्कि स्वेच्छाधीन है, और ऐसा तत्त्व स्वतः पुरूषार्थरूप तथा आनन्दस्वरूप "रस" माना गया है । यहाँ मुख्य "रस" को कहा गया है – "रसश्च मुख्यः" । "रस" शब्द की 'रस्यते (आस्वाद्यते) इति रसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिनका आस्वाद लिया जाये, वे भाव आदि भी रस शब्द में उपसंग्रहीत हो जाते हैं । इस प्रकार रस भावादि के विघातक तत्त्व दोष कहलाते हैं ।

परन्तु यदि केवल रसादि के अपकर्षक ही दोष माने जायेंगे, तो नीरस काव्य अपकर्षणीय रस का अभाव होने से सर्वथा निर्दोष ही सिद्ध होगा । किन्तु ऐसा नहीं है । नीरस काव्य में भी प्रायः दोष पाये जाते हैं । इसी के समाधान के लिए आगे कहा गया है – "तदाश्रयाद् वाच्यः" अर्थात् रस के द्वारा उपकारक रूप में अपेक्षित होने से वाच्यार्थ भी मुख्य है । वाच्यार्थ के बिना रस की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है, अतः वाच्यार्थ रस का उपकारक है । वाच्यार्थ से तात्पर्य यहाँ रस सम्बन्धी वाच्यार्थ से है । इसलिए चमत्कारी अर्थ ही यहाँ मुख्यार्थ है । रसयुक्त काव्य में सभी दोष हो सकते हैं, इस

प्रकार रस दोष तथा अर्थ दोष का कथन तो हो गया , किन्तु शब्द दोष का वर्णन अभी नहीं हुआ । शब्द दोषों का दोष लक्षण में समावेश करने के लिए उपर्युक्त कारिका में कहा गया है – "उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः" अर्थात् शब्दादि तो रस तथा अर्थ (वाच्यार्थ) दोनों के उपयोगी (उपायभूत) होते है इसलिए शब्दादि में भी दोष होता है, केवल रसादि में ही नहीं होता है । "शब्द" पद की "शब्द्यते बोध्यतेऽनेन" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा बोध कराया जाय, वह "शब्द" कहलाता है । चूँकि पद और वाक्य भी प्रतिपादनात्मक बोधनक्रिया से युक्त होते हैं, अर्थात् उनके द्वारा भी बोध कराया जाता है । इसलिए "शब्द" पद से पद और वाक्य इन दोनों का ग्रहण हो जाता है । काव्य में ये भी दोष–युक्त हो सकते हैं । इसके अतिरिक्त "शब्दाद्याः" पद में "आद्य" पद से वर्ण और रचना का ग्रहण होता है ।[1] इस प्रकार रस, वाच्यार्थ, शब्द, वाक्य, वर्ण तथा रचना – ये सभी तत्त्व काव्य में मुख्य होते हैं, अतः इन सभी का अपकर्ष होने पर दोष होता है ।

दोष के उपर्युक्त लक्षण में "हति" शब्द का अर्थ "विनाश" नहीं है, क्योंकि दोषों के कारण रस का नाश नहीं होता है, प्रत्युत् दुष्ट काव्य में भी रसानुभूति होती है । यदि "हति" का अर्थ "विनाश" किया जायेगा तब तो यह दोषलक्षण ही असङ्गत हो जायेगा । वस्तुतः यहाँ "हति" शब्द "अपकर्ष" का वाचक है ।

काव्य दोष मुख्यरूप से तीन प्रकार के होते हैं – 1. शब्द दोष 2. अर्थ दोष और 3. रस दोष । वाक्यार्थ का बोध होने के पूर्व प्रतीत होने वाले दोष शब्दगत होते हैं । वाक्यार्थबोध के पश्चात् प्रतीत होने वाले तथा परम्परा से रस के अपकर्षक दोष अर्थगत दोष होते हैं । रस का साक्षात् अपकर्ष करने वाले दोष रस दोष माने गये हैं ।

---

1. शब्दाद्या इत्याद्यग्रहणाद्वर्णरचने – का0प्र0 वृत्ति 7/49

चूँकि पद पदांश तथा वाक्य का अन्तर्भाव शब्द में होता है , अतः शब्ददोष भी तीन प्रकार के सम्भव हैं – 1. पद दोष 2. पदांशदोष 3. वाक्यदोष । इस आधार पर कुल पाँच प्रकार के काव्य दोष माने गये हैं – 1. पददोष 2. पदाँश दोष 3. वाक्यदोष 4. अर्थदोष 5. रसदोष आदि । इन पाँच प्रकार के दोषों के अतिरिक्त आचार्यों ने कुछ अलङ्कार दोषों का भी वर्णन किया है, किन्तु फिर उनका अन्तर्भाव उपर्युक्त इन्ही पाँच प्रकार के दोषों में मान लिया गया है।

(III) महाकवि मंखक की दृष्टि में दोष का स्वरूप :-

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" के द्वितीय सर्ग "सुजन – दुर्जनवर्णनम्" के अन्तर्गत महाकवि मंखक ने भाषाशैली , रस, तथा काव्य-दोष आदि विषयों पर पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुसरण करते हुए कुछ अपना मत अभिव्यक्त किया है । निःसन्देह रूप से उन्होंने उपने उन सिद्धान्तों एवं नियमों का पालन भी किया है । अतः काव्य – दोष के विषय में स्वयं कवि के विचार जान लेना अपेक्षित होगा –

उत्कृष्ट कोटिं की कविता का ज्ञान किस प्रकार करना चाहिए, यह स्पष्ट करते हुए महाकवि मंखक ने कहा है – कि बिना कठिन परीक्षा के कविता का गुण नही खुलता जिस प्रकार बिना आँधी के मणिदीपक और तैल दीपक का अन्तर नही मालूम पड़ता ।[1] रमणीय काव्यों का निरीक्षण करने से दोषों का पता उसी प्रकार से चल जाता है जिस प्रकार धुले हुए वस्त्र में जरा सा धब्बा ।[2] काव्य दोष स्पष्ट बहुत ऊपर ही झलकते हैं । सम्भवतः पण्डितसभा के आचार्यों और विद्वानों ने कवि के समक्ष कुछ कह

---

1. "नो शक्य एव परिहृत्य दृढ़ां परीक्षां, ज्ञातुं मितस्य महतश्च कवेर्विशेषः ।
को नाम तीव्रपवनागममन्तरेण, भेदेन वेत्ति शिखिदीपमणिप्रदीपौ ।।" श्रीकण्ठ0 2/37

2. सूक्तौ शुचावेव परे कवीनां सद्यः प्रमादस्खलितं लभन्ते ।
अधौतवस्त्रे चतुरं कथं वा विभाव्यते कज्जलबिन्दुपातः ।। श्रीकण्ठ0 2/9

"सारमेयत्व" धारण करना उचित नहीं समझा होगा ।[1]

यही नहीं कि कवि को ज्ञान नही है । कवि उत्तम काव्य के गुण दोषों तथा काव्यात्मा रस को भली भाँति जानता –समझता है – मंखक के अनुसार साधारण कवियों के काव्य में वाच्य--लक्ष्य–व्यंग्य रूप अर्थ की स्थिति स्पष्ट नही हुआ करती, वाच्यादि अर्थ यदि स्पष्ट भी हो गये तो सुबन्त–तिङ्न्त पदों की शुद्धि दुर्लभ हो जाती है । वाच्यादि अर्थ और पदशुद्धि दोनों के मिल जाने पर किसी किसी कवि के काव्य में वैदर्भी प्रभृति रीतियाँ स्पष्ट नहीं हुआ करती । रीति भी है तो अनुकूल पदसंघटना ही कठिन होती है । उन पर भी प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकी संचरण अर्थात् वक्रगतित्व तो सर्वथा दुर्लभ ही रहता है । और यह सब भी सम्भव हो जाने पर किसी किसी की रचना काव्यात्मा रस के अभाव में नीरस हुआ करती है । बड़ा गहन है "कवित्व" ।[2]

महाकवियों के काव्य के अर्थावबोध की तीक्ष्णता से उसकी व्युत्पत्ति और सहृदयानु–रंजकता से उसके रस का अनुमान कर लेना चाहिए । यदि यह काव्य भूषण व्युत्पत्ति एवं ईक्षुदीक्षा रस प्राप्त हो तो निसन्देह कवि वाणी में पानक रस न्याय घट जाता है ।[3] रसचर्वणा "पानकरसन्याय" के अनुसार होती है । "पानक" कश्मीर में एक पेयविशेष बनाया जाता है उसमें मिर्च, जीरा, द्राक्षा और मिश्री आदि डालकर कई बार पकाते–छानते हैं । कोई महाकाव्य भी प्रतिभा, व्युत्पत्ति और रस से ही सहृदयावर्जक हुआ करता है

---

1. एकः पुनर्दुर्जनसारमेयैर्धृतो गुणोऽयं परसूक्तिकोषम् ।
विविक्षतां लुण्ठयितुं भषन्ति यदग्रतः काव्यमलिम्लुचानाम् ।।
विधेरुपाध्याय धुरामसाधुर पूर्वचारित्र धरोऽधिशेताम् ।
तेनाप्यसृष्टानि सृजत्ययं यत्सतां ललाटेषु दुरक्षराणि ।। श्रीकण्ठ0 2/22,25

2. अर्थोऽस्ति चेन्न पदशुद्धिरथास्ति सापि, नो रीतिरस्ति यदि सा घटना कुतस्त्या ।
साप्यस्ति चेन्न नववक्रगतिस्तदेत –, द्वयर्थं विना रसमहो गहनं कवित्वम् ।।
श्रीकण्ठ0 2/30

3. व्युत्पत्तिभूषणभवैहि नितान्त तैक्ष्ण्या – न्माधुर्यतो रसमथोन्मिषदिक्षु दीक्षम् ।
रूढ़ा तयोर्यदि मिथो घटना कवीनां , जातैव तदवचसि पानकरीतिसिद्धिः ।।
श्रीकण्ठ0 2/38

वे पूर्व तत्त्वदर्शी महाकवि अब कहाँ रहे कि जिन्होंने, बड़े आयास के साथ, वाणीरूपी इक्षुलता को पुनः पुनः निपीडन करके सर्वथा सरस रचनाएं रची थीं । अब तो जहाँ तहाँ कवि ही कवि दिखाई देते हैं । वे सदा कठोर अनुप्रास, मुरजवन्धादि चित्र, यमक और क्लिष्टश्लेषादि रचनाएं ही प्रस्तुत करते रहते है ।[1]

काव्य लक्षण के उपनिषद्भूत उन उन काव्यप्रकाश काव्यमीमांसादि शास्त्रग्रन्थों के पुनः पुनः परिशीलन के बिना कवित्वपर्वत पर पहुँचने में कभी भी पाटव नहीं प्राप्त होता, समयानुकूल ऋतु के प्राप्त होने पर पके हुए फल का मधुर स्वाद क्या कच्चे कैथे के फल में भी प्राप्त हो सकता है? नहीं ।[2] सर्वथा अनवद्य और सरस काव्य प्रणयन के लिए शास्त्रानुशीलन और अभ्यासकृत परिपाक आवश्यक है ।

शिथिल , संशयावह और अशक्त पदों वाले जीर्ण कविकाव्यगृह में सरस्वती कभी नहीं बसती, और न ही शास्त्रीय शब्दों की नाममात्र की स्थूणाओं से स्तम्भित, पर डगमगाते हुए घर में भी वास करती हैं ।[3] शिथिल, संशयावह और अशक्त पदों वाली कविता मात्र शास्त्रीय शब्दों के विपुल प्रयोग से ही सत्काव्य नहीं बन जाती ।

---

1. यातास्ते रससारसंग्रहविधिं निष्पीडय निष्पीडय ये
 वाक्तत्त्वेक्षुलतां पुरा कतिपये तत्त्वस्पृशश्चक्रिरे ।
 जायन्तेऽद्य यथायथं तु कवयस्ते तत्र संतन्वते
 यऽनुप्रासकठोरचित्रयमकश्लेषादिशल्कोच्चयम् ।। श्रीकण्ठ02/42

2. अविहितबृहत्तत्तच्छास्त्रक्रमोपनिषच्छ्रमे
 कवितरि गिरि प्रागल्भ्यं नो कथंचिदुदञ्चति ।
 ऋतुकृतपरीपाकस्त्रोतः प्रकर्षमनाश्रिते
 कथमिव रसप्रस्यन्दः स्याद्दधित्थशलाटुनि ।। श्रीकण्ठ0 2/48

3. शैथिल्यस्पृशि संशयावहपदे क्षोदासहिष्णौ कवेः
 स्वैरं तत्र सरस्वती निविशते किं काव्यजीर्णौकसि ।
 यच्छास्त्रक्रमशिल्पकारुभिरलंभूष्णुप्रकर्षैः परै –
 र्न्यस्ताभिः कथमप्युपस्कृतिवचः स्थूणाभिरुत्तभ्यते ।।
 श्रीकण्ठ0 2/56

इस प्रकार महाकवि मंखक न काव्य गुण दोषा का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है जो इस महाकाव्य की विशेषता है ।

(IIII) प्रस्तुत महाकाव्य में उपलब्ध काव्यदोषों का विवेचन :–

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य में प्राप्त दोषों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है –

(अ) गुणीभूतव्यंग्यादि ध्वनिकाव्य–दोष,
(ब) पद दोष, (स) अर्थदोष (द) अलड्.कार दोष
(त) रसदोष (थ) छन्दोभड्.गादि दोष

इन दोषों के निरूपण में मम्मटाचार्य के काव्य प्रकाश के दोषलक्षण तथा क्रम को स्वीकार किया है ।

(अ) गुणीभूतव्यंग्यादि ध्वनि काव्य दोष :–

अगूढ़व्यड्.ग्य, अन्य रस या वाच्यार्थ का अड्.गभूत व्यड्.ग्य, वाच्यसिद्धयड्.ग, अस्फुटव्यड्.ग्य, सन्दिग्धप्राधान्य व्यड्.ग्य, तुल्य प्राधान्य व्यड्.ग्य, काक्वाक्षिप्त और असुन्दर व्यड्.ग्य नाम के आठ मध्यमकाव्य भेद होते हैं ।[1] इन्हें हम साधारणतया दोषों में नहीं ले सकते, परन्तु उत्तम काव्य की अपेक्षा से इन्हें दोषवद् ही माना जाता है ।

(1) अगूढ़ व्यड्.ग्य :–

किंचितगूढ़ ध्वनि ही सहृदयावर्जक हुआ करती है । सहजगम्य अर्थ में एक उपेक्षा का भाव आ जाता है --

---

1. क0प्र0, 45वी कारिका

"घट्टयत्सु रूषा तेषु साटोपं करपड्.कजैः ।
हरसंसदि भीत्येव भित्तयोऽपि चकम्पिरे ।।"[1]

यहाँ पर "गणों के क्रोध से सभाभवन भी काँप रहा था " में काव्यत्व अतिन्यून है । करों का पड्.कजत्व निरूपण व्यर्थ है ।

(2) <u>वाच्यसिद्धयड्.ग :-</u>

वाक्य के वाच्य, लक्ष्य और व्यड्.ग्य तीन प्रधान अर्थ होते हैं । वाच्य की अपेक्षा लक्ष्यार्थ और इन दोनों की अपेक्षा व्यड्.ग्यार्थ उत्तम माना जाता है । कभी कभी व्यड्.ग्यार्थ वाच्यर्थ का साधक बन जाता है तब ध्वनि की चारूता नष्ट हो जाती है यथा -

'यः प्रोल्लड्.घयति स्म तारक भुवं स्वर्वाहिनीनिर्गम --
प्रोच्चण्डेन निरर्गलेन च रणोल्लासेन शक्त्येकभूः ।
आरूढ़ः स भुजंगवैरिणमयं त्वद्दवारि पारिप्लवः
सेवावाप्तिधिया स्थितिं विवृणुते स्कन्दो मुकुन्दो यथा ।।[2]

तारकभुवं -- तारक दैत्य के स्थान और ऊर्ध्वाकाश, स्वर्वाहिनी - सेना एवं गरूगा, शक्ति - पार्वती एवं सामर्थ्य, भुजंगवैरिणं - मयूर तथा गरूड़ इत्यादि श्लिष्ट विशेषणों की महिमा से स्कन्द का मुकुन्द के समान होना व्यड्.ग्य (उपमा ध्वनि) था । यहाँ महाकवि मड्.खक के द्वारा "मुकुन्दो यथा" पाठ से वह व्यड्.ग्य वाच्यार्थ "स्कन्दस्तुति" का साधक बन गया । श्लिष्ट विशेषण मुकुन्द के समान स्कन्द अर्थ के पोषक मात्र रह गये । उनकी व्यंजकता नष्ट हो गयी । "स्कन्दो मुकुन्दो बहिः" कर देने से इन इन विशेषणों से युक्त मुकुन्द के समान इन इन विशेषणों वाले स्कन्द अर्थ में श्लिष्ट विशेषणों की सार्थकता

---

1. श्रीकण्ठ0 19/3
2. श्रीकण्ठ0 16/35

अक्षण्ण रहती है ।

"दैत्योदयासवरसं श्रवणानुतर्ष -

मार्गेण ते गणगणा विनिपीतवन्तः ।

रज्यद्विलोचनकपोलतलाः स्खलद्भि -

र्वाक्यैर्विलोलवलितभ्रु विकारमूहुः ।।"[1]

दुराचारों को सुनकर क्रोध आना स्वाभाविक होता है । आँखों का लाल होना, भ्रूभङ्गादि और क्रोधादि में वाच्यवाचक सम्बन्ध होता है । पूर्वार्ध में गणों ने दैत्यों के उपद्रवादि सुने । उन्हें क्रोध आना स्वाभाविक है । उत्तरार्ध में कवि ने भ्रूविकारादि के कथन के द्वारा उस व्यङ्ग्य क्रोध को वाच्य बना दिया । क्रोध स्थायी न रहकर सञ्चारी सा प्रतीत होने लगता है ।

(3) **समप्राधान्यः-**

कभी कभी व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ के तुल्य ही चारू होता है यथा -

"तत्तद्युद्भवसुंधराचुलकितारातिप्रतापानल -

प्राग्भारं वमतामिवाट्टहसितज्वालावलीलीलया ।

तेषां रोषकषायितेक्षणपुटव्याजेन वीरश्रियो

दीयानाददिरे विचेतुमसुरान्संयन्निशायामिव ।।"[2]

"प्रमथगण क्रोध में भयंकर अटट्हास कर रहे थे । उनकी आँखें अग्नि सी जल रही थी" श्लोक का वाच्य है और 'उन्हें भयंकर क्रोध आया हुआ था ' व्यङ्ग्य दोनों समप्राधान्य हैं ।

---

1. श्रीकण्ठ0 18/1

2. श्रीकण्ठ0 18/58

फूत्कारैस्तुदतोऽप्यपारगरलोद्गारैर्गिरीशोरगा –
न्पश्यैते त्रिदशा अपि प्रतिकलं सर्वे नमस्कुर्वते ।
यत्सर्वाधमतां रसातलसमुत्पत्तेर्गता अप्यमी
संकलृप्ता भवतोत्तमाङ्गघटनाद्विश्वोपरि स्थायिनः ।।[1]

श्लोक के पूर्वार्ध में – 'दुःखद भी गिरीशोरग देवताओं के द्वारा नमस्कार किये जा रहे हैं – सर्पो का श्रेष्ठत्व गम्य है ' । श्लोक के उत्तरार्ध का वाच्यार्थ भी यही है । वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ तुल्यप्राधान्य की कोटि के हैं ।

(4) असुन्दरः व्यङ्ग्य :–

कभी–कभी बहुत असुन्दर व्यङ्ग्य भी निकल आया करता है यथा –

"क्ष्मापीठपृष्ठमपि घट्टयतोऽतिवेल–
मुद्वेलमत्सररसप्लवमानदृष्टेः ।
अभ्यासतो मुरजवादन विभ्रमेषु
नो नन्दिनः करतलं श्रममाससाद ।।"[2]

श्लोक का वाच्यार्थ है – गर्वयुक्त आँखों वाले नन्दी की हथेलियाँ बड़ी देर तक पृथ्वी को पीटते रहने पर भी नहीं थकीं, क्योंकि वे मृदंग के बजाने के सतत् अभ्यासी थे ' । व्यङ्ग्यार्थ निकलता है – "मृदंग बजाने के सतत् अभ्यासी नन्दी व्यर्थ ही पृथ्वी को पीट रहे थे ।' अतएव यहाँ पर असुन्दर व्यङ्ग्य है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 16/52
2. श्रीकण्ठ0 18/52

(ब) **पद दोष :–**

एक पद के दूषित होने से रसास्वादन में व्यवधान उत्पन्न हो जाता है । वाक्य दोष भी इन्हीं के साथ है ।

1. **च्युतसंस्कृति पद दोष :–**

"च्युता स्खलिता संस्कृतिः संस्करणं व्याकरण-- लक्षणानुगमो यत्र' इस विग्रह के अनुसार "च्युतसंस्कृति' वह दोषयुक्त पद है जो व्याकरण के नियमों के विरुद्ध हो ।[1]

जिस भाषा में काव्य रचना की गई हो, उसी भाषा के व्याकरण के आधार पर उसकी अशुद्धि (व्याकरणहीनता) पर विचार किया जाता है ।[2]

व्याकरण के नियमों का उल्लङ्घन सभी प्रकार के काव्यों में दोष रूप ही माना जाता है । प्रस्तुत महाकाव्य में कुछ पद्य ऐसे हैं , जिनमें व्याकरण के नियमों का पूर्णरूपेण पालन नही हुआ है , यथा –

अधिवल्लिमण्डपमखण्डमान्मथप्रथमोपदेशगुरू भङ्गुरभ्रुवः ।
अथ वल्लभैः समभग्न विभ्रमा मधु कर्तुमीषुरधरामृतातिथिम् ।।[3]

प्रस्तुत श्लोक में "इष्" धातु दिकर्मक नहीं हैं अतः "मधु......अतिथिम् कर्तुमीषुः" अशुद्ध है 'मधु अतिथी कर्तुमीषुः' हो सकता है परन्तु छन्दोभङ्ग हो जायेगा । इस दशा में च्युतसंस्कृति दोष होता है ।

---

1. च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनम् । का0प्र0वृत्ति 50,51
2. यद्भाषासंस्कारकव्याकरणलक्षण विरूद्धं यत् तत् तद्भाषायां च्युतसंस्कृतीति भावः । बालबोधिनी पृ0 268
3. श्रीकण्ठ0 14/1

इसी प्रकार 'पौष्पचापे सदसि ... पाठ अशुद्ध है । 'मीनकेतो. सदसि' उचित होगा ।[1]

एक और श्लोक में 'रमणी....चिरादबोधिं में "विवेद" ठीक होगा ।[2]

2. <u>अप्रयुक्त पद दोष :–</u>

कोश आदि में उस अर्थ में पढ़ा हुआ होने पर भी कवियों द्वारा न अपनाया हुआ शब्द प्रयोग अप्रयुक्त दोष होता है ।[3] "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य 'अप्रयुक्त पद दोष' के उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

"पर्यच्छवसन्मकरकेतुरसा निसर्गा –
दुद्यत्पयोधरभरा च तनुर्वधूनाम् ।
आसाद्य कड्.कण विशेषमहो चकार
प्रेयोजनस्य नयनद्वयमुत्पिपासम् ।।[4]

प्रस्तुत पद्य में ....तनुर्वधूनाम्" में "तनु" पद ह्स्वान्त पठित तो है, पर प्रयोग में "तनू" ही है । मड्.खक ने कई बार इसका ह्स्वान्त प्रयोग किया है ।

विकोषकंदर्पकृपाणधाम्ना व्यञ्जन्समलब्धमिवाड्.गमड्.गम् ।
जल्पाकतोत्सेकमियाय चूतसौरभ्यसभ्यो मधुपायिलोकः ।।[5]

---

1. श्रीकण्ठ0 14/67
2. श्रीकण्ठ0 8/26
3. अप्रयुक्तं तथाऽऽम्नातमपि कविभिर्नादृतम् ।
– का0 प्र0 7/50,51 वृत्ति भाग पृ0 268
4. श्रीकण्ठ0 13/43
5. श्रीकण्ठ0 6/49

यहाँ पर ... व्यञ्जन्समलब्धमिवाड़.गमड़.गम्" में "समलब्ध" पद बन सकता है । लेकिन प्रयोग मे "समालब्धम्" ही आता है । फिर भी यह "समलब्धम्" "लिप्तम्" का अर्थ नहीं दे सकता, जो कवि को अभीष्ट है ।

इसी प्रकार से ......तत्तद् युद्धवसुंधराचुल' में "युद्धवसुन्धरा" युद्ध क्षेत्र के अर्थ में किसी अन्य कवि ने प्रयोग न किया होगा । 'वसुन्धरा' वीर भोग्या अवश्य हे, पर युद्धमयी नही ।[1]

3. **असमर्थ पद दोष :-**

जो उस रूप मे अर्थात् उपसन्दानोजीवी रूप में पढ़ा गया है, परन्तु उस उपसन्दान या अन्य किसी की सहायता न होने से किसी विशेष स्थल पर उस अर्थ में उसकी शक्ति नही हैं, उसको "असमर्थ" कहते हैं ।[2]

"घटमानदन्तवलया विबभुः सुरसुभ्रुवां मृदुलबाहुलताः ।
निजकान्तिचौर्यरचनैकरूषा कृतवेष्टना इव मृणालदलैः ।।"[3]

प्रस्तुत श्लोक में 'दन्तवलय' 'मृणालदल' नहीं हो सकते । 'मृणालदल' हथकड़ियों के वाचक तो कभी हो ही नही सकते । फिर 'दल" शब्द पत्तों या पंखुड़ियों का वाचक है, न कि "नाल" का । मृणालनाल के वलय बनाये जाते हैं, दलों के नहीं मृणालनाल मृदुकण्टकयुक्त मटमैले ही होते हैं, श्वेत नहीं । हाँ "विसतन्तु" अवश्य ही श्वेत होते हैं, परन्तु उनके वलय नहीं बनाये जाते । बाहुओं का "लता" विशेषण भी

---

1. श्रीकण्ठ0 18/58
2. असमर्थ यत्तदर्थं पठयते न च तत्रास्य शक्तिः ।

   – का0 प्र0 वृत्ति 7/50,51 पृ0 268
3. श्रीकण्ठ0 13/18

अननुगुण हैं। लताए मृणालनाल के ही परिवार की हैं।

इसी प्रकार "असमर्थ पद दोष" के संक्षेप में और भी उदाहरण द्रष्टव्य हैं

(अ) ....श्रीखण्डकाण्डरस" में "काण्ड" पद खण्ड या भाग के अर्थ में प्रयुक्त है, परन्तु काण्ड और टुकड़े या अंश में बड़ा अन्तर होता है।[1]

(ब) "लतानताङ्गीषु सहेलमात्तलोलापुञ्जासितचामरासु।" में "पुञ्ज" पद "माला" अर्थ में प्रयुक्त है। जबकि उसमें इसकी शक्ति नहीं हैं।[2]

(स) चन्द्रहासपथदर्शनताम्यद्विप्रयोगभरजर्जररामे।
सेतुबन्ध इव तत्समये स क्षोगसंभ्रममवाप पयोधिः ।।[3]

प्रस्तुत पद्य में "विप्रयोग भरजर्जररामे" पद 'विरहार्तासु पान्थप्रियासु' तथा 'विरहार्तरामे' अर्थो के कहने में सर्वथा असमर्थ हैं। विशेष कर 'जर्जर' पद 'आर्त' के बोधन में। बाल-युवादि आर्त हो सकते हैं, पर जर्जर नहीं। "विप्रयोग" में "प्र" स्पष्ट ही निरर्थक और अधिक प्रयुक्त है। अतएव "वियोगभर" ही शुद्ध है। "विप्रयोग" संयोग भी हो सकता है, जो अभीष्ट नहीं है। और "चन्द्रहासपथदर्शनताम्यत्" यह वियोगिनियों के पक्ष में तो लग सकता है कि वे ज्योत्स्ना को देख देख कर ग्लपित हो रही थीं। लेकिन , सीता के विषय में यह कहना कि वह रावण के चन्द्रहास को देखकर भयभीत हो रही थी, नितान्त झूठ होगा।

---

1. श्रीकण्ठ0 11/35
2. श्रीकण्ठ0 6/47
3. श्रीकण्ठ0 11/10

4. **अनुचितार्थ पददोष :–**

अभीष्टार्थ के विरूद्ध भी किसी अनुचित अर्थ का सम्भव हो जाना ही अनुचितार्थदोष कहलाता है ।

मुखमनुसृतदीर्घमत्सरं ते सहजरूचिप्रतिवादतोऽम्बुजेषु ।
प्रभवति गिरिराजपुत्रिं सोढुं कथमपि तत्सुहृदो न पादपातम् ।।[1]

उक्त पद्य में अनुचितार्थ पद दोष है । हे गिरिराजपुत्रि ! कमलों में ईर्ष्यालु तुम्हारा मुख उस कमल के सुहृद् सूर्य के 'पादपात' को सहन नहीं कर पाता । 'पादपात' पद 'पदाघात' का भी वाचक है ।

5. **निरर्थक पद दोष :–**

श्लोक में जब केवल पादपूर्ति के प्रयोजन से 'च' 'ह' आदि पद रखे जाते हैं, तो वे निरर्थक होते हैं ।[2] आचार्यों ने इसे दोषरूप माना है । काव्य प्रकाश के टीकाकार आचार्य वामन झलकीकर के मतानुसार ये (च, ह, खलु आदि) निरर्थक पद छन्दोगत न्यूनता के परिहारमात्र के प्रयोजक होते हैं । अतएव वाक्य के अलङ्कारभूत यमकादि के स्थलों में ये दोषरूप नहीं होते हैं ।[3]

निरर्थक पद युक्त श्लोकों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं –

परिणतिमुपजग्मुषा तुषारद्युतिवपुषोदरसीम्न्यखण्डितेन ।
अनुहरसि हरेः पुरंध्रिमूर्ति पिहितहठोद्गतनाभिपुण्डरीकाय ।।[4]

---

1. श्रीकण्ठ0 7/13
2. निरर्थकं पादपूरणमात्रप्रयोजनम् चादिपदम् । का0प्र0वृत्ति 7/50,51
3. वृत्तन्यूनतापरिहारमात्रप्रयोजनकमिति यावत् । अतएव वाक्य अलङ्कार भूतं यमकादि निर्वाहकं चखल्वादिपदमदुष्टम् ।बालबोधिनी पृ0 273
4. श्रीकण्ठ0 11/16

प्रस्तुत पद्य के पूर्वार्ध में 'सीम्नि' पद निरर्थक है । 'उपजग्मुषा' में "उप" भी व्यर्थ ही है । पौनः पौन्य के अभाव में क्वसु प्रत्यय का प्रयोग भी निरर्थक है । "परिर्णतिमुपगतेन" या "परिणतिप्राप्तेन" पर्याप्त था ।

धुन्वन्परः परूषरोषतयोत्तमाड्.गं
प्रेड्.खोलकेलिमणिकुण्डलयुग्मभड्.गया ।
निन्ये निनर्तिषति वैरिकबन्धलोके
संनद्धतालपुटतामिध वक्त्रचन्द्रम् ॥[1]

उक्त पद्य में 'केलि' निरर्थक है, मणिकुण्डल ही पर्याप्त है । "प्रेड्.खोल" से चलत्" का भाव नहीं आता । "प्रचलमणिकुण्डल" शोभावह है । 'सुभट' के 'वक्त्र' में 'चन्द्र' से कोई प्रयोजन विशेष सिद्ध नहीं होता । 'वैरिकबन्धेषु' के अर्थ को "वैरिजनक–बन्धेषु' तो किसी प्रकार कहता है, परन्तु 'वैरिकबन्धलोके' नहीं । 'लोके' पद व्यर्थ है ।

"धूमच्छटाप्रविकटभ्रुकुटीपुटस्य'[2]..........में 'प्र' निरर्थक है ।

"तव वरललने वलीविभड्.गप्रतिफलनप्रविभक्तमूर्तिरिन्दुः ।[3]

उक्त पद्यांश में 'प्रविभक्त' का 'प्र' निरर्थक और 'वली' में 'त्रि' न्यून है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 18/14
2. श्रीकण्ठ0 18/18
3. श्रीकण्ठ0 11/17

6 **अवाचक पद दोष :–**

"अवाचक" वह दुष्ट पद है जो विवक्षित धर्मी से विवक्षित धर्मविशिष्ट का कहीं भी वाचक न हो ।[1] "श्रीकण्ठचरितम्" के कुछ पद्य इस दोष के संदर्भ में द्रष्टव्य है –

ऋजुतूलिकाग्रविनिर्वेशिगलद्बहलाञ्जनव्यतिकरक्रमत ।
प्रकटीविधातुमिव केलिपथं पपिरे तमांसि नयनैः सुदृशाम् ।।[2]

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्ध में 'प्रकटीविधातुमिव केलिपथ' मे 'प्रकटीविधातुं' पद निर्मातुं का अवाचक है । वैसे यह मङ्खक का बड़ा विदग्ध प्रयोग है । कवि ने इस पद को मकडी की भाँति अपने ही अन्दर से निकालकर उसी के जाले के समान, अन्धकाराच्छादित अभिसरण मार्ग बना लेने के अर्थ में प्रयोग किया है । "केलिपथम्" "अभिसरणमार्ग" का अवाचक है । ' केलि' 'रतिकेलि' का भी वाचक नही है ।

.......एक एवावसथोऽजनि श्रियः ।[3] में "आवसथ" पद 'आश्रयः' का वाचक नहीं है ।

.......'अखण्डदयिताश्लेष'[4] में 'अखण्ड' निविड का अवाचक है । इसी प्रकार "पृष्ठभ्रमत्सजवषट्पदचक्रचिन्हं"[5] में 'पृष्ठ'पद चकिया के ऊपरी चक्र का वाचक नहीं है ।

---

1. विवक्षितधर्मविशिष्टस्य विवक्षितधर्मिणः क्वापि न वाचकं यत्तदित्यर्थः । बालबोधिनी पृ0 274
2. श्रीकण्ठ0 13/26
3. श्रीकण्ठ0 3/64
4. श्रीकण्ठ0 15/42
5. श्रीकण्ठ0 6/63

7. **अप्रतीत पददोष :-**

अप्रतीत - जो केवल किसी विशेष शास्त्र में प्रसिद्ध है अर्थात् किसी विशेष शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है, उसका प्रयोग साधारण रूप में करना अप्रतीत दोष कहलाता है ।[1]

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" में अप्रतीत पददोष भी है यथा -

आवहन्ननवधिं परिवारं मण्डलं शशभृतोऽधिशयानः ।
चित्रमत्र कुसुमायुधदेवो मानिनीष्वधित संहृतिमुद्राम् ।।[2]

इस पद्य में "संहृतिमुद्रा" पीपल आदि के नीचे या श्मशानादि में विधि विधान विशेष के साथ भाव विशेष में बैठना भी अभिचारशास्त्र में ही प्रसिद्ध है ।

अकल्पयच्युततरोः स्वदेहमारात्रिकायेव मधु व्रताली । उक्त पद्याश में "आरात्रिकम्" किसी की भूतादि आधि व्याधियों को अपने ऊपर ले लेने के विचार से भरे हुए मृद्घट को लेकर रूग्ण के चारों ओर घूमते हैं , और पुनः उस घट को बाहर किसी दूर स्थान पर रख आते हैं । पद अभिचारशास्त्र में ही प्रसिद्ध है ।

8. **नेयार्थ पद दोष :-**

"नेयः रूढ़ि, प्रयोजनाभावे कविना कल्पितोऽर्थः यत्र" जहाँ रूढि और प्रयोजनरूप लक्षणा के हेतुओं के न होने पर भी कवि अपनी इच्छा से यों ही लक्षणा से शब्द का प्रयोग कर दे, वहाँ नेयार्थत्व दोष होता है । उदाहरणार्थ -

---

1. अप्रतीतं यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धम् । का0प्र0 7/50,51 वृत्ति भाग पृ0 273
2. श्रीकण्ठ0 11/3
3. श्रीकण्ठ0 6/15

शयनमपि सरोजिनीपलाशैर्मनसिजसैन्यसितेतरातपत्रैः ।
अमृतकरतनोस्तनोति तस्या घटितविधुंतुदसंततिप्रतिष्ठाम् ॥[1]

श्वेत कामकटक से भिन्न कृष्णवर्ण सरोजनी के पत्तों से बनाया गया विरहिणी या नायिका का शयन भी उसके लिए उत्पन्न राहुसन्तति को व्यक्त करता है । "तस्या अमृतकरतनोः शयनम्" में "अमृतकरतनुः" पद में सारोपा गौणी लक्षणा है । नायिका की कोमलता व्यंग्य है । इस व्यंग्यार्थ में पद्मिनीदलों का राहुसन्तति के समान दुःखद होना सहायक है । इस सहायता (हेतु) के अभाव में यह व्यंग्यार्थ असम्भव था । यही इसकी नेयार्थता है । साधारणतया चन्द्र की उपमा नायिका के मुखमात्र से दी जाती है और उसमें चन्द्र की मनोज्ञता, आहलादकता, श्वेतता, तथा वर्तुलत्व मुख्य हेतु होते हैं , कोमलता नहीं ।

9. **न्यून पदत्व दोष :–**

वाक्य में किसी आवश्यक पद का न होना न्यून पदत्वदोष होता है ।

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य में न्यून पदत्व दोष के उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं –

सा वाणी मसृणीकृता निरवधि व्युत्पत्तिशाणाश्मनि ॥[2]

"व्युत्पत्तिशाणाश्मनि मसृणीकृता इव सा वाणी" में 'इव' अध्याहार्य है । इसी पद्य में 'सा वाणी उदेति' के संवादी वाक्य या धीमतांकण्ठे .... घटिता गुणो भवति' में 'भवति' या 'जायते' न्यून है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 7/29
2. श्रीकण्ठ0 2/41

इतरा निसर्गहठगौरतनूर्मृगनाभिपड.कममुचत्कुचयोः ।
भयतश्चचाल मुहुरक्षियुगं दयितस्य गाढविनिमग्नमिव ।।[1]

प्रस्तुत श्लोक में 'अक्षियुगं न चचाल', "न" न्यून है । गाढविनिमग्नमिव के साथ 'मुहुः' अधिक है । पूर्वार्ध में 'मृगनाभिपड्.कम' लेप हेतु कहा जा चुका है अतः 'भयत' भी व्यर्थ है । 'मृगनाभिपड्.कम्' (मृगस्यनाभावुत्पन्नायाः कस्तूरिकाया लेपमड्.ग–रागम्) दीर्घ सूत्रता है । "कस्तूरिका" अध्याहार्य है ।

10. **अधिकपदत्व दोष :–**

वाक्य में अनावश्यक पद की स्थिति होना अधिकपदत्व दोष कहलाता है ।[2]

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य में अधिकपदत्व दोष के संदर्भ में कई उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

अधिमद्यमध्यमुरूपुष्पसंहतिभ्रमरावली कलकलाकुला दधे ।
हरभीतिभड्.गुरमतेर्मनोभुवो जलदुर्गगर्तगतसैन्यविभ्रमम् ।।[3]

यहाँ पर "अधिमद्यमध्यमुरूपुष्पसंहति भ्रमरावली" के स्थान में "अधिमद्य भ्रमरावली" पर्याप्त है । "अधिमद्य" के बाद "मध्यम्" नितान्त व्यर्थ है । मद्यगन्ध ही भ्रमरों को आकर्षित करने के लिए यथेष्ट है, जैसा कि स्वयं कवि ने ही कई श्लोकों में वर्णन किया है फिर मद्य के मध्य में "पुष्पसंहतिः" की क्या आवश्यकता ? चषक में कमल आदि एक दो पुष्प भी पर्याप्त हैं , "संहतिः" पुष्पों का अतिरेक है । "हरभीतिभड्.गुरमतेर्मनोभुवः" ठीक है । ....मतेर्मनो' में भी समास होकर विभक्ति का लोप होना चाहिए । "जलदुर्ग–

---

1. श्रीकण्ठ0 13/33
2. अविवक्षितार्थक पदक वाक्यम् । का0प्र0नागे0टीका 7/50,51 वृत्ति भाग
3. श्रीकण्ठ0 14/39

गर्तगतसैन्यविभ्रमम्" में "जलदुर्गगतसैन्यविभ्रमम्" उचित है इसम "गर्त" पद अधिक है भगवान् शिव ने स्वयं काम को भस्म किया था। कामकटक को नहीं। काम ने स्वय जलदुर्ग में न छिपकर स्वसेना को व्यर्थ ही छिपाया।"चषक" जलदुर्ग के समान है एवं "मदिरा" जल के समान है में अधिकोपमा तथा हीनोपमाएं भी हैं। लिङ्गभेद तो है ही। "कलकला" पद ग्राम्य है।

एक और उदाहरण संक्षेप में द्रष्टव्य है –

.....उरःशेषाहिरत्नान्तरे"[1] में "उरःशेषरत्नान्तरे" या "उरोऽहिरत्नान्तरे" होना चाहिए। "शेष" हो या "अहि" परन्तु दोनों नहीं। शिव की छाती पर "शेष" नहीं रहता। "शेष" पर विष्णु शयन करते हैं या फिर पृथ्वी शेषाधारा है। ऊहिरत्न "सर्पमणि" का वाचक "द्रविडप्राणायाम्" से हो सकेगा।

.......मदनमदद्विपकर्णतालवायुः ।"[2] यहाँ पर "मदनद्विपकर्णवायुः" ठीक है "मद" और "ताल" से अर्थ में कोई चारूत्व नहीं आता।

11. **अस्थानस्यपददोष :–**

अनुचित स्थान पर स्थित पद और समास को अस्थानस्यपददोष कहते हैं –

जायन्तेऽद्य यथायथं तु कवयस्ते तत्र संतन्वते
येऽनुप्रासकठोरचित्रयमकश्लेषादिशल्कोच्चयम् ॥[3]

---

1. श्रीकण्ठ0 5/55
2. श्रीकण्ठ0 7/21
3. श्रीकण्ठ0 2/42

यहाँ पर अनुप्रास, चित्र , यमक, और श्लष नामा के बीच में "कठोर" विशेषण का गुम्फन नहीं हो सकता , निपात का हो सकता है । अतएव "अनुप्रासदुश्चित्रयमक श्लेषा" हो या फिर "कठोरानुप्रासचित्रयमकः" पाठ किया जाय ।

द्विजाधिराजेन गवां प्रसादात्प्रतिक्षपं कारित भूमिसेक ।
पान्थप्रियाणामृतचक्रवर्ती नेत्रेष्ववग्राहमपाचकार ।।[1]

प्रस्तुत श्लोक में सभङ्गश्लेष है । वसन्त और चक्रवर्ती अभिधेय हैं । एक अर्थ है – वसन्त ऋतुचक्रवर्ती ने चन्द्र के द्वारा किरणों से भूमि को आप्लावित करवाकर प्रोषित भर्तृकाओं की आँखों में बन्द वर्षा अर्थात् अश्रुप्रवाह का दूर कर दिया , उन्हें रुला दिया । दूसरा अर्थ – चक्रवर्ती राजा ने ब्राह्मण के द्वारा गायों के दूध से भूमि को आप्लावित करवाकर वर्षा के प्रतिबन्ध को दूर कर दिया ।

यहाँ "ऋतुचक्रवर्ती" "पान्थप्रियाणां" के बाद आकर उनके उपपति का बोधक हो जाता है अतः इसे कहीं अन्यत्र होना चाहिए । "प्रतिक्षपं" दोनों अर्थों में अनावश्यक है । द्वितीय अर्थ में "गवां प्रसादात्" का अर्थ 'गायों के दूध से "नेयार्थ" है ।

12. **विरूद्धमतिकृत दोष :–**

जब किसी पद से प्रतिकूल अर्थ की प्रतीति हो तो विरूद्ध मतिकृत दोष हो जाता है ।

प्रस्तुत महाकाव्य में "विरूद्धमतिकृत दोष" प्राप्त है यथा –

---

1. श्रीकण्ठ0 6/23

विभ्राणो वपुरहिमालि लुप्ततापं प्रत्युप्तामखिलगणैर्दिवादिसाराम्
आश्चर्यं चरितमुदञ्चयन्नपूर्वां शर्वाणीदयिततमः सभामवापत् ।।[1]

प्रस्तुत श्लोक में "शर्वाणीदयिततमः" बड़ा विचित्र पद है । शर्व + आनुक +ङीप् – शर्वाणी अर्थात् शिव की पत्नी । "शर्वाणीदयिता" – काई शिव स भिन्न अत शर्वाणीदयित तमः और "अगजाभुजंगादि" आदि कई पद कवि न विरूद्ध प्रयोग किय हैं

13. **पतत्प्रकर्ष दोष :–**

अर्थ अलंकार आदि का गिरता हुआ उत्कर्ष पतत्प्रकर्ष दोष कहलाता है । यथा–

यः सान्द्रोदयरागयोगसुभगः सिन्दूरमुद्रालिपिं
प्रागध्यास्त समस्तमान्मथबृहत्कोषप्रतिष्ठातिथिः ।
जज्ञे स क्रमशो निरङ्कुशरतक्षुभ्यत्सुरप्रेयसी –
कर्णाग्रच्युतदन्तपत्रतुलनामल्लस्तमीवल्लभः ।।[2]

श्लोक के पूर्वार्ध में कवि ने चन्द्र को कामदेव के बृहत्कोष का सिन्दूरटीका बताया है । व्यङ्ग्य यह है कि 'उदयरागरंजित पूर्णचन्द्र अत्यन्त कामोद्दीपक था' । और उत्तरार्ध में उसी पूर्णचन्द्र को कवि ने सुरप्रेयसियों के रतच्युत कर्णदन्तपत्र अर्थात् हाथीदाँत के कर्णभूषण बताया है । यहाँ पूर्णचन्द्र की उत्तेजकता भी शून्य हो गई । वह मात्र श्वेताभदन्तपत्र रह गया है । तब भी वह "तुलनामल्लः" कहा गया है ।

पतत्प्रकर्ष दोष दशम् सर्ग के 55वें श्लोक में भी है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 17/5
2. श्रीकण्ठ0 10/49

14. **समाप्तपुनराप्त दोष :-**

वाक्य की अन्तिम क्रिया के बाद भी कोई नवीन विषय कहना "समाप्तपुनराप्त दोष" कहलाता है यथा -

कुर्वाणो निखिलं जगन्मुकुलितं मोहेन निद्रात्मना
ध्वान्ताडम्बरकालकूटगरलापीडोऽरूणद्यो दिश ।
त्वन्मूर्त्यन्तरमर्यमा गिलति तं पश्याष्टमूर्ते यतो
विस्रस्ता कणिका इवाधिनलिनं भृड़्गारूजन्त्यध्वगान् ।।[1]

"हे अष्टमूर्ते । देखिये तुम्हारी अष्टमूर्तियों में से एक यह सूय उस ध्वान्त कालकूट को लील रहा है कि जिस (ध्वान्त) ने निद्रामोह से जगत् का मूर्च्छित कर रक्खा था । यह उसकी छिटकी विषकणिकाएं भृंग पथिकों को दुःख दे रहे हैं ।" यहाँ 'तं ध्वान्त कालकूटं गिलति' तक "अर्गमा" की महिमा का परिचायक हैं । भँवरों का पथिकों को दुःख देना उससे कोई सम्बन्ध नही रखता ।

"ध्वान्तकालकूटोऽरूणद्योदिशः" उचित है । शेष विशेषण व्यर्थ हैं । "कणिका इव भृंगाः" में लिड़्गभेद खटकता है ।

समाप्तपुनराप्त दोष पञ्चम सर्ग के 41वें श्लोक, षष्ठ सर्ग के 46वें श्लोक, दशम् के 60वें श्लोक, षोड़श सर्ग के 31वें श्लोक में भी है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 16/23

15. **विधेयाविमर्श दोष :–**

अभिधेय का प्राधान्य से विचार न किया जाना ही "विधेयाविमर्शदोष" कहलाता है ।[1] यथा –

वृन्दारकाधिपशिरोरूहपारिजात –
स्रग्बन्धु भिर्मधुकरैरूपवीणिताङ्घ्रिः ।
देवः स्वयं जगदनुग्रहकेलिकार –
स्तं बालशीतकिरणाभरणोऽधिशेते ।।[2]

यह पञ्चम सर्ग का प्रथम श्लोक है । इसमें आए हुए "त" का अभिधेय कैलास अपने शुद्धरूप में चतुर्थ सर्ग के अन्तिम श्लोक 64 में भी विद्यमान नहीं है । बर. केवल यही एक समाधान है कि चतुर्थ सर्ग में जिस कैलास का वर्णन किया गया है वह उसके "तं" से है । इतनी दीर्घसूत्रता से "विधेयाविमर्शदोष" मानना होगा ।

पंचम सर्ग के कई श्लोकों में प्रक्रान्त शिव की अनु स्मृति करनी पड़ती है

16. **अमतपरार्थ दोष :–**

जहाँ दूसरा अर्थ प्रकृत अर्थ के विपरीत है वहाँ अमत परार्थता वाक्य दोष होता है ।

"श्रीकण्ठमचरितम्"मेंयह दोष भी प्राप्त होता है यथा –

---

1. अविमृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्रतत् । का0प्र0
2. श्रीकण्ठ0 5/1

प्रहरति हरिणाङ्कने तवेदं कुचयुगमन्तिकबिम्बित लसन्त्या ।
रूचिसहचरकोकपक्षपातादिव चलहारलताविवल्गनेन ।।[1]

इस पद्य में हारलता में प्रतिबिम्बित चन्द्रबिम्ब बृहत् कुचों की अपेक्षा बहुत छोटे छोटे होंगे । चन्द्रबिम्व हार में बिम्बित होकर कुचों को मार रहे हैं, तो कहा जा सकता है, पर "कुच बिम्बों को मार रहे हैं " नहीं कहा जा सकता । आकर टकराने वाले बिम्ब है कुच नहीं । यहाँ प्राकरणिक वाच्य श्रङ्गार का व्यङ्ग्य द्वितीय रौद्ररस विरोधी है ।

कोक – चकवा – चकई अपने रात्रि के विलगाव के लिए प्रसिद्ध हैं, और किसी विशेषता के लिए नही । चन्द्र उनके विलगाव में कारण भी नहीं है । अतः कुचों की 'रूचि' और कोक में 'सहचरता' ही क्या? पक्षपात भी क्यों? चन्द्र से कैसा प्रतिशोध ? "लसन्त्याः" पद निरर्थक है ।

अमतपरार्थ दोष अट्ठारह सर्ग के 32वें श्लोक और ग्यारह सर्ग के 9वं श्लोक में भी है ।

(स) **अर्थ दोष :–**

वाक्यादि के शुद्ध होते हुए भी जहाँ अर्थ ही अयुक्त हो वहाँ अर्थदोष होता है । आचार्य मम्मट ने 23 प्रकार के अर्थ दोष माने हैं । वह अर्थदोष "श्रीकण्ठचरितम्" में भी प्राप्त हैं ।

---

1. श्रीकण्ठ0 11/18

1. **क्लिष्ट दोष :–**

जहाँ अर्थ क्लेशगम्य हो वहाँ उक्त दोष होता है जैसे –

घनकुन्दकुड्.मलविशोषणच्छलात्तुहिनापचारचरूभाण्डयज्वना ।
तिमिरद्रुहोऽम्बुदनिचोलगोलकं महसा विहाय जगृहे कठारता ।।[1]

इस श्लोक में यजमान ने तुहिनापचार से "कृत्या" अर्थात् मारणक्रिया के द्वारा सूर्य का तेज पुनः प्राप्त कराया, यह सरल अर्थ है । तिमिरद्रोही सूर्य का राज्य अत्यन्त क्षीण हो गया था । उसके पुरोहित ने अभिचारक्रिया कृत्या का अनुष्ठान किया । उसका 'मारण' तुहिन के रूप मे था । तुहिन ने जाकर शत्रुसैन्य कुन्दो का संहार किया । शत्रु हेमन्त शक्तिहीन पड़ गया । हेमन्त शत्रु के द्वारा फेके गये अभिचारिक मेघरूपी निचोल (प्राच्छादक) गोलक को फेंककर, तब सूर्य के तेज में शनै शनै. कठोरता आई आदि कितनी क्लिष्टता है ।

श्रीकण्ठचरितम् के दशम् सर्ग के 11वें श्लोक मे भी क्लिष्टत्व दोष है ।

2. **ग्राम्यत्व दोष :–**

जहाँ पर अविदग्ध पूर्ण बात की जाय वहाँ पर ग्राम्यत्व अर्थ दोष होता है । उदाहरणार्थ –

मुखवाससौरभहृत भ्रमरप्रततेप्सितस्थिति कपोलतलम् ।
पुरूषायितेषु पटिमस्पृहया धृतकूर्चलेखमिव काप्यवहत् ।।[2]

---

1. श्रीकण्ठ0 6/71
2. श्रीकण्ठ0 13/20

इस पद्य मे मंडराने वाल भँवरो के व्याज से किसी नायिका न, बल- अर्थात् प्रवीणता दिखाने के विचार से मूँछे लगा रखी थी । अत ग्राम्यत्व दाप है ।

चौदहवे सर्ग के 52वे श्लोक मे भी ग्राम्यत्व दाप है ।

3. **सन्दिग्ध दोष :-**

जहाँ अर्थ में सन्देह विद्यमान हो वहाँ सन्दिग्ध दोष हाता है । यथा -

चन्द्रातपाभिसरणे मणिनूपुराभ्यां
पादौ परं परिचर त्वमधीरतारे ।
तन्मञ्जुशिञ्जितशतैरूपहूयमानं
यन्निह्नवाय तव केलिमरालयूथम् ।।[1]

यहाँ नूपुररव से आकर्षित होकर आगत हंसयूथ श्वेताभिसारिका के ऊपर मंडराते हैं और स्वयं ध्वनि भी करते हैं । वे स्वध्वनि से नूपुरध्वनि का या स्वश्वेतता से श्वेताभिसारिका का निह्नव करते हैं ? दोनों का निह्नव करते हैं या अनिह्नव ? सन्देह होगा कि रात्रि में इतने हंस क्यों इतने नीचे मंडरा रहे हैं ?

छठें सर्ग के 19वें श्लोक में भी सन्दिग्ध दोष प्राप्त हैं ।

4. **निर्हेतुता दोष :-**

जहाँ पर हेतु का अभाव हो वहाँ पर निर्हेतुत्व दोष होता है । "श्रीकण्ठचरितम्" में उक्त दोष प्राप्त हैं यथा -

---

1. श्रीकण्ठ0 11/37

"यस्याश्चकास्ति कटकेषु सहेलखेल -

द्विद्याधरीचरणयावकपड्.कमुद्रा ।

श्रीकण्ठनेत्रपथजानपदार्कसोम -

सेवाकृते सततसंनिहितेव संध्या ।।[1]

इसमें कैलास की कन्दरा आदि में विद्याधरी के चरणों की लाक्षा अर्थात् महावर के चिह्न बने हुए हैं । यह अलक्तक चिन्ह सन्ध्या के समान हैं , जो श्रीकण्ठ के नेत्ररूपी देश के निवासी सूर्य और चन्द्रमा की सेवा के लिए सदा वहीं बनी रहती है - क्योकि शिव सदा ही कैलास में बसते हैं और लाक्षा चिन्ह भी स्थायी हैं । दाहिनी आँख सूर्य और बायी चन्द्र हैं ।

पर्वतों में विद्याधरादि स्वाभाविक रूप से वर्णन किये जाते हैं । शिव भी सम्भावतः ही सदा कैलासवासी हैं । अतः ऐसी दशा में स्थायी (असम्भव) सन्ध्या की कल्पना और वह भी कल्पित सूर्य चन्द्र निवासियों की सेवा के लिए उपहास्यास्पद हैं । सन्ध्या सेवा भी क्या करती है ?

"निर्हेतुता दोष" दशम् सर्ग के 12वें श्लोक , ग्यारहवें सर्ग के 11वें श्लोक, तेरहवें सर्ग के 47वें श्लोक और अट्ठारहवें सर्ग के 12वें श्लोक एवं तेरहवें सर्ग के 42वें श्लोक, चौद्हवें सर्ग के 21वें श्लोक में भी प्राप्त हैं ।

5. **प्रसिद्धि विरूद्धत्व दोष :-**

काव्य प्रकाश के टीकाकार वामनझलकीकर के मतानुसार जहाँ अर्थ में प्रसिद्धि न हो, अर्थात् जब किसी ऐसे अर्थ का उपादान किया जाये, जो प्रसिद्ध न हो, तो वहाँ

---

1. श्रीकण्ठ0 4/61

प्रसिद्धि विरूद्ध दोष होता है ।[1] यह दो प्रकार का होता है –

1. लोकप्रसिद्धि विरूद्ध 2. कविप्रसिद्धिविरूद्ध दोष । यथा

इत्थं श्रृड़्.गार भड़्.गीरसमयसमयाविष्कृतेः किं रजन्या

सार्धं नीहारधाम्ना स्फुटमघटि रतौ वैपरीत्यप्रयोगः ।

तस्मिन्नस्ताद्रिकेलीशयनतलवलद्विग्रहे ह्यग्रहीत्सा

पृष्टारूढ़ा विशीर्णे तिमिरकचभरे संकुचत्तारकत्वम् ।।[2]

प्रस्तुत श्लोक में पीठ पर चढ़कर "वैपरीत्यप्रयोग" बुद्धिगम्य नहीं लगता अत लोकविरूद्ध हैं ।

छठे सर्ग के 49वें श्लोक में कविप्रसिद्धिविरूद्ध दोष है ।

6. **<u>अनवीकृत दोष :–</u>**

एक ही अर्थ को उसी पद से पुनः कहना अनवीकृत दोष कहलाता है । यथा –

"देवी स्वयं भगवती युवसु प्रसन्ना

तत्राजनिष्ट नियतं झटिति प्रसन्ना

यद्वैभवाद्दृढमपि प्रविमुच्य मानं

तान्सुभ्रुवोऽनुजगृहुर्हठचुम्बनेन ।।"[3]

प्रस्तुत पद्य के पूर्वार्ध में प्रसन्नता का भाव अनवीकृत हैं । अतः अनवीकृत दोष हुआ ।

---

1. यत्रार्थे न प्रसिद्धिः स प्रसिद्धिविरूद्धः ।" बालबोधिनीटीक, पृ0 387
2. श्रीकण्ठ0 15/50
3. श्रीकण्ठ0 14/54

7 **नियम दोष :–**

नियम विशेषों का भावाभाव प्रतिपादन करना नियम दोष कहलाता है ।

प्रस्तुत महाकाव्य में नियमदोष भी प्राप्त होते है जैसे –

अपरा परागनिकरेण घनतरहरिद्रितामबरा ।
आत्तदयितवसनव्यसनां रमणीमनुव्यधित पीतवाससः ।।[1]

न तो सब फूलों का पराग पीला ही होता है और न ही लक्ष्मी को कृष्ण का पीताम्बर पहनने का व्यसन । अतएव यहाँ पर नियम दोष विद्यमान हैं ।

उक्त दोष के उदाहरण ग्यारहवें सर्ग का 8वाँ श्लोक, और 13वें सर्ग का 12वाँ श्लोक है ।

8. **साकांक्ष दोष :–**

वाक्यार्थ का साकांक्ष होना ही उक्त दोष होता है "आकांक्षया सहवर्तते इत्यर्थं "। जैसे –

अधुनाप्यनुभूयते त्वया स्मर शापात्फलमब्जजन्मनः ।
किमयं क्रियते तदप्यहो बहुमुन्यन्तरशापसंग्रहः ।।[2]

अव्जजन्म ब्रह्मा के किस शाप का क्या फल कामदेव भोग रहा है ? आचार के विरूद्ध रति अपने पति का नाम ले रही हैं । यहाँ पर साकांक्ष दोष है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 9/4
2. श्रीकण्ठ0 12/22

9. **अश्लीलार्थता दोष :–**

जहाँ अर्थ ही अश्लील निकलता हो वहाँ पर अश्लीलार्थता दोष प्राप्त होता है यथा –

> द्वैधस्यान्तं व्यधित, बपुषोर्यस्तमन्द्रीन्द्रपुत्र्या
> साकं स्थानं कुसुमधनुषोऽनुग्रहात्यादरस्य ।
> सौन्दर्याख्यान वधिमदिरानिर्भरे यत्र नेत्रै –
> र्लेभे वृन्दारकमृगदृशां स्वैरमापानकेलिः ।।[1]

प्रस्तुत श्लोक में शिव के "अर्धनारीश्वर" स्वरूप का वर्णन है । कवि ने कुछ विशेषणों आदि के द्वारा इसे अशिष्टता की सीमा पर पहुँचा दिया है । इस पद्य का ध्वन्यार्थ स्पष्ट ही "शिव–पार्वती का सम्भोग " निकलता है, कि जिसे देवांगनाएं वेशर्मी से देख रही हैं । इसमें शिव पार्वती के कृत्य का वर्णन और दर्शन दोनो विद्यमान हैं ।

अश्लील दोष के अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत महाकाव्य में प्राप्त होते हैं – सत्रहवें सर्ग में 8वाँ श्लोक, तेइसवें सर्ग में चतुर्थ श्लोक, और पञ्चम सर्ग में पञ्चम श्लोक हैं ।

(द) **अलङ्कार दोष :–**

साम्यगर्भालङ्कारों में साम्य के दोनों पार्श्वों में गुणलिंगादि की समता आवश्यक है । व्यतिरेकादि में भी लिंगवचन साम्य अपेक्षित होता है । असम उपमानादि वर्ण्य और चर्वण को दूषित बना देते हैं । दो तीन उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

---

1. श्रीकण्ठ0 5/54

त्रैलोक्यलक्ष्मीगुरुहारदाम्नि शेषस्य भोगे तरलन्द्रनील ।
देवो दिते: संततितन्तुभेदी नेदीयसीं वो विदधातु सिद्धिम् ।।[1]

प्रस्तुत पद्य में स्वयं लक्ष्मीपति विष्णु लक्ष्मी ही क हार क "इन्द्रनीलमणि" हैं । हार है – शेष नाग । यहाँ पर हीनोपमा अलड्.कार है । अतएव अलड्.कार दोष हुआ । इसी प्रकार से उक्त दोष सप्तम् सर्ग में 21वाँ श्लोक और पन्द्रहवं सर्ग मं 42वाँ श्लोक है ।

अधिकोपमा अलड्.कार दोष पन्द्रहवें सर्ग के 7वें श्लोक में प्राप्त है ।

असमर्थोपमा अलड्.कार दोष द्वितीय सर्ग के 11वें श्लोक में हैं ।

लिड्.ग विरोध दोष द्वितीय सर्ग के 41वें श्लोक में और चौबीसवें सर्ग के 43वें श्लोक में हैं ।

सपदि रविजदिग्भुवः समीरा विषमशराजगरस्य फूत्कृतानि ।
विरहिहरिणचक्षुषां शरीरं निदधति हालहलस्य दीर्घिकासु ।।[2]

प्रस्तुत पद्य में "समीराः फूत्कृतानिदीर्घिकासु" एक दूसरे के उपमान या समान हैं । यहाँ पा "लिड्.गजातिविरोध" है ।

"वचनविरोध" चौबीसवें सर्ग के 37वें श्लोक में और "हीनरूपक" पञ्चम सर्ग के 13वें श्लोक में है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 1/30
2. श्रीकण्ठ0 7/24

(त) **रस दोष :-**

आचार्य मम्मट ने दोष सामान्य के लक्षण में मुख्यार्थ के उपघातक तत्त्व को दोष बतलाते हुए कहा है कि काव्य में "रस" ही मुख्य है - मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यः" । 'रस्यते इति रस' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिनका आस्वादन किया जाये वे भाव इत्यादि भी "रस" शब्द के अन्तर्गत आ जाते हैं । अतः रस तथा भाव इत्यादि के अपकर्षक तत्त्व रस दोष कहलाते हैं । काव्य प्रकाश में तरह रस दोषों का परिगणन किया गया है ।[1]

प्रस्तुत महाकाव्य के अन्तर्गत कुछ रस दोष इस प्रकार हैं -

1. **रस विरोध :-**

आश्रय और क्रम के विचार से कुछ रस एक दूसरे के विरोधी होते हैं । प्रबल विरोधी दूसरे रस की चर्वणा को गुणीभूत बना देता है । यथा -

दैत्योदयासवरसं श्रवणानुतर्ष -
मार्गेण ते गणगणा विनिपीतवन्तः ।
राज्यद्विलोचनकपोलतलाः स्खलद्भि -
र्वाक्यैर्विलोलवलितभ्रु विकारमूहुः ।।[2]

उक्त पद्य में युद्ध का प्रसड्.ग है । दैत्यों के अत्याचार स्थायीभाव 'उत्साह' के उद्दीपक हैं । जो आगे चलकर "युद्धवीर" में परिपुष्ट होगा । मदपान श्रृंगार की रति का पोषक है । वीर श्रृंगार का आश्रय एक ही "गण" है । वर्णित सात्त्विकभाव और अनुभाव ऐसे हैं जो वीर श्रृंगार दोनों के अड्.ग हैं । व्यड्.ग्य वीर रस है, पर श्रृंगार

---

1. का0प्र0 7/60-62
2. श्रीकण्ठ0 18/1

वाच्य की स्थिति में है, क्योंकि सभी विशेषण उसी के पोषक हैं । अतएव श्रृंगार वीर का बाधक हो रहा है ।

रस विरोध दोष" "श्रीकण्ठचरितम्" के पन्द्रहवें सर्ग के 38वे श्लोक मे, अटठारहवें सर्ग के 14वें श्लोक, 32वें श्लोक , 58वें श्लोक और चौबीसवें सर्ग के 12वें श्लोक, 27वें श्लोक में है ।

2. **स्वशब्दवाच्यत्व दोष :–**

रस सदा ध्वन्यमान ही स्वादयुक्त होता है । रस ध्वनि के लिए उपयुक्त आलम्बनो–द्दीपनादि का निबन्धन आवश्यक होता है । केवल श्रृंगार या रौद्र कह देने से या रति – क्रोध स्थायीभाव के उच्चारण मात्र से रस चर्वणा नहीं होती है । यथा –

मम वीररसो दूरमास्कन्द्य स्यन्दनग्रहम् ।
द्विषां ललाटतो मार्ष्टु भ्रमद्भ्रूभङ्.गकालिकाः ।।[1]

प्रस्तुत श्लोक में प्रधान नायक शिव का कथन है । "मेरा वीर रस रथ में बैठकर शत्रुओं की भ्रूभङ्.गकालिमा को नष्ट करे " यह कहने मात्र से उनकी ओजस्विता व्यक्त नहीं होती ।

3. **अकाण्डप्रथन दोष :–**

प्रक्रान्त प्रदीप्त या अप्रदीप्त रस के बीच ही में किसी अन्य रस के विभावादि का पूर्ण सन्निवेश ही "अकाण्डप्रथन दोष" होता है । यथा –

---

1. श्रीकण्ठ0 19/43

काचित्तत्र विमुद्रपङ्.कजमुखी सौभाग्यभाग्यावधि -
बिभ्राणं हठकष्टरक्षितनिजाकल्पैकपात्रं वपुः ।
प्रेमव्याकुलकान्तकेलिकलहप्रोन्मृज्यमानाखिल -
क्रीडामण्डनडम्बरा व्यजयतायत्नात्सपत्नीजनम् ।।[1]

"प्रसाधनवर्णन" का यह अन्तिम दो पद्यों से पूर्व का श्लोक है । इसमें प्रम व्याकुल कान्त ने एकाएक आकर केलिकलह से प्रेयसी की सारी भूषा सज्जा अस्त व्यस्त कर दी । ऐसी उस प्रेयसी ने भी यत्नपूर्वक ही स्वपत्नियों को जीत लिया । "पानकेलि" के पूर्व ही यह एकाएक भोगवर्णन कैसा ?

इसी प्रकार सप्तम सर्ग में 28 से 36 तक के नव श्लोकों का कुलक भी अकाण्ड प्रथन ही है । यह सर्ग वसन्त और "दोलाक्रीडा" वर्णन का है । शिव वसन्त की शोभा वर्णन कर रहे थे । इसी बीच वे इस कुलक में पार्वती से यह बताने लगते हैं कि "दूतियों ने जाकर उन उन विरहिणिनियों की दशा उनके प्रेमियों से कही । प्रेमी प्रेयसी की विह्वलता सुन, झट भागते हुए उनके पास पहुँच गये । यह अकाण्डकुलक और शिव के मुख से शोभा नहीं देता ।

ग्यारहवें सर्ग में 25 से 32 तक के आठ श्लोकों का "कृष्णाभिसारिकों का कुलक "चन्द्रवर्णन" के प्रसङ्.ग में शोभा नहीं देता । यद्यपि कवि ने यहाँ धारण किये गये कृष्ण वेश को दूर करने का ही उपदेश सखी से दिलवाया है ।

बारहवें सर्ग में 96 श्लोक और इक्कीसवें सर्ग में 53 श्लोक में भी "अकाण्डप्रथन दोष" है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 13/50

(थ) **छन्दोदोष :-**

विषय के अनुकूल छन्द का ग्रहण और अधिकृत छन्द के गण-मात्रादि का खण्डित होना एवं यति भड्.गादि "छन्दोदोष" के अन्तर्गत आते हैं ।

कवि ने प्रत्येक सर्ग के विषय को विभिन्न छन्दों म वर्णित किया । कोई छन्द उस विषय के अनुकूल है और कोई अननुकूल । "पुष्पिताग्रा", मालिनी, और बसन्ततिलका आदि वृत्त वीर रस के अनुकूल नहीं हैं, कवि ने उक्त वृत्तों का वीर रस में प्रयोग किया है । स्रग्धरा, हरिणी, पृथ्वी तथा शार्दूलविक्रीडित जैसे दण्डक वृत्त श्रृड्.गार के उपयुक्त नहीं हैं, फिर भी इनका प्रयोग कवि "रतिक्रीडावर्णन" [1] में किया है । "श्रीकण्ठचरितम्" के अनेकों पद्यों में यति भड्.ग विद्यमान है । एक श्लोक में स्वयं टीकाकार ने भी यति भड्.ग स्वीकार किया है ।[2]

उपर्युक्त दोष "श्रीकण्ठचरितम्" का विश्लेषण करने पर प्राप्त होते है, परन्तु यह दोष रसास्वादन में व्यवधान नहीं उपस्थित करते हैं । मड्.खक के "श्रीकण्ठचरितम्" में यह दोष लापरवाही से आ गये हैं यदि वह चाहते तो बाद में अपने गुरू रूय्यक की सहायता से काव्य का संशोधन कर सकते थे परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया । मानवोचित गुण दोषों को बनाये रक्खा ।

---

1. श्रीकण्ठ0 सर्ग 15
2. श्रीकण्ठ0 6/73

उपसंहार

उपसंहार

भगवान् शिव, उनकी मान्यता और उनका साहित्य अत्यन्त प्राचीन है । त्रिपुर– दहन का कथानक भी अत्यन्त प्राचीन एवं प्रसिद्ध रहा है । आचार्य भरतमुनि ने ही सर्वप्रथम "त्रिपुरदाह" डिम के देवों के द्वारा खेले जाने का वर्णन अपने "नाट्यशास्त्र" में किया है परन्तु अलभ्य है । वेद, ब्राह्मण और पुराणों में भी त्रिपुर वर्णन आया है परन्तु कवि को इस विषय की कोई साहित्यिक कृतियाँ उपलब्ध न थी । कवि ने सर्व प्रथम शिवपुराण के आधार पर पौराणिक "त्रिपुरासुर दहन" को साहित्यिक स्वरूप प्रदान किया है । अत्यन्त सूक्ष्म, श्लाघनीय परिवर्तन भी उपस्थित किया है । कवि ने "श्रीकण्ठ–चरितम्" के मूल कथानक और प्रबन्ध कल्पना में कोई भी उल्लेखनीय तत्त्व कहीं अन्यत्र से ग्रहण नहीं किये हैं ।

प्रस्तुत देव महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" में चरितनायक के उत्कर्षमय चित्रण, सहृदयों के आवर्जन, वसन्तादि के उत्कृष्ट वर्णन, भक्तिसूक्ति संचयन, लोकोक्तिसंग्रथन और लोकोपकार के पुनीत सन्देश, कल्पना की मौलिकता, अनूठी उक्तियाँ सूक्ष्म विशद उत्प्रेक्षाएं, सरसभाषा मसृणपदशय्या, वैदर्भी रीति, सन्तुलित अर्थगाम्भीर्य और रसों का उत्तम परिपाक जिस रूप में प्राप्त होता है , वह अन्यत्र दुर्लभ है । काश्मीर की प्रकृति सुषमा में पले बढ़े हुए मङ्खक के निसर्गोज्ज्वल देवोद्गार सर्वथा अनुपम हैं ।

"कुमारसम्भव" , "किरातार्जुनीय", और "श्रीकण्ठचरित" आदि शिवपरक ग्रन्थों पर विचार किया जाय तो "श्रीकण्ठचरित" का स्थान भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है । "कुमारसम्भव" नामक महाकाव्य में हिमालय की पुत्री पार्वती द्वारा घोर तपस्या के फलस्वरूप वर रूप में शिव को प्राप्त करने तथा उनसे कार्तिकेय की उत्पत्ति का वर्णन है । इस महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में तारकासुर से पीड़ित देवो का ब्रह्मा के पास जाना और शिव पार्वती के पुत्र स्कन्द द्वारा तारकासुर के वध का उपाय ब्रह्मा के

द्वारा बताया जाना वर्णित है । जबकि महाकवि मखक न तारकासुर क तीन पुत्रों का शिव द्वारा वध दिखाया है । कालिदास ने अष्टम् सर्ग म शिव पार्वती की रतिक्रीडा का वर्णन अश्लील ढंग से किया है । और मंखक ने नायक शिव एवं नायिका पार्वती का पवित्र दाम्पत्य जीवन प्रस्तुत किया है । वैसे "कुमारसम्भव" से महाकवि मङ्खक ने प्रेरणा अवश्य ली होगी ।

"किरातार्जुनीय" में कौरवों पर विजय प्राप्ति के लिए अर्जुन का हिमालय पर्वत पर जाकर तपस्या करने और किरात वेषधारी शिव स युद्ध तथा प्रसन्न शिव स पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति का वर्णन है । भारवि ने इस महाकाव्य में चित्रालङ्कारों का प्रयोग कर क्लिष्ट बना दिया है । जबकि मङ्खक ने चित्र महाकाव्य परम्परा से दूर हटकर वैदर्भी रीति में "श्रीकण्ठचरितम्" की रचना की । परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं हो सकता कि किरातार्जुनीय में दुरूहता एवं बोझिलता ही प्रधान है । अपितु भारवि अर्थगाम्भीर्य से परिपूर्ण, वचनों के विन्यास में पटु हैं । इनके वर्णन की शैली अतीव प्रौढ़ है । नूतनतम पदों के प्रयोग में ये सिद्धहस्त हैं । इन्हीं गुणों के कारण भारवि का महाकाव्य बृहत्त्रयी मे स्थान रखता है ।

"हरविजय" में क्रीडासक्त पार्वती ने भगवान् शङ्कर के तीनों नेत्रों को अपने हाथों से बन्द कर दिया । इससे विश्व भर में अन्धकार फैल गया । यह अन्धकार ही "अन्धक" असुर के रूप में परिणत हो गया । भगवान् शङ्कर ने उस अन्धकासुर का वध किया । तथापि इस काव्य में पाण्डित्य का बोझ इतना अधिक है कि पाठक रसास्वादन से वंचित हो जाता है । "श्रीकण्ठचरितम्" में मात्र रस सार संग्रहीत किया गया है । इसमें प्रतिभा, व्युत्पत्ति और रस के समुचित प्रयोग की न्यूनता सहृदयों को न मिलेगी । कवि की मौलिकता रसिकता के दर्शन पद पद पर होंगे । इसी लिए शिवपरक ग्रन्थों में "श्रीकण्ठचरित" का स्थान महत्त्वपूर्ण है ।

महाकवि मड्.खक ने बाणभट्ट से प्रभावित होकर "श्रीकण्ठचरितम" में स्वदेश "काश्मीर" तथा स्व–वंशादि का विस्तृत परिचय दिया है । और द्वितीय सर्ग में कवि और काव्य के स्वरूप का अनूठा चित्रण किया है । इतना ही नहीं, प्रस्तुत महाकाव्य के पच्चीसवें सर्ग का साहित्यिक एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्त्व है । इस सर्ग में महाकवि ने स्वाग्रज अलंकार "लंकक" की विद्वतसभा का जीवन्त वर्णन किया है । किस प्रकार पण्डित एवं विज्ञ सहृदयों की भरी सभा में नवागत परीक्ष्य कवि की प्रतिभा तथा आशुकवित्व की परीक्षा होती थी, इसका तत्कालीन वर्णन इसमें प्राप्त होता है । राजदूत सुहल तथा तेजकण्ठ एवं इनके गुरू रूय्यक आदि 32 विद्वानों ने किस प्रकार मड्.खक की निष्पक्ष परीक्षा ली, मड्.खक ने सभी विद्वानों को स्वकवित्व से सन्तुष्ट किया । मड्.खक के गुरू रूय्यक ने इनकी भूरि भूरि प्रशंसा की ।

मड्.खक ने कालिदास , भारवि , माघ और काव्यप्रकाश आदि का अच्छा अध्ययन किया था । अतः इनके कुछ श्लोकों पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव परिलक्षित होना स्वाभाविक है --

तान्संगच्छति भारती भगवती विस्रम्भतः क्रीडया --
नुध्यातैव झगित्यसावपि हठानभ्यासदूरीकृता ।
तसद्यत्नशतप्रसादितवचोदेवीप्रसादीकृतं
स्वच्छं संगमनीयरत्नमिव ये शत्तज्युद्भुतं विभ्रति ।।[1]

अपने पाण्डित्य हठ के कारण जिन्होंने स्व–व्युत्पत्ति बढ़ाने के लिए गम्भीर अध्ययन नहीं किया है । और पढ़कर अनभ्यासवश जिसे विस्मृतप्राय बना रखा है उन

---

1. श्रीकण्ठ0 2/58

ऐसे भी कवित्वप्रतिभाशाली व्यक्तियों के पास अनायास ही शतशः नवनवोन्मेषशालि प्रेम ही उठ आती है जैसे कि "संगमनीयमणि" के धारणकर्ता के पास उसका प्रिय आ जाता है ।

प्रस्तुत श्लोक पर महाकवि कालिदास के "विक्रमोर्वशीय " के श्लोक का प्रभाव परिलक्षित होता है –

संगमनीय इतिमणिः शैलसुताचरणरागयोनिरयम् ।
आवहतिधार्यमाणः संगममचिरात्प्रियजनेन ।।[1]

इसमें "संगमनीय मणि" का लक्षण मात्र बताया गया है , परन्तु मड़.खक ने उस लक्षण का सुन्दर साहित्यिक प्रयोग उपस्थित किया है ।

"श्रीकण्ठचरितम्" में वसन्तवर्णन के अन्तर्गत कर्णिकार (अमलतास) क एक साधारण से रेखाचित्र ने महाकवि मड़.खक को "कर्णिकार मड़.खक" बना दिया । श्लाक इस प्रकार है –

विवृण्वता सौरभरोरदोषं बन्दिव्रतं वर्णगुणैःस्पृशन्त्याः ।
विकस्वरे कस्य न कर्णिकारे घ्राणेन दृष्टेर्ववृधे विवादः ।।[2]

प्रस्तुत श्लोक पर सहृदयों का ध्यान महाकवि कालिदास के कारण गया । उन्होंने भी वसन्त में कर्णिकार को देखा था, और निकट से देखा था । तभी ता कालिदास का चित्तगन्ध के अभाव में खिन्न हो सीधे विधाता को कोसने लगा था –

---

1. विक्रमो0 4/36
2. श्रीकण्ठ0 6/13

वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकार दुनोति निर्गन्धतयास्म चत ।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्.मुखीविश्वसृजाप्रवृत्ति ।।[1]

कवि मङ्.खक ने ब्रह्मा को न तो कोसा ही और न ही कर्णिकार की सहज निर्गन्धता से खिन्न ही हुए, प्रत्युत घ्राण और दृष्टि में विवाद का बढ़ना भी नितान्त स्वाभाविक है स्त्री– प्रकृति निःसर्गतः ही वितण्डावादिनी होती है । इस प्रकार क वर्णन ने सहृदय पाठक को अपनी ओर आकर्षित किया और मङ्.खक को "कर्णिकार मङ्.खक" की उपाधि द दी

मङ्.खक ने काव्य दोष का जो विवेचन किया है वह श्लोक इस प्रकार है –

सूक्तौ शुचावेव परे कवीनां सद्यः प्रमादस्खलितं लभन्ते ।
अधौतवस्त्रे चतुरं कथं वा विभाव्यते कज्जलबिन्दुपातः ।।[2]

प्रस्तुत श्लोक पर कालिदास के "कुमारसम्भव" का प्रभाव पड़ा है ।[3]

महाकवि मङ्.खक ने "श्रीकण्ठचरितम्" में अष्टमूर्ति शिव का वर्णन कई स्थलों में किया है ।[4] जबकि कालिदास ने "अभिज्ञानशाकुन्तल" की नन्दी में मात्र एक जगह किया है ।[5]

मङ्.खक के प्रस्तुत श्लोक पर कादम्बरी का प्रभाव परिलक्षित होता है । मङ्.खक का श्लोक –

सदवृत्तविश्रान्तिमतीनजातुकृच्छ्रेऽपि पात्रं परूषाक्षरणाम् ।
सत्पुण्यभाजः सततानुवृत्ताकस्याप्यहोसद्गृहिणीववाणी ।।[6]

---

1. कुमार0 2/28
2. श्रीकण्ठ0 2/9
3. कुमार0 1/3
4. श्रीकण्ठ0 5/43–45, 8/3, 17/32,
5. श्रीकण्ठ0 2/13
6. अभिज्ञान0 1/1

किसी ही पुण्यशाली की कविताकामिनी उस सद्गृहिणी के समान होती है जो शुद्ध , सौम्य और सततानुवृत्ता हो । इस श्लोक पर महाकवि बाणभट्ट के निम्न श्लोक की छाया है --

स्फुरत्कलालापविलासकोमला
करोति रागं हृदि कौतुकाभिधम् ।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता
कथा जनस्याभिनवावधूरिव ।।[1]

दोनों श्लोकों में काव्यसौन्दर्य समान है पर "अभिनववधू" थोड़ी चंचल होती है और "सद्गृहिणी" मसृण उदारता लिए हुए होती है ।

महाकवि मड़्खक पर माघ का भी प्रभाव पड़ा । मड़्खक का प्रस्तुत श्लोक इस प्रकार है –

पाशैर्वद्धशिरोधराः फणिमयैरूत्खातनाकिद्रुम --
स्कन्धालानतलेषुदानसलिलावग्राहिणोदिगद्विपाः ।
नीतास्तैरजिरेषुयामगजतां स्रस्तैऽपि विश्वम्भरा –
भारै कीडनिपीडनेन दधते दूरावनम्रं शिरः ।।[2]

प्रस्तुत पद्य पर महाकवि माघ के निम्नश्लोक की छाया है –

"परेतभर्तुर्महिषोऽमुनाधनुर्विधातुमुत्खातविषाणमण्डलः ।
हृतेऽपिभारे महतस्त्रपाभरादुवाहदुःखेनभृशानतं शिरः ।।[3]

माघ में यमराज का वाहन भैसा लज्जावनत है और मड़्खक ने दिग्गजों को अवनत शिर दिखाया है । माघ के वक्ता नारद है, और मड़्खक के नारद के पिता ब्रह्मा जी । इन दोनों श्लोकों के तुलनात्मक सौन्दर्य में नारद ब्रह्मा और भैसा हाथी का ही समानुपात मिलेगा ।

---

1. कादम्बरी – अष्टम श्लोक
2. श्रीकण्ठ0 17/65
3. शिशु0 1/57

इसी प्रकार मड़्खक के बाइसवे सर्ग के 23वें श्लोक पर गीता के "हतो व प्राप्यस स्वर्गं जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम् "[1] की छाप है । मड़्खक के पञ्चम सर्ग के 23वें श्लोक पर काव्यप्रकाश के श्लोक 340 का प्रभाव है । काव्यप्रकाश का वह श्लोक "अमरूशतक" से संगृहीत है ।

वसन्त, चन्द्रोदय, चन्द्र, प्रसाधन तथा पानकेलि आदि का वर्णन कवि ने सर्वथा परम्परा प्राप्त ही किया है । केवल कुछ नवीन उद्‌भावनाएं यत्र--तत्र गोचर होती है । त्रिपुरारि का चरित्र भी एक लौकिक महाराजाधिराज के वृत्त पर आधारित है । देव गणों और उनकी अर्धाड़्गनियों की पानकेलि आदि साधारण कामुकों के समान वर्णन करके कवि ने स्वकाव्य को दूषित बना लिया है । दोलाक्रीडा, शिवप्रभाती, त्रिपुरभस्म का वर्णन और वीरों की रणसज्जा का द्विधाफलकथन का कवि ने अनूठा चित्रण किया है । मड़्खक ने आचार्य वामन के विपरीत कवि के प्रकार सतृणाभ्यवहारी और अरोचकी का वर्णन किया है ।

सूक्तिसंग्रहकारों ने रत्नकोषों में "श्रीकण्ठचरितम्" के रत्नों को स्थान भी दिया सूक्तिकार बल्लभदेव ने अपनी "सुभाषितावलि" में "श्रीकण्ठचरितम्" के 33 श्लोक विभिन्न प्रकरणों में सग्रहीत किये हैं --

श्रीकण्ठचरितम् – श्लोक सं0	सुभाषितावलि श्लोक सं0
2/5	27/1609
2/27	27/170
2/1	27/171
2/2	27/172

---

1. भगवद्‌गीता 2/37

श्रीकण्ठचरितम् -- श्लोक सं0	सुभाषितावलि – श्लोक सं0
2/12	27/173
2/14	27/174
2/19	27/175
2/30	27/176
2/34	27/177
2/42	27/178
2/51	27/179
11/52	187/1119
11/53	187/1120
11/54	187/1121
11/56	187/1122
11/57	187/1123
11/58	187/1124
11/59	187/1125
11/60	187/1126
11/61	187/1127
11/87	247/1444
12/88	247/1445
12/89	247/1446
12/90	247/1447
12/92	247/1448
6/51	281/1659
6/13	281/1660
6/8	281/1661
6/9	281/1662

श्रीकण्ठचरितम – श्लोक सं0	सुभाषितावलि – श्लोक सं0
6/65	281/1663
10/19	329/1930
14/20	347/2023
25/126	429/2512

श्रीभगदत्त जल्हण दक्षिण भारत के राजा कृष्ण के मन्त्री थे । इनका समय 13वीं शताब्दी है । जल्हण ने अपनी "सूक्तिमुक्तावली" में मड्.खक के नाम से दो श्लोक
प्रथम सर्ग का प्रथम श्लोक
रत्नों का संग्रह किया है । उनमें से/प्रथम श्लोक और द्वितीय सर्ग का नवम श्लोक प्राप्त होता है । इन दोनों श्लोकों से सिद्ध होता है कि "श्रीकण्ठचरितम्" कश्मीर में ही नहीं दक्षिणभारत में भी आदर की दृष्टि से देखा जाता था ।

अतः महाकवि मड्.खक रूय्यक जैसे गुरू की छत्रछाया में अपने कठोर काव्याभ्यास द्वारा अपनी भक्ति भावना के निवेदन के लिए स्वान्तः सुखाय "श्रीकण्ठचरितम्" का प्रणयन किया था । यही कारण था कि उनकी काव्य प्रतिभा ने तत्कालीन पण्डित मण्डली में अनायास ही सम्मान प्राप्त कर लिया । उनका "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है ।

सहायक ग्रन्थ सूची

सहायक ग्रन्थ सूची

1. अनेकार्थसंग्रह – हेमचन्द्र
2. अभिज्ञानशाकुन्तल – कालिदास, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी
3. अभिधानरत्नमाला –हलायुध, संस्कृत–अंग्रेजी ग्लोजरी दि आफ्रेक्ट
4. अग्निपुराण (महर्षि व्यास) अनु0 तारिणीश झा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1986
5. अभिनवभारती (अभिनवगुप्त) अनु0 डॉ0 रविशङ्कर नागर, परिमलपब्लिकशन्स दिल्ली
6. अलङ्कारशास्त्र का इतिहास (डॉ0 कृष्ण कुमार), साहित्य भण्डार मेरठ, 1988
7. अलङ्कारसर्वस्व (रूय्यक) व्या0 डॉ0 रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी 1979 एवं समुद्रबन्ध टीका त्रिवेन्द्रम संस्करण
8. अलङ्काररत्नाकर – शोभाकर मित्र
9. अलङ्कार शास्त्र की परम्परा – डॉ0 राजवंश सहाय "हीरा", चौखम्बा राष्ट्रमाला ग्रन्थमाला
10. औचित्यविचार चर्चा– क्षेमेन्द्र, व्या0 श्री ब्रजमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1982
11. ऐतरेय ब्राह्मण, त्रिवेन्द्रम संस्करण 1942
12. काठक संहिता – सम्पादक पं0 श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, प्रकाशक – स्वाध्याय मण्डल, पारडी नगर, वलसाड प्र0, गुजरात प्रदेश 1983
13. कादम्बरी – बाणभट्ट, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी
14. काव्य प्रकाश –मम्मट, व्या0 आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी 1960
15. काव्य प्रकाश – बालबोधिनी टीका (वामन झलकीकर) भण्डारकर इन्स्टीट्यूट – भण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर 1965

16. काव्यमीमांसा – राजशेखर, व्या0 डॉ0 गड्.गासागर राय, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी

17. काव्यादर्श – दण्डी, व्या0 श्री रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी, 1984

18. काव्यानुशासन – हेमचन्द्र, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास प्रकाशन 1986

19. काव्यालड्.कार – भामह, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण 1928

20. काव्यालड्.कार – रूद्रट, व्या0 श्री रामदेव शुक्ल, चौ0 विद्याभवन वाराणसी 1966

21. काव्यालड्.कार सारसंग्रह – उद्भट

22. काव्यालड्.कार सूत्र – वामन्, अनु0 डॉ0 बेचन झा, चौ0 संस्कृत संस्थान वाराणसी 1976

23. किरातार्जुनीयम् – भारवि, व्या0 मल्लिनाथ, अनु0 आदित्य नारायण पाण्डेय, चौ0 संस्कृत संस्थान वाराणसी 1980

24. कुमारसम्भवम् – कालिदास, व्या0 प्रद्युम्न पाण्डेय, चौ0 विद्या भवन वाराणसी

25. छन्दोमञ्जरी

26. तैत्तिरीयसंहिता – गवर्नमेण्ट ओरियन्टल लाइब्रेरी मैसूर

27. दशरूपक – धनञ्जय, व्या0 श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार मेरठ 1979

28. ध्वन्यालोक – आनन्दवर्द्धन, व्या0 आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी 1985

29. नाट्यदर्पण – रामचन्द्र गुण चन्द्र

30. नाट्यशास्त्र – भरतमुनि, व्या0 श्रीबाबूलाल शुक्ल, चौ0 संस्कृत संस्थान वाराणसी 1983

31. भावप्रकाशन – शारदातनय, अनु0 डॉ0 मदनमोहन अग्रवाल, चौ0 सुरभारती प्रकाशन 1983

32. महाभारत – व्यास, गीताप्रेस गोरखपुर, 1987 तथा सं0 डा0 पं0 श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल पारडी

33. मत्स्य पुराण

34. राजतरंगिणी – कल्हण, व्या0 डा0 रघुनाथ सिंह, हिन्दी प्रचारक संस्थान, पिशाचमोचन, वाराणसी

35. राजतरंगिणी द्वितीय – राजानक जोनराज, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी

36. लिङ्गपुराण – जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास वाराणसी

37. विक्रमोर्वशीयम् – कालिदास, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी

38. वक्रोक्तिजीवित – कुन्तक, व्या0 श्री राधेश्याम मिश्र, चौ0 संस्कृत संस्थान वाराणसी 1982

39. वृत्त रत्नाकर – भट्टकेदार, व्या0 श्री धरानन्द शास्त्री मोतीलाल बनारसीदास 1982

40. रसगङ्गाधर – पं0 राज जगन्नाथ, व्या0 श्री धरानन्द शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास 1977

41. शिवपुराण – गीता प्रेस गोरखपुर

42. शतपथ ब्राह्मण – रत्नदीपिका टीकोपेतं, चौ0 संस्कृत संस्थान वाराणसी

43. शिशुपालवध – माघ टीका0 पं0 हरगोविन्द शास्त्री, चौ0 विद्याभवन वाराणसी 1984

44. शब्दकल्पद्रुम – मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन 1961 ई0

45. शिवलीलार्णव – नीलकण्ठदीक्षित, सं0 टी0 गणपति शास्त्री अनन्तशयन सस्करणम्

46. शुक्ल यजुर्वेद – सं0 जगदीश लाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी

47. श्रीमद्‌भागवत – व्यास, गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर 1983

48. श्रीकण्ठचरितम् – महाकवि मङ्खक , टी0 राजानक जोनराज, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी

49. साहित्य मीमांसा – सं0 डॉ0 गौरीनाथ शास्त्री, सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि0 वि0 प्रकाशन

50. संस्कृतसाहित्यविमर्श – पं0 द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री, भारती प्रतिष्ठान 31 आनन्दपुरी, मेरठ नगरी उ0प्र0

51. सरस्वतीकण्ठाभरण – भोजराज, चौखम्बा ओरियन्टालिया पो0 बा0 न0 1032 वाराणसी 1987

52. सरस्वतीकण्ठाभरण – भोजकृत एवं काव्यानुशासन – हेमचन्द्रकृत का तुलनात्मक अध्ययन – डा0 प्रमिला त्रिपाठी परिमल पब्लिकेशन्स, 27/28, शक्ति नगर दिल्ली 110 007

53. साहित्य दर्पण – विश्वनाथ, व्या0 शालग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी

54. संस्कृत साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय, कपिलदेव द्विवेदी, डा0 गैरोला, हंसराज, वरदराजाचार्य

55. सुभाषितावली – वल्लभदेव

56. सुवृत्त तिलक क्षेमेन्द्र

57. संस्कृत हिन्दी कोश – वामन शिवराम आप्टे , मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी

58. सौन्दरनन्द – अश्वघोष , व्या0 सूर्य नारायण चौधरी, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी

59. स्कन्दपुराण

60. हर विजय – म0 रत्नाकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी

61. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु – रूप गोस्वामी, अच्युत ग्रन्थमाला

62. हर्षचरित – बाणभट्ट, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी

63. A study of Shrikanthacharitam - B.N.Bhatt, Motilal Banarsidass Chowk Varanasi 221 001

64. A Chronicle of the Kings of Kashmir Dr. M.A.Stein Motilal Banarsidass Varanasi

65. Cultural Heritage of Kashmir - Suresh Chandra Banerji, Sanskrit Pushtak Bhandar 38, Bidhan Sarani Calcutta 700 006

66. Early History and culture of Kashmir - Dr. Sunil Chandra Ray, with A foreword by Sardar K.M.Panikkar

67. Kashmir Report 1877 - Dr. Buhler

68. Trivendrum Sanskrit series No. XL, The Alankarasutra of Rajanka Shri Ruyyaka with the Vritti, Alankarasarvasva of Shri Mankhuka and With commentary by Samudrabandha, Trivandrum, Printed at the Trarancore Government Press, 1915

69. Survey of Sanskrit Literature C. Kunhan raj, Library of Sager University, Printed

70. History of Classical Sanskrit Literature - M. Krishnamachari, Motilal Banarsidas 1989

71. History of Indian Literature - M. Winternits Motilal Banarsidass Varanasi

72. History of Sanskrit Poetics - M.M.P.V. Kane, Motilal Banarsidas Varanasi

73. History of Sanskrit Poetics - Sushil Kumar De, Published by Firmaklm Private Limited Calcutta 1976

74. History and Culture of Indian People - Dr. Ramesh Chandra Majumdar.

75. Kashmir Contribution to Sanskrit - Dr. P.M.Pusp

76. History of Sanskrit Literature Dr. Keth